# महावीर पुराण

## अनुक्रमणिका

**प्रथम-अधिकार**
01) प्रथम-अधिकार

**दूसरा-अधिकार**
02) दूसरा-अधिकार

**तीसरा-अधिकार**
03) तीसरा-अधिकार

**चौथा-अधिकार**
04) चौथा-अधिकार

**पाँचवाँ-अधिकार**
05) पाँचवाँ-अधिकार

**छठा-अधिकार**
06) छठा-अधिकार

**सातवाँ-अधिकार**
07) सातवाँ-अधिकार

**आठवाँ-अधिकार**
08) आठवाँ-अधिकार

**नवां-अधिकार**
09) नवां-अधिकार

**दसवां-अधिकार**
10) दसवां-अधिकार

**ग्यारहवाँ-अधिकार**
11) ग्यारहवाँ-अधिकार

**बारहवाँ-अधिकार**
12) बारहवाँ-अधिकार

**तेरहवाँ-अधिकार**
13) तेरहवाँ-अधिकार

**चौदहवाँ-अधिकार**
14) चौदहवाँ-अधिकार

**पंद्रहवाँ-अधिकार**
15) पंद्रहवाँ-अधिकार

**सोलहवां-अधिकार**
16) सोलहवां-अधिकार

**सत्रहवाँ-अधिकार**
17) सत्रहवाँ-अधिकार

**अठारहवाँ-अधिकार**
18) अठारहवाँ-अधिकार

**उन्नीसवाँ-अधिकार**
19) उन्नीसवाँ-अधिकार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्री-सकलकीर्ति-भट्टारक प्रणीत
श्री
महावीर-पुराण
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-महावीर-पुराण नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तार: श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तार: श्री-गणधर-देवा: प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य श्री-सकलकीर्ति-भट्टारक विरचितं ॥
॥ श्रोतार: सावधान-तया श्रृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

## प्रथम-अधिकार

मंगलाचरण
कथा :
समस्त विश्व के नाथ, अनन्त गुणों के सागर और धर्मचक्र के धारक ऐसे जिनराज श्री वीरस्वामी के लिए मैं मस्तक झकाकर नमस्कार करता हूँ ॥1॥
जिस प्रभु के अवतार लेने के पूर्व ही माता-पिता के महल में छह और नौ **अर्थ**ात् गर्भ में आने के पहले छह मास और गर्भकाल के नौ मास इस प्रकार पन्द्रह मास तक कुबेर ने रत्न आदि की वर्षा की ॥2॥
जन्ममहोत्सव के समय सुमेरुपर्वत पर जिन के अतिशय सुन्दर रूप को देखकर विस्मित हुए इन्द्र ने तृप्ति को नहीं पाकर अपने एक हजार नेत्र बनाये ॥3॥
जिन्होंने निरन्तर वर्धमान लक्ष्मी से, तीन जगत् में वर्धमान कीर्ति से और अपने वधमान गुणों से 'वर्धमान' यह सार्थक नाम इन्द्रों से प्राप्त किया। जो बाल-काल में ही संसार की सारभूत राज्यलक्ष्मी को जीर्ण तृणादि के समान छोड़कर और इन्द्रिय तथा कामरूपी शत्रुओं का विनाश कर तपश्चरण के लिए तपोवन को चले गये । जिन को अन्नदान देने के माहात्म्य से चन्दना नाम की राजपुत्री बन्धन-रहित होकर और पंचाश्चर्य प्राप्त कर तीन लोक में प्रसिद्ध हुई। जिन्होंने रुद्रकृत अनेक घोर उपसर्गों को जीतकर उसी के द्वारा 'महति-महावीर' नाम को प्राप्त किया। जिस महावीर्यशाली ने ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मों को शुक्लध्यानरूपी खड्ग से बहुत शीघ्र जीतकर मनुष्य और देवों से पूजित केवलज्ञान प्राप्त किया। जिन्होंने स्वर्ग और मुक्ति लक्ष्मी के सुखों को देनेवाला धर्म प्रकाशित किया, जो आज भी श्रावक और मुनिधर्म के रूप में दो प्रकार का प्रवर्त रहा है और आगे भी युग के अन्त तक स्थिर रहेगा। कर्मों के जीतने से जिन्होंने 'वीर' नाम प्राप्त

किया, उपसर्गों को जीतने से जिन्होंने 'महावीर' नाम पाया और धर्मोपदेश देने से जिन्होंने 'सन्मति' नाम प्राप्त किया । इनको आदि लेकर परम अतिशयशाली समस्त अनन्त गुणों से जो परिपूर्ण हैं, ऐसे श्री वीरप्रभु की मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए अति प्रमोद से स्तुति करता हूँ ॥4-10॥

धर्मचक्र से अंकित, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, वृषभ(बैल) चिह्नवाले और धर्मात्माजनों को धर्म के दातार ऐसे श्री वृषभस्वामी को धर्म की प्राप्ति के लिए मैं वन्दना करता हूँ ॥11॥

जो अकेले होनेपर भी मोह, काम और इन्द्रिय आदि शत्रु-समुदाय से और अनेकों परीषहों से सम्मिलित होनेपर भी नहीं जीते जा सके, ऐसे श्री अजितनाथ की मैं हर्ष से स्तुति करता हूँ ॥12॥

जो तीन जगत् के भव्य जीवों के संसार के हरण करनेवाले हैं और सर्वसुखों के करनेवाले हैं, ऐसे सम्भवनाथ की मैं उन जैसी गति की प्राप्ति के लिए निरन्तर पूजा करता हूँ ॥13॥

जो ज्ञानानन्दमय हैं, अपनी दिव्य वाणी से सज्जनों को आनन्द करनेवाले हैं, ऐसे अभिनन्दन प्रभु की मैं आत्मोत्पन्न आनन्द की प्राप्ति के लिए सदा स्तुति करता हूँ ॥14॥

जो भव्य जीवों को सन्मति के देनेवाले हैं और देवों के भी देव हैं, ऐसे सुमति देव को मैं निर्मल सन्मति की सिद्धि के लिए मस्तक से नमस्कार करता हूँ ॥15॥

जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और प्रातिहार्यादिरूप बहिरंगलक्ष्मी से अलंकृत हैं, जगत् के प्राणियों को सर्व प्रकार की लक्ष्मी के देनेवाले हैं और पद्म के समान कान्ति के धारक हैं, ऐसे पद्मप्रभ स्वामी को मैं उन की लक्ष्मी के पाने के लिए नमस्कार करता हूँ ॥16॥

जो सुबुद्धि के धारकजनों को अपना सामीप्य देनेवाले हैं, सर्वकर्म रहित हैं, अनन्त सुखी और अनन्त गुणशाली हैं, ऐसे सुपार्श्वनाथ के लिए नमस्कार है ॥17॥

जो धर्मरूप अमृत-बिन्दुओं से जगत् को आनन्दित करते हैं और अपनी ज्ञान-किरणों से जगत् के अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं, ऐसे चन्द्रप्रभ स्वामी का मैं आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए स्तवन करता हूँ ॥18॥

जो कर्मों के हन्ता हैं और भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की विधि के उपदेष्टा हैं, ऐसे सुविधिनाथ की मैं स्वर्ग-मुक्ति के सुख आदि की प्राप्ति के लिए तथा कर्मों के विनाश के लिए सहर्ष पूजा करता हूँ ॥19॥

जो अपनी दिव्यध्वनिरूप अमृतपूर के द्वारा भव्य जीवों के पाप-आताप के विनाशक हैं, ऐसे शीतलनाथ को मैं अपने पाप-सन्ताप के दूर करने के लिए नमस्कार करता हूँ ॥20॥

जो तीन जगत् के सज्जनवृन्द को कल्याण के दाता हैं, कर्म-शत्रुओं के विजेता हैं और समस्त श्रेयों से संयुक्त हैं, ऐसे श्रेयान्स जिन को मेरा श्रेयःप्राप्ति के लिए नमस्कार हो ॥21॥

जो तीन जगत् के नाथ इन्द्रादिकों के द्वारा पूजित होनेपर भी कभी हर्षित नहीं होते और निन्दा किये जानेपर भी कभी जरा-सा भी द्वेष मन में नहीं लाते हैं ऐसे वासुपूज्य स्वामी का मैं आश्रय लेता हूँ ॥22॥

जिन के निर्मल वचन योगियों के अनादिकालीन कर्म-मल का नाश करते हैं वे निर्मलात्मा विमलनाथ मेरे द्वारा स्तुत होकर मेरे पापमल का नाश करें ॥23॥

जिस के अनन्त गुण समस्त लोक को पूरकर अहो देवेन्द्रों के हृदयों में संचरित हो रहे हैं ऐसे वन्द्य अनन्त देव हमें अपने गुणों को देवें ॥24॥

जिन के द्वारा प्ररूपित मुनि-श्रावकरूप दोनों प्रकार का धर्म सुज्ञानी जनों को स्वर्ग-मुक्ति के सुख का देनेवाला है, वे धर्मचक्र के स्वामी धर्मनाथ मेरे धर्म की प्राप्ति के लिए हों ॥25॥

जिन की वाणी से जीवों के असंख्य दुष्कर्मरूप शत्र और कषाय-इन्द्रियादिरूप उपद्रव शान्त हो जाते हैं, ऐसे शान्तिनाथ की मैं शान्ति-प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥26॥

जिन की दिव्य ध्वनि के द्वारा इस लोक में कुन्थु आदि छोटे-छोटे जन्तुओं की भी रक्षा सम्भव हुई, जो उन क्षुद्र प्राणियोंपर सदा सदय हैं, ऐसे कुन्थुकृपापरायण कुन्थुनाथ की मैं वन्दना करता हूँ ॥27॥

जिन के वचनरूप शस्त्राघात से दुर्धरकर्मरूप शत्रु अपनी इन्द्रियरूपी सेना के साथ नष्ट हो जाते हैं, ऐसे अरनाथ मेरे अरियों के नाश के लिए सहायक हों ॥28॥

कर्मरूप मल्लों के विजेता, शरणार्थियों के त्राता और मोहशत्रु के भेत्ता मल्लिनाथ की मैं उन की शक्तिप्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥ 29॥

जो मुनि आदि चतुर्विध संघ के लिए निरन्तर व्रत आदि देते हैं, उन व्रत-परिपूर्ण मुनि सुव्रतनाथ को मैं सद्व्रतों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ ॥30॥

जिन्होंने शत्रुओं को नमाया है, जो तीन जगत् के नाथों से वन्दित हैं और कर्मशत्रुओं की सन्तान के विनाशक हैं ऐसे नमीश्वर की मैं उन के गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥31॥

जिन्होंने मोहकर्म और इन्द्रिय-शत्रुओं के मुख का शीघ्र भंजन कर बाल-काल में ही दीक्षा ग्रहण की, ऐसे अद्भुत नेमिनाथ की मैं संयम की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥32॥

जिन से महामन्त्र पाकर नाग और नागिनी उसके फल से धरणेन्द्र और पद्मावती हुए, उन पाश्र्वनाथ की में अहर्निश स्तुति करता हूँ ॥33॥

जो कर्मों के जीतने में वीर हैं, धर्म का उपदेश देने में सन्मतिवाले हैं और उपसर्गरूप अग्नि-पात में भी महावीर हैं, ऐसे.श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ ॥34॥

इस भरत क्षेत्र में ये चौबीस तीर्थकर तीर्थ-प्रवर्तन से प्रख्यात हैं, अतः शास्त्रारम्भ में सम्यक् प्रकार से मेरे द्वारा स्तुति किये गये ये सभी तीर्थंकर मेरे समस्त सत्कार्य की सिद्धि के लिए सहायक होवें ॥35॥

अतीत काल में जितने अनन्त तीर्थ कर हो गये हैं और वर्तमान काल में श्रीसीमन्धर स्वामी को आदि लेकर अढ़ाई द्वीप में जितने तीर्थंकर विद्यमान हैं, जो तीन जगत् के देवसमूह से पूजित हैं और धर्म साम्राज्य के नायक हैं, उन सब की में इस ग्रन्थ के आदि में स्तुति और वन्दना करता हूँ। वे मेरे विघ्नों के दूर करनेवाले होवें ॥36-37॥

जो तीन लोक के शिखरपर निवास करते हैं, कर्मरूप शरीर से रहित हैं, ज्ञानरूप शरीर के धारक हैं, उत्तम अष्ट सद्गुणों से संयुक्त हैं, अमृत हैं, मुमुक्षुजनों के द्वारा निरन्तर मन से ध्यान किये जाते हैं और सुख के भण्डार हैं, ऐसे उन समस्त अनन्त सिद्ध भगवन्तों को उन के गुणों की प्राप्ति के लिए और सिद्धि के लिए मैं स्मरण करता हूँ ॥38-39॥

चार ज्ञान के धारक, सात ऋद्धियों से विभूषित, परम कवीन्द्र वृषभसेन आदि समस्त गणधरों की मैं वन्दना करता हूँ ॥40॥

भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष चले जानेपर श्री गौतम, सुधर्मा और अन्तिम जम्बूस्वामी ये तीन केवली यहाँपर वासठ वर्ष तक धर्म का प्रवर्तन करते रहे, अतः उन के गुणों का इच्छुक मैं उन के चरण-कमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ ॥41-42॥

नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु स्वामी ये पाँच मुनीश्वर सर्व अंग और पूर्वो के वेत्ता एवं तीन जगत् के हितकर्ता सौ वर्षों के अन्तरकाल में हुए, मैं ज्ञान प्राप्ति के लिए उन के चरणों की स्तुति करता हूँ ॥43-44॥

इन के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, जिनसेन, विजय, बुद्धिल, गंग और सुधर्म ये ग्यारह मुनिपुंगव एक सौ तेरासी वर्ष के भीतर दश पूर्व और ग्यारह अंग के धारक और धर्म के प्रकाशक हुए। मैं उन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रधारी मुनिराजों के चरण-कमलों को नमस्कार करता हूँ ॥45-47॥

इन के पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रमसेन और कंस ये ग्यारह अंगों के वेत्ता मुनीश्वर दो सौ बीस वर्ष तक धर्म के प्रवर्तक हुए। मैं उन के चरण-कमलों की स्तुति करता हूँ ॥48-49॥

इन के पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, जयबाहु और लोहाचार्य ये चार तपोधन आद्य आचारांग के धारक यहाँपर उत्पन्न हुए ॥50॥

तत्पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अहद्दत्त ये अंग-पूर्वो के एकदेश के ज्ञाता आचार्य एक सौ अठारह वर्ष के भीतर यहाँ पर उत्पन्न हुए। उन सब निर्ग्रन्थ मुनिराजों की में स्तुति करता हूँ ॥50-52॥

तदनन्तर इस भरतक्षेत्र में काल के दोष से श्रुतज्ञान की हीनता होनेपर भूतबली और पुष्पदन्त नाम के दो मुनिराज हुए। उन्होंने श्रुत-विनाश के भय से अवशिष्ट श्रुत को पुस्तकों में लिखकर स्थापित किया और सर्व संघ के साथ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उन की महापूजा की । वे दोनों मुनीश्वर धर्म की वृद्धि करनेवाले हैं, स्तुत्य हैं और वन्दनीय हैं, वे मुझे श्रुत की प्राप्ति करें ॥53-55॥

इन के पश्चात् कुन्दकुन्द आदि अन्य बहुत- से आचार्य और निर्ग्रन्थ कवीश्वर इस महीतलपर हुए हैं और जो पंच आचार आदि से भूषित हैं, वे सब आचार्य, तथा जिनवाणी के पठन-पाठन में निरत पाठक( उपाध्याय) मेरे द्वारा वन्दनीय और संस्तुत हैं, वे सब मुझे अपने-अपने गुणों को देवें ॥56-57॥

जो त्रिकालयोग से संयुक्त हैं, महातपों के करनेवाले हैं और जगत्पूज्य हैं, वे सर्व साधुजन मेरे उन-उन तपों की प्राप्ति के लिए सहायक होवें ॥58॥

जो भारती(सरस्वती) जगन्मान्य है और जिनेन्द्रदेव के मुख-कमल से निक है, वह कविता के रचने में और चारित्र के बढ़ाने में मेरी बुद्धि को दक्ष और शुद्ध करे ॥59॥

वह भारती ही मेरे लिए सदा वन्दनीय हैं और मेरे द्वारा नमस्कृत हैं, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आरम्भ किये गये इस ग्रन्थ की सिद्धि के लिए मेरी बुद्धि को परम शुद्ध और समस्त **अर्थ** को दिखानेवाली करे ॥60॥

इस प्रकार सद्-गुणशाली सुदेव, शास्त्र और गुरु को अपने इष्ट कार्य में आनेवाले अनिष्टों को दूर करने के लिए तथा मंगल की प्राप्ति के लिए नमस्कार करके अब वक्ता, श्रोता और कथा आदि का लक्षण कहता हूँ, जिस से कि स्व-पर का उपकारक यह ग्रन्थ इस लोक में परम प्रतिष्ठा को प्राप्त होवे ॥61-62॥

[वक्ता का लक्षण] - जो सर्व परिग्रह से रहित हों, ख्याति और पूजा से पराङ्मुख हों, अनेकान्त मत के धारक हों, सर्व सिद्धान्त के पारगामी हों, जगत् के अकारण बन्धु हों, भव्य प्राणियों के हित में उद्यत रहते हों, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से भूषित हों, साम्यभाव आदि गुणों के सागर हों, लोभ-रहित हों, अहंकार-विहीन हों, गुणी और धार्मिकजनों के साथ वात्सल्यभाव के धारक हों, जैनशासन के माहात्म्य-प्रकाशन में सदा तत्पर रहते हों, महाबुद्धिशाली हों, महान् विद्वान हों, ग्रन्थ आदि के रचने में समर्थ हों, प्रख्यात कीर्तिवाले हों, ज्ञानियों के द्वारा मान्य हों, सत्यवचनों से अलंकृत हों, तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक सारभूलगुणों से जो विभूषित हों, ऐसे जो आचार्य हैं, वे ही विद्वानों के द्वारा महान् उत्तम शास्त्रों के वक्ता माने गये जानना चाहिए। कारण ऐसे ही वक्ताओं के वचनों से दक्ष पुरुष धर्म को और तप को ग्रहण करते हैं क्योंकि उन के आचरण की प्रमाणता से वचनों में प्रमाणता मानी जाती है। अन्य शिथिलाचारी पुरुषों के वचन कोई नहीं मानता है। क्योंकि उन के विषय में लोग ऐसा कहते हैं कि यदि यह सत्य धर्म को जानता है, तो फिर स्वयं उसका आचरण क्यों नहीं करता है। ऐसा कहकर लोग शिथिलाचारी के कहे हुए धर्म को स्वीकार नहीं करते हैं। जो ज्ञानहीन वक्ता यहाँपर ज्ञान का लवमात्र पाकर उद्धत हुआ धर्म का प्रतिपादन करता है, उसके लिए लोग 'अरे, यह क्या जानता है', ऐसा कहकर उस की हँसी उड़ाते हैं ॥63-70॥

अतएव यहाँपर शास्त्रकर्ताओं और धर्मोपदेश करनेवाले वक्ताओं के ज्ञान और चारित्रात्मक दो परम गुण जानना चाहिए ॥71॥

[श्रोता का लक्षण] - जो सम्यग्दर्शन, शील और व्रत से संयुक्त हों, सिद्धान्त के सुनने के लिए उत्सुक हों, सुनकर उसके अवधारण करने में समर्थ हों, जिनदेव के शासन में निरत हों, अर्हन्तदेव के भक्त हों, सदाचारी हों, निर्ग्रन्थ गुरुओं के सेवक हों, विचार करने में चतुर हों, तत्त्व के स्वरूप-निर्णय में कसौटी के पाषाण के सदृश चतुर परीक्षक हों, और जो आचार्य के द्वारा कहे गये श्रुत का सम्यक् प्रकार से सार-असार विचार करके असार को तथा पहले से ग्रहण किये गये अतत्त्व को छोड़कर सारभूत सत्य को ग्रहण करनेवाले हों, और जो विवे की जन आचार्य के स्खलन (चूक) पर जरा भी नहीं हँसते हों, जो तोता, मिट्टी और हंस के क्षीर-नीर विवेक समान गुणों से युक्त हों और सर्व प्रकार के दोषों से दूर हों, इनको आदि लेकर अन्य अनेक उत्तम गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रोता होते हैं, वे ही शुभाशयवाले शास्त्रों के परम श्रोता जानना चाहिए ॥72-76॥

उत्तम कथा का स्वरूप-जिस कथा में जीव आदि समस्त तत्त्व सम्यक् प्रकार से निरूपण किये गये हों, जिसमें परमार्थ का वर्णन हो, संसार, भोग और शरीर गहादि में मुख्य रूप से संवेग(वैराग्य) का निरूपण हो, जिसमें दान, पूजा, तप, शील और व्रतादिकों का स्वरूप तथा उन के फलों का वर्णन हो, जिसमें बन्ध और मोक्ष आदि का तथा उन के कारणों का व्यक्त एवं विस्तृत वर्णन हो, जिस कथा में धर्म की मातास्वरूप प्राणिदया मुख्य रूप से कही गयी हो, सर्व प्रकार के परिग्रह के परित्याग से स्वर्ग और मोक्ष को जानेवाले बुद्धिमान पुरुष जिसमें वर्णित हों, जिसमें तिरेसठ शला का महापुरुषों की महाऋद्धि, उन के चरित, भवान्तर और सम्पदा का वर्णन किया गया हो, जिसमें विद्वानों के द्वारा अन्य अनेक पुण्य-विपाक कहे गये हों, ऐसी सभी सारभूत पुण्यदायिनी सच्ची धर्मकथाएँ जाननी चाहिए ॥ 77-81॥

जो पूर्वापर विरोध से रहित है, ऐसी जिनसूत्र से उत्पन्न हुई सत्कथाएँ ही श्रोताओं को सुननी चाहिए। किन्तु शृंगार आदि का वर्णन करनेवाली पापकारिणी अन्य कोई भी कथा कभी नहीं सुननी चाहिए ॥82॥
इस प्रकार उत्तम वक्ता, श्रोता और कथा का लक्षण पृथक्-पृथक् सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अब मैं श्री वीरस्वामी का परम पावन, रमणीक और महापुण्य का कारणभूत पाप का नाशक चरित्र वक्ता और श्रोता आदि जनों के हित का उद्देश्य करके कहूँगा। जिस के सुनने से सभ्यजनों के अत्यन्त पुण्य का संचय होता है और पूर्वभव के पाप क्षय को प्राप्त होते हैं तथा महान संवेग बढ़ता है ॥83-85॥
इस प्रकार सकल सुयुक्तियों से परम गुणयुक्त अपने इष्ट देवों को प्रणाम करके और वक्ता आदि सभी का स्वरूप कहके, जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से उत्पन्न हुई, धर्म की खानिस्वरूप अन्तिम जिनपति महावीर स्वामी की सत्कथा को अपने कर्म-शत्रुओं के शान्त करने के लिए कहता हूँ ॥86॥
वीरजिनेन्द्र वीर मनुष्यों में अग्रणी हैं, गुणों के निधान हैं, वीर पुरुष ही वीर जिन के आश्रय को प्राप्त हुए हैं, वीर के द्वारा ही इस लोक में उत्तम वीर-वैभव प्राप्त होता है, ऐसे श्री वीरस्वामी को मेरा नमस्कार हो। वीर से सुबुद्धिशालियों के वीर-गुण प्राप्त होते हैं, वीर जिनेन्द्र के अनुचर भी वीर ही होते हैं, ऐसे वीरजिनेन्द्र में भक्ति को करनेवाले मेरे हे वीर, तू मुझे अपने अद्भुत गुणों को दे ॥87॥
इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्रीवीर-वर्धमान-चरित में इष्टदेव को नमस्कार और वक्ता आदि के लक्षणों का वर्णन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥1॥

## दूसरा-अधिकार

पुरूरवा आदि पूर्व भव
कथा :
कर्मरूपी मल्ल को गिराने में वीराग्रणी और परीषह-उपसगों के जीतनेवाले श्री वीरप्रभु को मैं धैर्य-प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ ॥1॥
असंख्यात द्वीप-समुद्रोंवाले इस मध्यलोक के मध्य में राजाओं में चक्रवर्ती के समान जम्बूवृक्ष से संयुक्त जम्बूद्वीप शोभित है ॥2॥
उस जम्बूद्वीप के मध्य में महान् उन्नत सुदर्शन नाम का मेरुपर्वत देवों के मध्य में तीर्थंकर के समान सर्व पर्वतों में शिरोमणि रूप से शोभित है ॥3॥
उस मेरुपर्वत के पूर्व दिशा-भाग में पूर्व विदेह नाम का एक उत्तम क्षेत्र श्री जिनेन्द्रदेवों से और धार्मिकजनों से रमणीय शोभित है ॥4॥
यतः उस क्षेत्र से अनन्त मुनिगण तप करके देह-रहित हो गये हैं, अतः वह क्षेत्र 'विदेह' इस सार्थक नाम को धारण करता है ॥5॥
उस पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित सीता नदी के उत्तर दिशावर्ती तटपर लक्ष्मी से शोभायमान एक पुष्कलावती नाम का देश है ॥6॥
उस देश में पुर, ग्राम और वनादि में सर्वत्र उन्नत ध्वजाओं से युक्त तीर्थंकरों के मन्दिर शोभायमान हैं, वैसे सुन्दर देवों के भवन भी नहीं हैं ॥7॥
उस देश में सर्वत्र चतुर्विध संघ से विभूषित तीर्थकर और गणधर देवादिक धर्म-प्रवर्तन के लिए विहार करते रहते हैं । उस देश में कोई भी पाखण्डी वेषधारी नहीं है ॥8॥
उस देश में अर्हन्त भगवन्त के मुखारविन्द से प्रकट हुआ अहिंसा लक्षण धर्म ही मुनि और श्रावकजनों के द्वारा नित्य प्रवर्तमान रहता है। इस के अतिरिक्त जीवों को बाधा पहुँचानेवाला और कोई धर्म वहाँ नहीं है ॥9॥
जहाँ के ज्ञानीजन नित्य ही ज्ञान की प्राप्ति और अज्ञान के नाश के लिए अंग और पूर्वगत शास्त्रों को पढ़ते हैं। वहाँपर कुशास्त्रों को कभी भी कोई व्यक्ति नहीं पढ़ता है ॥10॥
वहाँ की सर्व प्रजा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णवाली ही है । सारी प्रजा सुख-संयुक्त, निरन्तर धर्म-पालन में निरत और बहुत लक्ष्मी से सम्पन्न है । वहाँपर ब्राह्मण वर्ण नहीं है ॥11॥
उस देश में मनुष्य और देवों से पूजित असंख्य तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेव आदि महापुरुष उत्पन्न होते हैं ॥12॥
जिस विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों के शरीर पाँच सौ धनुष उन्नत हैं, उन की आयु एक पूर्वकोटी वर्ष प्रमाण है और वहाँपर सदा चौथा काल ही रहता है ॥13॥
जहाँपर उत्पन्न हुए महामनुष्य तप के द्वारा स्वर्ग, मोक्ष और अहमिन्द्रपना ही सिद्ध करते हैं, वहाँ का और क्या अधिक वर्णन किया जा

सकता है ॥14॥

उस पुष्कलावती देश में एक पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है, जो कि बारह योजन लम्बी है, नौ योजन चौड़ी है, एक हजार चतुःपथों( चौराहों) से संयुक्त है, एक हजार द्वारों से विभूषित है, पाँच सौ छोटे द्वारोंवाली है, बारह हजार राजमार्गों से युक्त है, धार्मिक जनों से परिपूर्ण है और महापुण्य की कारणभूत है ॥15-16॥

यह पुण्डरोकिणी नगरी उस देश के मध्य में इस प्रकार से शोभित है, जैसे कि शरीर के मध्य में नाभि शोभती है । वह नगरी चैत्यालयों के ऊपर उड़नेवाली ध्वजाओं से मानो स्वर्गलोक को बुलाती हुई-सी जान पड़ती है ॥17॥

उस नगरी के बाहर मधुक नाम का एक रमणीक महावन है, जो शीतल छायावाले और फले-फूले हुए वृक्षों से युक्त तथा ध्यानस्थ मुनियों से भूषित है ॥18॥

उस वन में पुरूरवा नाम का भद्र प्रकृति का एक भीलों का स्वामी रहता था। उस की कालि का नाम की एक भद्र और कल्याणकारिणी प्रिया थी॥१९॥

किसी समय जिनदेव की वन्दना के लिए जाते हुए सागरसेन नामक एक मुनिराज उस वन में आये । वे मुनिराज धर्म के स्वामी किसी सार्थवाह के साथ आ रहे थे कि मार्ग में उस सार्थवाह को पापोदय से भीलोंने पकड़ लिया। अशुभ कर्म के उदय से क्या नहीं हो जाता है ॥ 20-21॥

सार्थवाह के साथ से बिछुड़कर और दिशा भूल जाने से ईर्यासमिति से इधर-उधर घूमते हुए धर्म में संलग्न उन मुनिराज को पुरूरवा भीलने दूर से देखा और उन्हें मृग समझकर बाण द्वारा मारने के लिए उद्यत हुआ। तभी पुण्योदय से उस की स्त्रीने शीघ्र ही यह कहकर उ से मारने से रो का कि 'अरे, ये तो संसार का अनुग्रह करनेवाले वनदेव विचर रहे हैं। हे नाथ, तुम्हें महापाप कर्म का कारणभूत यह निन्द्य कार्य नहीं करना चाहिए' ॥22-24॥

अपनी स्त्री के ये वचन सुननेसे, और काललब्धि के योग से प्रसन्नचित्त होकर वह उन मुनिराज के पास गया और अति हर्ष के साथ मस्तक से उन्हें नमस्कार किया ॥25॥

धर्मबुद्धि उन मुनिराजने अपनी दयालुता से उस भव्य से कहा'हे भद्र, मेरे उत्तम धर्म के प्रकट करनेवाले सारभूत वचन को सुनो ॥26॥

जिस धर्म के द्वारा तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है, जिस के द्वारा शत्रुचक्र का नाश करने वाला राज्य प्राप्त होता है और इन्द्रादि के सुख प्राप्त होते हैं, मनोवांछित भोगोपभोग की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और सभी अभीष्ट सम्पदाएँ मिलती हैं, तथा जिस धर्म की प्राप्ति से सुख के देनेवाले स्वजन-परिजन आदि मिलते हैं, वह धर्म मद्य, मांस आदि के तथा पंच उदुम्बर फलों के भक्षण के त्याग से प्राप्त होता है। अतः हे भव्य, तू सम्यक्त्व के साथ, तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों, सारभूत तीन गुणत्रतों और चार शिक्षाव्रतों के साथ उस धर्म को धारण कर । यह स्वर्ग के सुखों को देनेवाला एकदेशरूप धर्म गृहस्थों के द्वारा साधा जाता है ॥27-30॥

मुनिराज के इन वचनों से उस भिल्लराजने मद्य-मांसादि का भक्षण और जीवघात आदि का त्याग कर और परम श्रद्धा के साथ मुनिराज के चरण-कमलों को नमस्कार कर शुभ हृदयवाला होकर सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के बारह ही व्रतों को धर्म-प्राप्ति के लिए शीघ्र ग्रहण कर लिया॥३१-३२॥

जैसे ग्रीष्मऋत में प्यासा मनुष्य जल से परिपूर्ण सरोवर को पाकर अति प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वह भील भी संसार के दुःखों से डरकर और जिनेश्वरोपदिष्ट सत्य धर्म को प्राप्त कर अतिहर्षित हुआ। जैसे शास्त्राभ्यास का इच्छुक मनुष्य विद्वानों से भरे हुए गुरुकुल को पाकर हर्षित होता है, अथवा जैसे रोगी मनुष्य रोग-नाशक औषधि को पाकर प्रमुदित होता है, अथवा जैसे दरिद्री पुरुष निधान को पाकर परमानन्द को प्राप्त होता है, उसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ धर्म के लाभ से वह भिल्लराज भी अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुआ ॥33-35॥

तत्पश्चात् वह पुण्यात्मा भिल्लराज मुनिराज को उत्तम मार्ग दिखलाकर और उन्हें बार-बार नमस्कार करके हर्षित होता हुआ अपने स्थान को चला गया ॥36॥

उसने अपने जीवन-पर्यन्त उस सब व्रत-समुदाय को उत्तम प्रकार से पालन किया और अन्त में समाधि के साथ मरण कर व्रत-पालन से उत्पन्न हुए पुण्य के उदय से अनेक सुखों के भण्डार ऐसे सौधर्म नाम के महाकल्प में एक सागरोपम की आयु का धारक महद्धिक देव उत्पन्न हुआ ॥37-38॥

उपपादशय्या के शिलासम्पुटगर्भ में अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही नवयौवन अवस्था को प्राप्त कर और तत्क्ष ग प्राप्त हुए अवधिज्ञान से पूर्वभव में किये गये व्रतादि का फल जानकर और स्वर्ग-विमानादि की उत्कृष्ट लक्ष्मी को देखकर उसने धर्म में अपनी मति को और भी दृढ़ किया ॥ 39-40॥

तदनन्तर धर्म आदि की सिद्धि के लिए हर्षित होकर उसने अपने परिवार के साथ चैत्यालय में जाकर जिनेन्द्र देवों की प्रतिमाओं की जल को आदि लेकर फल पर्यन्त आठ भेदरूपउत्तम द्रव्यों से गीत, नृत्य, स्तवन आदि के साथ महापूजा की। पुनः चैत्यगुमों में स्थित तीर्थंकरों की मूर्तियों का पूजन करके वह अपने वाहनपर आरूढ़ होकर मेरुपर्वत और नन्दीश्वर आदि में गया और वहाँ की प्रतिमाओं का पूजन करके तथा विदेहादि क्षेत्रों में स्थित जिनेन्द्रदेव, केवलज्ञानी और गणधरादि महात्माओं का उच्च भक्ति के साथ महापूजन करके उसने उन सब को मस्तक से नमस्कार किया। तथा उन से समस्त तत्त्व आदि से गर्भित मुनि और श्रावकों के धर्म को सुनकर और बहुत-सा पुण्य उपार्जन करके वह अपने देवालय को चला गया ॥41-45॥

इस प्रकार वह अनेक प्रकार से पुण्य को उपार्जन करता हुआ और अपनी शुभ चेष्टा से अपनी देवियों के साथ देव-भवनों में तथा मेरुगिरि के वनों आदि में कोड़ा करता हुआ, उन के मनोहर गीत सुनता हुआ और दिव्य नारियों के नृत्य-शृंगार, रूप-सौन्दर्य और विलास को देखता हुआ तथा पूर्व पुण्योपार्जित नाना प्रकार के परम भोगों को भोगता हुआ वह स्वर्गीय सुख भोगने लगा। उसका शरीर सात हाथ उन्नत था, सप्त धातुओं से रहित और नेत्र-स्पन्दन आदि से रहित था। वह तीन ज्ञान का धारक, और अणिमादि आठ ऋद्धियों से विभूषित था। दिव्य देह का धारक था। इस प्रकार वह सुख-सागर में निमग्न रहता हुआ अपना काल बिताने लगा ॥46-49॥

इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड के मध्य में कोशल नाम का एक देश है, जो आर्यपुरुषों की मुक्ति का कारण है ॥50॥

जहाँपर उत्पन्न हुए कितने ही भव्य आर्य पुरुष सकल चारित्र के द्वारा मोक्ष को जाते हैं, कितने ही वेयक आदि विमानों में और स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं और कितने ही जिनभक्त लोग श्रावक धर्म के द्वारा सौधर्म को आदि लेकर अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और इन्द्र-सम्पदा को प्राप्त करते हैं ॥51-52॥

कितने ही लोग सुपात्रदान के द्वारा भोगभूमि को जाते हैं और कितने ही पूर्व-विदेहादि में उत्पन्न होकर राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ॥53॥

जिस आर्य क्षेत्र में केवली, ऋषि और मुनिजनादिक जगत्पूज्य पुरुष चतुर्विध संघ के साथ धर्म आदि की प्रवृत्ति के लिए सदा विहार करते रहते हैं ॥54॥

जहाँ पर ग्राम, पत्तन और पुरी आदिक उत्तुंग जिनालयों से शोभायमान हैं और जहाँ के वन फल-संयुक्त हैं और ध्यानारूढ योगिजनों से शोभित हैं ॥55॥

इत्यादि वर्णन से युक्त उस कोशल देश के मध्य में विनीता नाम की एक रमणीक पुरी है, जो विनीत जनों से परिपूर्ण है ॥56॥

जिस पुरी को आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की उत्पत्ति के समय देवोंने बनाया था। और जो उसके मध्य में स्थित दिव्य, स्वर्ण-रत्नमयी उत्तुंग चैत्यालय से शोभित है । तथा ऊँचे शाल आदिसे, गोपुर से और शत्रुओं के द्वारा अलंध्य लम्बी खाई एवं भवनों की पंक्तियों से शोभित है ॥ 57-58॥

वह पुरी नौ योजन चौड़ी है, और बारह योजन लम्बी है। अधिक क्या वर्णन कर, वह नगरी देवादिकों को भी अत्यन्त आनन्द करनेवाली है ॥59॥

वहाँ के निवासी लोग दानी, मृदुस्वभावी, दक्ष, पुण्यशील, शुभाशयी, आर्जव आदि गुण-सम्पन्न, रूप-लावण्य से भूषित, धार्मिक, उत्तम आचारवान्, सुखी, जिनभक्त, पूर्वोपार्जित महापुण्यशाली, अत्यधिक धनी और शुभ परिणामों के धारक हैं, वे वहाँ के ऊँचे-ऊँचे भवनों में इस प्रकार आनन्द से रहते हैं, जिस प्रकार कि देव लोग अपने विमानों में रहते हैं। वहाँ की स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही सैकड़ों गुणों से युक्त और देवियों के समान आभा की धारक हैं ॥60-62॥

मोक्ष की प्राप्ति के लिए देव लोग भी जिस नगरी में अवतार लेने की इच्छा करते हैं, उस स्वर्ग और मुक्ति की जननीस्वरूपा नगरी का और अधिक क्या वर्णन किया जावे ॥63॥

उस विनीता नगरी का अधिपति श्रीमान् भरत नरेश हुआ, जो चक्रवर्तियों में प्रथम था और आदि सृष्टि-विधाता वृषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र था ॥64॥

जिस भरत चक्रवर्ती के चरणकमलों को अकम्पन आदि राजा लोग, नमि आदिक विद्याधर और मागध आदि देवगण नमस्कार करते हैं ॥65॥

षट्खण्ड के स्वामी, चरमशरीरी, धर्मात्मा, नवनिधि, चौदह रत्न और महादेवी आदि उत्तम लक्ष्मी से अलंकृत, तीन ज्ञान, बहत्तर कला, सर्व विद्याओं और विवेक आदि गुणों के सागर तथा रूपादि गुणसम्पदावाले उस भरत चक्रवर्ती के गुणों का वर्णन करने के लिए कौन पुरुष समर्थ है ॥66-67॥

उस पुण्यात्मा भरत के पुण्योदय से सुख की खानि, पुण्य-विभूषित और दिव्य लक्षणोंवाली धारिणी नाम की रानी थी ॥68॥

उन दोनों के वह पुरूरवा भील का जीव देव स्वर्ग से चयकर रूपादि गुणों से मण्डित मरीचि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥69॥

वह क्रम से अपने योग्य अन्न-पानादि से और भूषणों से वृद्धि को प्राप्त होकर, अनेक शास्त्रों को पढ़कर और अपने योग्य सम्पदा को प्राप्त करके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के उदय से अपने पितामह के साथ ही वनक्रीडा आदि के द्वारा नाना प्रकार के भोगों को भोगता रहा ॥70-71॥

किसी समय नीलांजना देवी के नृत्य देखने से वृषभदेव स्वामीने समस्त भोगोंमें, देह में और राज्य आदि में उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त होकर और पालकीपर बैठकर इन्द्रादि के साथ वन में जाकर और अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह को अपनी मुक्ति के लिए छोड़कर संयम को ग्रहण कर लिया ॥72-73॥

उस समय केवल स्वामि-भक्ति के लिए स्वामिभक्ति-परायण कच्छ आदि चार हजार राजाओं के साथ मरीचिने भी शीघ्र द्रव्य संयम को ग्रहण कर लिया और नग्नवेष धारण करके वह मुग्ध बुद्धि शरीर में वृषभ स्वामी के समान हो गया।(किन्तु अन्तरंग में इस दीक्षा का कुछ भी रहस्य नहीं जानता था।) ॥74-75॥

भगवान् वृषभदेवने देह से ममता आदि छोड़कर और मेरु के समान अचल होकर कर्मशत्रुओं की सन्तान का नाश करने के लिए कर्मवैरी का घातक छह मास की अवधिवाला प्रतिमायोग मुक्तिप्राप्ति के लिए धारण कर लिया और आत्मसामर्थ्यवान् वे जगद्गुरु अपने भुजादण्डों को लम्बा करके ध्यान में अवस्थित हो गये ॥76-77॥

भगवान् वृषभदेव के साथ जो चार हजार राजा लोग दीक्षित हुए थे, वे कुछ दिन तक तो भगवान के समान ही कायोत्सर्ग से खड़े रहे और भूख-प्यास आदि सभी घोर परीषहों को सहन करते रहे। किन्तु आगे दीर्घकाल तक भगवान् के साथ उन्हें सहने में असमर्थ हो गये॥७८॥

वे सब तप के क्लेशभार से आक्रान्त हो गये, उन के मुख दीनता से परिपूर्ण हो गये, उन का धैर्य चला गया, तब वे अत्यन्त दीन वाणी से परस्पर में इस प्रकार वार्तालाप करने लगे - 'अहो, यह जगद्-भर्ता वाकाय और स्थिर चित्तवाला है, हम नहीं जानते हैं कि यह विश्व का स्वामी कितने समय तक इसी प्रकार से खड़ा रहेगा? अब तो हमारे प्राणों के रहने में सन्देह है ? अपने समान लोगों को इस प्रभु के साथ स्पर्धा करके क्या मरना है ?' इस प्रकार कहकर वे सब वेषधारी साधु भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करके वहाँ से चले । किन्तु भरतेश के भय से अपने घर जाने में असमर्थ होकर वहीं वन में ही पाप से स्वेच्छाचारी होकर वे दीन शठ फलों का भक्षण करने लगे और नदी आदि का जल पीना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया ॥79-83॥

पाप के उदय से अति घोर परीषहों के द्वारा पीड़ित हुआ मरीचि भी उन लोगों के साथ उन के समान ही क्रियाएँ करने के लिए प्रवृत्त हो गया ॥84॥

इन भ्रष्ट साधुओं को निन्द्य कर्म करते हुए देखकर वनदेवताने कहा-'अरे मूर्खों, तुम लोग हमारे शुभ वचन सुनो ॥85॥ इन नग्नवेष को धारण कर जो मूढजन ऐसा निन्द्य अशुभ और जीव-घातक कार्य करते हैं, वे उस पाप के फल से घोर नरक-सागर में पड़ते हैं ॥86॥ अरे वेषधारियो, गृहस्थ वेष में किया गया पाप तो जिनलिंग के धारण करने से छूट जाता है । किन्तु इस जिनलिंग में किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है। ( उसका छूटना बहुत कठिन है) ॥87॥ अतः जिनेश्वरदेव के इस जगत्पूज्य वेष को छोड़कर तुम लोग कोई अन्य वेष धारण करो। अन्यथा मैं तुम लोगों का निग्रह करूँगा' ॥88॥

इस प्रकार वनदेवता के वचन से भयभीत होकर विद्वत्पूज्य जिनवेष को छोड़कर तब उन लोगोंने जटा आदि को धारण करके नाना प्रकार के वेष ग्रहण कर लिये ॥89॥

मरीचिने भी तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिनवेष को छोड़कर स्वयं ही परिव्राजक दीक्षा को धारण कर लिया ॥90॥

दीर्घ संसारी इस मरीचि के उस परिव्राजक दीक्षा के अनुरूप शास्त्र की रचना करने में शीघ्र ही शक्ति प्रकट हो गयी । अहो, जिस का जैसा भवितव्य होता है, वह क्या अन्यथा हो सकता है ॥91॥

अथानन्तर वे त्रिजगत्स्वामी ऋषभदेव( छह मास के योग पूर्ण होने के पश्चात्) एक हजार वर्ष तक मौन से सिंह के समान पृथ्वीपर विहार करके जिसमें दीक्षा ली थी, उसी पूर्व वन में आये और वहाँ पर उन्होंने शुक्लध्यानरूप खड्ग से घातिकर्म रूप शत्रुओं का घात करके जगत् का हितकारक केवलज्ञानरूप साम्राज्य प्राप्त किया और तीर्थराट् बन गये ॥92-93॥

उसी समय यक्षराज ने स्फुरायमान रत्न-सुवर्णादि से उन के दिव्य आस्थानमण्डल(समवसरण-सभा) की रचना की, जिसमें सर्व प्राणी यथास्थान बैठ सकें॥९४॥

इन्द्रादिक भी उत्कृष्ट विभूति, अपनी देवांगनाओं और वाहनों के साथ आये और दिव्य पूजन-सामग्री से उन्होंने प्रभु की भक्ति के साथ आठ प्रकार की पूजा की ॥95॥

भगवान् के मुख से बन्ध और मोक्ष का स्वरूप सुनकर उन पुरातन कच्छादिक भ्रष्ट साधुओं में से बहुत- से साधु पुनः परमार्थ रूप से निर्ग्रन्थ बन गये ॥96॥

दुर्बुद्धि मरीचि ने त्रिजगत्प्रभु से मुक्ति का परम सन्मार्ग रूप उपदेश सुन करके भी संसार के कारणभत अपने खोटे मत को नहीं छोडा ॥ 97॥

प्रत्यत मन में सोचने लगा कि जैसे इन पूज्य तीर्थनाथ ऋषभदेवने परिग्रहादि को त्यागने से तीन जगत् के जीवों को क्षोभित करनेवाली सामर्थ्य प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने द्वारा प्ररूपित इस अन्य मत को लोक में व्यवस्थित करके उसके निमित्त से महान् सामर्थ्यवाला होकर त्रिजगत् का गुरु हो सकता हूँ। मैं उस अवसर को पाने के लिए प्रतीक्षा करता हूँ। वह सामर्थ्य मुझे अवश्य प्राप्त होगी। इस प्रकार के मानकषाय के उदय से वह दुष्ट अपने खोटे मत से विरक्त नहीं हुआ ॥98-100॥

वह पापबुद्धि मूर्ख उसी तीन दण्डयुक्त वेष को धारण कर और हाथ में कमण्डलु लेकर कायक्लेश सहने में तत्पर रहने लगा ॥101॥

वह प्रातःकाल शीतल जल से स्नान करके कन्दमूलादि फलों को खा करके और बाहरी परिग्रह के त्याग से अपनी प्रख्याति करने लगा, तथा कपिल आदि अपने शिष्यों को इन्द्रजाल के समान अपने कल्पित निन्द्य मतान्तर को यथार्थ प्रतिपादन करता हुआ मिथ्या मार्ग के प्रवर्तन का अग्रणी बनकर चिरकाल तक भारतभूमि में परिभ्रमण करता रहा । अन्त में भरतेश का वह पुत्र मरीचि यथाकाल मरण को प्राप्त होकर अज्ञान तप के प्रभाव से ब्रह्मकल्प में दश सागरोपम की आयु का धारक और अपने पुण्य के योग्य सुख-सम्पत्ति से युक्त देव हुआ ॥१०२-१०५॥

अहो, इस प्रकार के कुतप को करनेवाला व्यक्ति यदि स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ, तो जो लोग सुतप को करेंगे, उन के तप का क्या फल कहा जाये ? **अर्थ**ात वे तो और भी अधिक उत्तम फल को प्राप्त करेंगे ॥106॥

अथानन्तर इस भारतवर्ष में साकेतापुरी के भीतर कपिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उस की काली नाम की स्त्री थी ॥107॥

उन दोनों के वह देव स्वर्ग से चयकर जटिल नाम का पुत्र हुआ। वह कुमत में संलीन रहता था और वेद, स्मृति आदि शास्त्रों का विद्वान् था ॥108॥

पूर्व संस्कार के योग से वह पुनः परिव्राजक होकर कुमागे का प्रकाशन करता हुआ मूढजनों से वन्दनीय हुआ ॥109॥

पूर्वभव के समान इस भव में भी वह चिरकाल तक अपने मत का प्रचार करता और उ से पालन करता हुआ आयु के क्षय हो जानेपर मरकर उस अज्ञान तप के कष्ट-सहन के प्रभाव से पुनः सौधर्म नामक कल्प में देव उत्पन्न हुआ ॥110॥

वहाँ वह दो सागरोपम की आयु का धारक और अल्प ऋद्धि से संयुक्त हुआ। अहो, कुबुद्धियों का कुतप भी संसार में कभी निष्फल नहीं होता है ॥111॥

इस के पश्चात् इसी भारतवर्ष के स्थूणागार नाम के रमणीक नगर में एक भारद्वाज नाम का द्विज रहता था। उस की पुष्पदन्ता नाम की स्त्री थी ॥112॥

स्वर्ग से चयकर वह देव उन दोनों के पुष्पमित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह कुमत से उत्पन्न कुशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर रहता था ॥ 113॥

मिथ्यात्व कर्म के विपाक से वह पुनः मिथ्यामत से विमोहित होकर और उसी पुराने परिव्राजक वेष को स्वीकार करके प्रकृति आदि पूर्व प्ररूपित पचीस कुतत्त्वों को कुबुद्धिजनों के लिए स्वीकार कराता हुआ मन्द कषाय के योग से देवायु को बाँधकर मरा और सौधर्म कल्प में एक सागरोपम की आयु का धारक एवं अपने तप के योग्य सुख और लक्ष्मी आदि से मण्डित देव उत्पन्न हुआ ॥114-116॥

अनन्तर इसी भारत क्षेत्र में श्वेति का नाम के उत्तम नगर में अग्निभूति नाम का ब्राह्मण रहता था। उस की ब्राह्मणी का नाम गौतमी था ॥117॥

स्वर्ग से चयकर वह देव उन दोनों के अग्निसह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पूर्वकृत मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपने ही पूर्व प्रचारित एकान्त मत के शास्त्रों का ज्ञाता हुआ और पुनः पुरातन कर्म से परिव्राजक दीक्षा से दीक्षित होकर और पूर्व के समान ही काल बिताकर और अपनी आयु के अन्त में मरकर उस अज्ञान तपःक्लेश के प्रभाव से सनत्कुमार नाम के स्वर्ग में सात सागरोपम आयु का धारक सुखसम्पन्न देव हुआ ॥118-120॥

तत्पश्चात् इसी भारतवर्ष में रमणीक मन्दिर नाम के उत्तम पुर में गौतम नाम का एक विप्र रहता था। उस की कौशि की नाम की ब्राह्मणी प्रिया थी ॥121॥

उन दोनों के स्वर्ग से च्युत होकर वह देव अग्निमित्र नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह महा मिथ्यादृष्टि और कुशास्त्रों का पारगामी था। वह पुनः पूर्व भव के अभ्यासस पूर्व भववाली परिव्राजक दीक्षा को लेकर और शारीरिक क्लेशों को सहनकर अपनी आयु के क्षय होनेपर मरा और उस अज्ञान तप से माहेन्द्र नाम के स्वर्ग में अपने तप के अनुसार आयु, लक्ष्मी और देवी आदि से मण्डित देव उत्पन्न हुआ ॥122-124॥

तदनन्तर इसी भारतवर्ष के उसी पुरातन मन्दिर नाम के रमणीक नगर में सालंकायन नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उस की स्त्री का नाम मन्दिरा था। उन दोनों के वह देव माहेन्द्र स्वर्ग से चयकर भारद्वाज नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह सदा कुशास्त्रों के अभ्यास में तत्पर रहता था। पुनः उस कुज्ञान से उत्पन्न संवेग से उसने तीन दण्डों से मण्डित त्रिदण्डी दीक्षा ग्रहण कर और तप से देवायु को बाँधकर मरा और उसके फल से माहेन्द्र नाम के स्वर्ग में सात सागरोपम आयु का धारक और अपने तप से उपार्जित पुण्य के अनुसार सुख को भोगनेवाला देव उत्पन्न हुआ ॥125-128॥

तत्पश्चात् वहाँ से च्युत होकर और कुमार्ग के प्रकट करने से उपार्जित महा पापकर्म के विपाक से निन्द्य सभी अधोगतियों में प्रवेश करके असंख्यात वर्ष प्रमाण चिरकालतक सुखों से दूर और दुःखों से भरपूर होकर परिभ्रमण करता हुआ दुष्कर्मों की श्रृंखला से वह सर्वदुःखों के निधानभूत त्रस-स्थावरयोनियों में वचनों के अगोचर नाना दुःखों से पीड़ित हो मिथ्यात्व के फल से महादुःख को भोगता रहा ॥129-131॥

आचार्य कहते हैं कि अग्नि में गिरना उत्तम है, हालाहल विष का पीना अच्छा है और समुद्र में डूबना श्रेष्ठ है, किन्तु मिथ्यात्व से युक्त जीवन अच्छा नहीं है ॥132॥

व्याघ्र, शत्रु, चोर, सर्प और विच्छू आदि प्राणापहारी दुष्ट प्राणियों का संगम उत्तम है, किन्तु मिथ्यादृष्टियों का संग कभी भी अच्छा नहीं है ॥133॥

यदि एक ओर सर्वपाप एकत्रित किये जावें और दूसरी ओर अकेला मिथ्यात्व रखा जाये, तो ज्ञानीजन उन का अन्तर मेरु और सरसों के दाने-जैसा कहते हैं। **अर्थ**ात् अकेला मिथ्यात्व पाप सुमेरु के समान भारी है और सर्व पाप सरसों के समान तुच्छ हैं ॥134॥

इसलिए दुःखों से डरनेवाले मनुष्यों को समस्त दुःखों के खानिस्वरूप मिथ्यात्व का सेवन प्राणान्त होनेपर भी कभी नहीं करना चाहिए ॥135॥

इस प्रकार मरीचि का जीव वह त्रिदण्डी कुपथ (मिथ्यामार्ग) प्रचार के विपाक से बिन्दु के समान अत्यल्प सुख को पाकर समुद्र के समान महान् दुःखों को असंख्यकाल तक कुयोनियों में भोगता रहा। ऐसा समझकर जो जीव तीन लोक में सुख के इच्छुक हैं, उन्हें मान, वचन, काय की त्रियोग शुद्धिपूर्वक सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके समस्त मिथ्यामार्ग को छोड़ देना चाहिए ॥136॥

वीर भगवान् अनन्त सुख के देनेवाले हैं और दुःखों को हरण करते हैं, अतः ज्ञानीजन वीर प्रभु का आश्रय लेते हैं। वीर प्रभु के द्वारा भवभय शीघ्र विनष्ट हो जाता है, इसलिए भक्ति के साथ वीरनाथ को नमस्कार हो। वीर भगवान के प्रसाद से ज्ञानी सन्तजनों को मुक्तिवधू प्राप्त होती है, वीरनाथ के गुण अक्षय हैं, अतः मैं वीरप्रभु में अपने मन को धारण करता हूँ। हे वीरनाथ, कर्म-शत्रुओं को जीतने के लिए मुझे शक्ति दो ॥137॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीति-विरचित इस वीर वर्धमान चरित्र में पुरूरवा आदि अनेक भवों का वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥2॥

## तीसरा-अधिकार

त्रिपृष्ठ नारायण

कथा :

जिस प्रभु के अनन्त गुण विना किसी रुकावट के तीनों लोकों में व्याप्त होकर देवेन्द्रों के हृदय में विचर रहे हैं, वे मेरे द्वारा स्तुति किये गये वीतरागदेव मेरे गुणों की प्राप्ति के लिए हों ॥1॥

अथानन्तर इस भारतवर्ष के मगधदेश में राजगृह नाम के नगर में शाण्डिलि नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उस की प्रिया का नाम पाराशरी था। उन दोनों के संसार-परिभ्रमण से थका हुआ वह मरीचि का अतिदुःखी जीव स्थावर नाम का पुत्र हुआ। बड़े होनेपर वह वेद-वेदाङ्ग का पारगामी हो गया ॥2-3॥

वहाँ पर भी अपने पूर्व मिथ्यात्व के संस्कार से उसने सहर्ष परिव्राजक दीक्षा ग्रहण कर ली और कायक्लेश में परायण होकर नाना प्रकार के खोटे तप करने लगा। उस कायक्लेश के परिपाक से आयु के अन्त में मरकर वह माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागरोपम आयु का धारक और अल्प लक्ष्मी के सख का भोगनेवाला देव हआ ॥४-५॥

तत्पश्चात् इसी मगध देश में और इसी राजगृहनगर में विश्वभूति नाम का राजा राज्य करता था। उस की जैनी नाम की वल्लभा रानी थी। उन दोनों के वह देवस्वर्ग से आकर विश्वनन्दी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह प्रसिद्ध पुरुषार्थवाला, दक्ष एवं पवित्र लक्षणों से भूषित था ॥6-7॥

विश्वभूति महीपति के अतिप्यारा विशाखभूति नाम का छोटा भाई था। उस की लक्ष्मणा नाम की प्रिया थी ॥8॥

उन दोनों के कुबुद्धिवाला विशाखनन्द नाम का एक पुत्र हुआ। ये सब पूर्व पुण्य के उदय से सुखपूर्वक रहते थे ॥9॥

किसी अन्य दिन शरत्‌ऋतु के मेघ का विनाश देखकर वह निर्मल बुद्धिवाला विश्वभूति राजा संसार, देह और भोगों से विरक्त होकर इस प्रकार विचारने लगा-अहो, जैसे यह मेघ एक क्षण में देखते-देखते विनष्ट हो गया, उसी प्रकार मेरे यह यौवन, और आयु आदिक भी विनाश को प्राप्त हो जायँगे, इस में कोई सन्देह नहीं है ॥10-11॥

अतः जबतक यह यौवन, आयु, बल और इन्द्रियादिक सामग्री क्षीण नहीं होती है, तबतक मुक्ति के साधन में निर्मल तपश्चरण करना चाहिए ॥12॥

इत्यादि चिन्तवन से राजा संसार, शरीर, भोग और लक्ष्मी आदि के विषय में दुगुने संवेग को प्राप्त होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत हो गया ॥13॥

उस उत्तम राजाने उसी समय अपने छोटे भाई को अतिस्नेह से विधिपूर्वक राज्य दिया और अपने पुत्र को युवराज पद दिया ॥14॥

पुनः जगद्-वन्द्य श्री श्रीधर नाम के मुनिराज के समीप जाकर और उन्हें मस्तक से नमस्कार कर राजाने बाहरी और भीतरी सर्व परिग्रह को छोड़कर मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक देव-दुर्लभ संयम, मुक्ति के लिए राग को दूर करनेवाले तीनसौ राजाओं के साथ, धारण कर लिया ॥15-16॥

तत्पश्चात् वह संयमी ध्यानरूपी खड्ग से मोह, इन्द्रिय आदि शत्रुओं का विनाश कर कर्म-घातक उप-महाउप्र तपश्चरण करने के लिए उद्यत हुआ ॥17॥

इधर किसी समय विश्वनन्दी अपने मनोहर उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ लीलापूर्वक क्रीड़ा करता हुआ स्थित था ॥18॥

उसे और उसके रमणीक उद्यान को देखकर उस उद्यान के मोह से मोहित होकर विशाखनन्दने अपने पिता के पास जाकर यह कहा - हे तात, विश्वनन्दी का उद्यान मुझे दो । अन्यथा मैं निश्चय से विदेश-गमन कर जाऊँगा ॥19-20॥

उसकी यह बात सनकर राजा विशाखभति ने मोह से प्रेरित होकर कहा - हे पुत्र, मैं शीघ्र ही किसी उपाय से यह उद्यान तुझे दूंगा। अभी तू ठहर जा ॥21॥

इसके पश्चात् किसी दूसरे दिन राजा ने किसी छल-प्रपंच से विश्वनन्दी को बुलाकर कहा - हे भद्र, तुम यह राज्यभार ग्रहण करो, मैं

सीमावर्ती राजा के ऊपर उससे उत्पन्न हुए क्षोभ की शान्ति के लिए तथा अपने देश की सुख प्राप्ति के लिए जाता हूँ ॥22-23॥

अपने काका की यह बात सुनकर विश्वनन्दी कुमार ने कहा - हे पूज्य, आप सुख से रहिए। मैं आप की आज्ञा से जाकर उस शत्रु को आप का दास बनाता हूँ ॥24॥

इस प्रकार से प्रार्थना कर और उसकी आज्ञा लेकर अपनी सेना के साथ शत्रु को जीतने के लिए महाबली विश्वनन्दी वहाँ से चला गया ॥ 25॥

उसके चले जानेपर राजा विशाखभूति ने वह उद्यान अपने विशाखनन्द पुत्र के लिए दे दिया। आचार्य कहते हैं कि ऐसे मोह को धिकार है कि जिस से प्रेरित होकर मनुष्य ऐसे पाप कार्य को करता है ॥26॥

तत्पश्चात् त्पश्चात वनपाल के द्वारा भेजे गये गप्पचर से राजा की यह प्रवंचना जानकर महाधीर विश्वनन्दी अपने हृदय में इस प्रकार सोचने लगा - अहो, देखो इस मेरे काका ने मुझे शत्रुओं के प्रति भेजकर स्नेह, राज्य और शरीर की नाश करनेवाली ऐसी कुटिलता मेरे साथ की है ॥27-28॥

अथवा मोही जनों के लिए तीन लोक में ऐसा कौनसा अकृत्य है जि से वे न करें। मोहान्ध होकर मनुष्य इस लोक और परलोक में विनाशकारी कर्म को करता है ॥29॥

ऐसा विचार कर और शत्रुओं को जीतकर अपने वन का अपहरण करनेवाले को मारने के लिए वह अतिबली विश्वनन्दी कुमार रोष से शीघ्र ही अपने वन में आया ॥30॥

उसके भय से डरकर वह विशाखनन्द एक विशाल कपित्थ (कैंथ) के वृक्ष को काँटों की वारी से घेरकर उसके मध्य भाग में जाकर अवस्थित हो गया ॥31॥

तब अद्भुत पराक्रमी उस विश्वनन्दी कुमारने उस वृक्ष को जड़मूल से उखाड़कर उससे अपने शत्रु को मारने के लिए उ से भयभीत करता हुआ उसके पीछे दौड़ा ॥32॥

तब वह कायर विशाखनन्द शीघ्र वहाँ से भागकर एक शिलास्तम्भ की आड में जाकर छिप गया । अहो, इस संसार में अन्यायकारियों की जीत कहाँ सम्भव है ॥33॥

तब उस बली विश्वनन्दी ने अपने मुष्टि-प्रहार से उस स्तम्भ को तत्क्षण शतखण्ड कर दिया। अरे, बलवान् आत्माओं के लिए क्या अशक्य है ॥34॥

तब वहाँ से भागते हुए दीनमुख अपने अपकारी को देखकर और करुणा-पूरित चित्त होकर वह विश्वनन्दी इस प्रकार से विचारने लगा- अहो, इस मोह को धिक्कार हो, जिस से प्रेरित होकर यह जीव कायरता को प्राप्त अपने ही बन्धुओं को वध-बन्धनादिरूप दण्ड देता है ॥ 35-36॥

दुःखों से उत्पन्न होनेवाले और आगामी भवमै दुःखों के कारणभूत इन भोगे गये नाना प्रकार के भोगों से यह आत्मा कभी भी तृप्ति को नहीं प्राप्त होता है। अतः ऐसे इन दुष्ट भोगों से सन्त जनों का क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ॥37॥

स्त्री के शरीर-मन्थन से उत्पन्न हुए ये भोग मनस्वीजनों के मान का नाश करनेवाले हैं और संसार के समस्त दुःखों के निधानभूत हैं, इन की क्या मानी जन इच्छा करते हैं ॥38॥

ऐसा विचार कर और उ से बुलाकर वह उद्यान उ से ही देकर और सब राज्यलक्ष्मी छोड़कर वह शीघ्र ही सम्भूतगुरु के समीप गया और मुनिराज के चरणों को मस्तक से नमस्कार कर तथा सर्व परिग्रहों को छोडकर एवं देह. भोग, संसार आदि सभी में वैराग्य को प्राप्त होकर विश्वनन्दीने तप को ग्रहण कर लिया ॥39-40॥

ग्रन्थकार कहते हैं कि अहो, लोक में नीच पुरुषों के द्वारा किया गया महान् अपकार भी कभी सज्जनों के भारी उपकार के लिए हो जाता है । जैसे कि वैद्य के द्वारा शस्त्रचिकित्सा से रोगी का उपकार होता है ॥41॥

इस घटना के पश्चात् विशाखभूतिने भी भारी पश्चात्ताप को प्राप्त होकर, अपनी अनेक प्रकार से निन्दा करके शीघ्र संसार, राज्यलक्ष्मी, और शरीर-भोग आदि में वैराग्य को प्राप्त होकर उक्त मुनीश्वर के समीर जाकर मन-वचन-काय से सर्व परिग्रहों को छोड़कर प्रायश्चित्त के समान दीक्षा को ग्रहण कर लिया ॥42-43॥

इस के पश्चात् चिरकाल तक अपनी शक्ति के अनुसार अतिनिर्मल घोरतर तप कर और मरण-समय विधिपूर्वक उत्कृष्ट संन्यास को धारण करके उसके फल से वह अति धर्मात्मा विशाखभूति संयमी महाशुक्र नाम के कल्प में महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ ॥44-45॥

इधर विश्वनन्दी मुनि भी पक्ष-मास आदि के तपों के करने से अतिकृश शरीर एवं निर्बल होकर नानादेश, ग्राम, वनादिक में विहार करते ओठ, मुख और शरीर के सूख जानेपर भी ईर्यापथपर दृष्टि रखे हुए अपने शरीर की स्थिति के लिए मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए। उस समय निन्द्य दुर्व्यसनों के सेवन से राज्यभ्रष्ट हुआ और किसी अन्य राजा का दूत बनकर मथुरापुरी में आकर किसी वेश्या के भवन के अग्रभागपर बैठा हुआ वह कुबुद्धि विशाखनन्द सद्यःप्रसूता गाय के सींग के आघात से अतिकृशदेह और क्षीणपराक्रम दुर्बल उन विश्वनन्दी मुनि को गिरता हुआ देखकर हास्यपूर्वक अपना घात करनेवाले दुवचन इस प्रकार बोला ॥46-50॥

हे मुने, शिलास्तम्भ आदि को भग्न करनेवाला तुम्हारा वह पराक्रम कहाँ गया ? तुम्हारा वह पहलेवाला दर्प और शौर्य कहाँ गया ? सो मुझे बताओ। आज तो तुम शक्ति से अतिदूर और अत्यन्त दुबैल दिखते हो ? तुम्हारा यह शरीर मल से व्याप्त और अतिशीत से दग्ध मुर्दे आदि के समान दिखाई दे रहा है ॥51-52॥

इस प्रकार के उसके दुर्वचन सुनकर क्रोध और मान कषाय के उदय से यह मुनि कोप से रक्तनेत्र होकर मन में बोला-अरे दुष्ट, मेरे तप के माहात्म्य से तू इस प्रहास्य का स्वमूल-नाशक महान् कटुक फल पायेगा, इस में कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानियों द्वारा निन्दित निदान उसके विनाश के लिए वह मुनि करके अपने तप से अन्त में संन्यास के साथ मरा और उस तप के फल से वह उसी स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ, जहाँपर कि विशाखति सन्मुनिराज का जीव सुख में मग्न देव था ॥53-56॥

वहाँ पर उन उत्तम दोनों देवों की आयु सोलह सागर प्रमाण थी, दोनों सप्तधातु-रहित दीप्त दिव्य देह के धारक थे और दोनों ही सदा विमानस्थ तथा मेरुपर्वत, नन्दीश्वरद्वीप आदि में स्थित श्रीजिनेन्द्र देवों की प्रतिमाओं के पूजन में तत्पर एवं तीर्थंकरोंक पंचकल्याणकों के करने में उद्यत रहते थे। वे सहजात दिव्य वस्त्र, आभूषण, माला और विक्रिया ऋद्धि आदि से भूषित, सर्व प्रकार की असाता से रहित और सौन्दर्ययुक्त थे। तथा अपने पूर्वभक् के तपश्चरण से उपार्जित नाना प्रकार के भोगों को आनन्दपूर्वक अपनी देवियों के साथ भोगते हुए पुण्यकर्म के विपाक से सदा सुखसागर में मग्न रहने लगे ॥57-60॥

अथानन्तर इस आदिम जम्बूद्वीप में शुभ सुरम्य देश के पोदनपुर नाम के नगर में प्रजापति नाम का राजा राज्य करता था। पुण्योदय से उस की जयावती नाम की एक सुन्दर रानी थी । उन के विशाखभूति राजा का जीव वह देव स्वर्ग से चय कर विजय नाम का पुत्र हुआ ॥ 61-62॥

उसी राजा की दूसरी रानी मृगावती के विश्वनन्दी का जीव वह देव चय कर त्रिपृष्ठ नाम का महाबली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥63॥

इन में से विजय का शरीर चन्द्रवर्ण और त्रिपृष्ट का शरीर नीलवर्ण का था। दोनों दीप्ति, कान्ति और कला से संयुक्त थे। दोनों न्यायमार्ग में निरत, दक्ष, प्रतापयुक्त, शास्त्रज्ञानवाले थे। खेचर, भूचर और देवों के स्वामियों द्वारा उन के चरणकमलों की सेवा की जाती थी। दोनों महाविभव से सम्पन्न, दिव्य आभरणों से मण्डित क्रम से यौवन अवस्था को प्राप्त होकर लक्ष्मी के क्रीडागृह की उपमा को धारण करते थे। पूर्वोपार्जित महापुण्य के परिपाक से परम उदय को प्राप्त, दिव्य भोगोपभोगों से युक्त, दानादिगुणशाली वे दोनों भाई चन्द्रमा और सूर्य के समान मालूम पड़ते थे। वे दोनों इस अवसर्पिणीकाल के आध बलभद्र और वासुदेव थे । **अर्थ**ात् विजय प्रथम बलभद्र और त्रिपृष्ठ प्रथम नारायण थे ॥64-67॥

अथानन्तर इस भारतवर्ष के विजयाध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलकापुर नाम के नगर में मयूरग्रीव नाम का राजा राज्य करता था। उस की रानी नीलांजना थी। वह विशाखनन्द चिरकाल तक संसार-सागर में परिभ्रमण कर पुण्य के विपाक से स्वर्ग में गया और फिर वहाँ से चय कर उक्त राजा-रानी के अश्वग्रीव नाम का बुद्धिमान, त्रिखण्ड की लक्ष्मी से मण्डित, देवों से सेव्य, प्रतापी, भोग में तत्पर अर्धचक्री(प्रतिनारायण) पुत्र उत्पन्न हुआ ॥68-70॥

उसी विजया पर्वत की उत्तर श्रेणी में रथनूपुरचक्रवाल नाम की उत्तम नगरी थी। उसका स्वामी पुण्योदय से ज्वलनजटी नाम का अनेक विद्याओं से विभूषित, अति पुण्यात्मा और चरमशरीरी विद्याधर था ॥71-72॥

उसी ही विजयार्धपर्वतपर द्युतिलक नाम के महारमणीकपुर में चन्द्राभ नाम का एक विद्याधरों का स्वामी रहता था। उस की सुभद्रा नाम की प्रिया थी। उन के वायुवेगा नाम की रूप-कान्तिशालिनी पुत्री हुई। यौवन को प्राप्त होने पर ज्वलनजटी ने उसके साथ विवाह किया ।

उन के गुणों से सूर्य के समान अर्ककीति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ और स्वयंप्रभा नाम की दिव्यरूपवाली शुभलक्षणा पुत्री भी उत्पन्न हुई ॥ 73-75॥

एक बार धर्म में तत्पर वह स्वयंप्रभा जब अपने पिता को गन्धोदक और पुष्पमाला दे रही थी, तब सर्वाङ्गयौवनवती अपनी पुत्री को देख कर उस विद्याधरों के स्वामी ज्वलनजटी ने संभिन्नश्रोता नामवाले ज्योतिषी को बुलाकर पूछा कि कौन पुण्यवान् मेरी इस पुत्री का स्वामी होगा ? उसके प्रश्न के उत्तर में उसने कहा - हे राजन् , आप की पुत्री प्रथम अर्धचक्री त्रिपृष्ठ नारायण की यह महादेवी(पट्टरानी) होगी और उसके द्वारा दिये गये इस विजयाध पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधरों के चक्रवर्तीपने को तुम प्राप्त करोगे। मेरी यह शास्त्रोक्त बात अन्यथा नहीं हो सकती है ॥76-79॥

इस प्रकार उस ज्योतिषी के द्वारा कहे गये वाक्यपर निश्चय करके ज्वलनजटी राजाने उत्तम शास्त्रज्ञान से युक्त भक्ति-तत्पर इन्द्र नाम के मन्त्री को बुलाकर पत्र-सहित भेंट के साथ उ से पोदनपुर भेजा। वह आकाशमार्ग से शीघ्र ही वहाँ के पुष्पकरण्डक वन में पहुँचा ॥ 80-81॥

त्रिपृष्ठ ज्योतिषी के मुख से पहले ही उसके आगमन को जानकर स्वयं ही हर्ष से उसके सम्मुख जाकर बहुत सम्मान के साथ उस दूत को राजसभा में लिवा लाया । वह दूत भी श्रेष्ठ बहुमूल्य मणिनिर्मित, अनेक नृपवेष्टित सिंहासन पर बैठे हुए पोदनाधिपति को मस्तक से नमस्कार करके और पत्र-सहित भेंट उन्हें देकर यथास्थान बैठ गया ॥82-84॥

पोदनेश्वरने लिफाफे के ऊपर की मोहर को खोलकर उसके भीतर रखे हुए पत्र को पसारकर बाँचा, जिसमें कि इस प्रकार कार्य की सूचना थी ॥85॥

यहाँ रथनपुर नामक नगर से विद्याधरों का स्वामी, पुण्यबुद्धि, विनयावनत,न्यायमार्गरत, दक्ष, नमिवंशरूप गगन का सूर्य श्रीमान् ज्वलनजटी नाम का राजा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से उत्पन्न बाहुबली के वंश में पैदा हुए पोदनापुर के स्वामी श्री प्रजापति महीपाल को स्नेह से मस्तक द्वारा नमस्कार कर वह प्रजानाथ से इस प्रकार सविनय निवेदन करता है कि हम लोगों का वैवाहिक सम्बन्ध( आप का हमारे साथ) अथवा हमारा आप के साथ अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु हमारा आप का परम्परागत सम्बन्ध है। हम दोनों का वंश विशुद्ध है, अतः इस विषय में कोई परीक्षण नहीं करना चाहिए | मेरी पुत्री स्वयंप्रभा जो मानो साक्षात् दूसरी लक्ष्मी के समान है, वह मेरे पूज्य भागिनेय (भानेज) त्रिपृष्ठ की परम रति को विस्तारित करे। **अर्थ**ात् मेरी पुत्री आप के पुत्र की प्रिया होवे ॥86-91॥

प्रजापति राजा अपने उस बन्धु की इस कही गयी बात को सुनकर हर्ष से बोला - 'जो बात उन्हें इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है।' ऐसा कहकर उस समागत मन्त्री को सन्तुष्ट किया ॥12॥

तथा सम्मान-दानादि के द्वारा राजा से बिदा पाकर वह मन्त्री(दूत) शीघ्र ही अपने स्वामी के पास पहुँचा और कार्य की सिद्धि को निवेदन किया ॥13॥

तत्पश्चात् अर्ककीर्ति पुत्र के साथ विद्याधरों के स्वामी ज्वलनजटी ने शीघ्र ही स्वयम्प्रभा पुत्री को लाकर हर्ष से विवाह विधि के साथ स्वयं ही प्रीतिपूर्वक त्रिपृष्ठ के लिए दी। वह कन्या मानो आगे होनेवाली उत्तम राज्यलक्ष्मी के ही समान थी । अहो, पुण्य के उदय से मनुष्यों को कौन सी दुर्लभ वस्तु नहीं प्राप्त होती है ॥94-95॥

पुनः विद्याधरेश ज्वलनजटी ने अपने जामाता के लिए सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी ये दो विद्याएँ यथोक्त विधि से दी ॥96॥

गुप्तचर के मुख से उन दोनों के सम्पन्न हुए विवाह आदि की बात के श्रवणरूप अग्नि से प्रज्वलित हुआ वह नरपति अश्वग्रीव शीघ्र ही विद्याधरों से और सेना से संयुक्त होकर तथा चक्ररत्न आ द से अलंकृत होकर युद्ध के लिए रथनूपुर के पर्वतपर आया ॥97-98॥

उसके आगमन को सुनकर चतुरंगिणी सेना से युक्त हो अपने भाई विजय के साथ त्रिपृष्ठ पहले से ही वहाँपर आकर ठहर गया ॥99॥

तत्पश्चात् उस अद्भत युद्ध में भावी चक्रवर्ती त्रिपृष्ठने विद्योपनत मायावी एवं अन्य शस्त्रास्त्रों के द्वारा अतिपराक्रम से अश्वग्रीव को जीत लिया। तब आसन्नमृत्यु उस अश्वग्रीवने पाप के उदय से क्रोधित हो चक्ररत्न को निष्ठुरतापूर्वक त्रिपृष्ठ के ऊपर चलाया। वह चक्ररत्न त्रिपृष्ट की प्रदक्षिणा देकर उसके पुण्योदय से उस की दाहिनी भुजापर आकर विराजमान हो गया। तब त्रिपृष्ठने तीनखण्ड की लक्ष्मी को वश में करनेवाले और शत्रुओं के लिए भयंकर उस चक्र को शीघ्र लेकर निष्ठुर हृदय हो के क्रोध से अपने शत्रु को लक्ष्य करके फें का ।

रौद्रपरिणामी कुबुद्धि अश्वग्रीव भी उस चक्र के द्वारा मरण को प्राप्त होकर तथा बहुत आरम्भ-परिग्रहादि के द्वारा पूर्व में नरकायु के बाँधने

के महा अशुभ पापोदय से समस्त दुःखों की खानिभूत, सुख से दूर, घृणास्पद, सातवें नरक को प्राप्त हुआ ॥100-105॥
- इस के पश्चात् उस अश्वग्रीव के जीतने से जगद्-व्याप्त यश और ख्याति को प्राप्त कर चक्ररत्न के द्वारा तीनखण्डों में रहनेवाले सर्व राजाओंको, विद्याधरेशों को और व्यन्तरों के अधिपति मागध आदि देवों को अपने बल से वश में करके और उन से कन्यारत्न आदि विषयक सार पदार्थो को लेकर, तथा विजयाध पर्वत की दोनों श्रेणियों के आधिपत्यपर रथनूपुर के नरेश को नियुक्त कर, षडङ्गसेना से वेष्टित, बड़े भाई विजय के साथ दिग्विजय सिद्ध करके वह बहुपुण्यशाली श्रीमान् त्रिपृष्ठनारायण लीलापूर्वक लक्ष्मी-शोभा आदि से मण्डित अपने दिव्यपुर में प्रविष्ट हुआ ॥106-109॥
पूर्वोपार्जित पुण्य के परिपाक से सुदर्शनचक्र आदि सप्त रत्नों से अलंकृत, देव, विद्याधर और सोलह हजार राजाओं से नमस्कृत, और सोलह हजार राजपुत्रियों के साथ निरन्तर एकमात्र नाना प्रकार के भोगों को वह आदि वासुदेव त्रिपृष्ठ भोगने लगा ॥110-111॥
मरण-पर्यन्त वह अतिगृद्धि से भोगों को भोगता हुआ, चारित्र के अंदा से भी दूर रहता हुआ, और धर्म, दान, पूजनादि के नाममात्र को भी छोड़कर विषयों में अति आसक्त रहा । इस कारण और बहुत आरम्भ परिग्रहसे, तथा खोटी लेश्या से नरकायु को बाँधकर वह पापबुद्धि रौद्रध्यान से प्राणों को छोड़कर धर्म के बिना पाप के भार से सातवें नरक-सागर में गया ॥112-114॥
वहाँ अति बीभत्स, अति घृणास्पद उत्पत्तिस्थान में अधोमुख हुए उसका जन्म हुआ। दो घड़ी में ही पूर्ण शरीर को प्राप्त कर एक हजार बिच्छुओं के काटने से भी अधिक वेदना देनेवाली नरक-भूमिपर दारुण शब्द करता हुआ गिरा। पुनः वहाँ से एक सौ बीस कोश ऊपर उछलकर वज्रमय कंटकों से व्याप्त नरक की महा दुःखदायी भूमिपर वह गिरा ॥115-117॥
तब वहाँ वह दीनात्मा त्रिपृष्ठ का जीव मारने के लिए उद्धत नारकियों को तथा समस्त असाता की खानिरूप उस क्षेत्र को देखकर इस प्रकार चिन्तवन करने लगा ॥118॥
अहो, सर्वदुःखों की कारणभूत यह कौन-सी निन्द्य भूमि है. ? यहाँपर वेदना देने में अतिकुशल महाभयानक ये रौद्रस्वभावी नारकी कौन हैं ? मैं कौन हूँ ? सुख से दूर, अकेला मैं यहाँ कहाँ से आ गया हूँ ? अथवा किस दुष्कर्म से मैं इस अतिभयावने स्थानपर लाया गया हूँ ? इत्यादि चिन्तवन करने से शीघ्र प्राप्त हुए विभंगावधिज्ञान से अपने को नरक में पतित हुआ जानकर वह इस प्रकार से विलाप करने लगा ॥119-121॥
अहो, मैंने पूर्वभव में अनेक बार जीवराशियों का संहार किया, असत्य और कटुक-निन्द्य आदि वचन बोले, परायी लक्ष्मी, स्त्री और अन्य वस्तुओं को मैंने बलात्कार से सेवन किया, लोभग्रस्त होकर मुझ पापीने धनादि का संग्रह किया, अखाद्य वस्तुओं को खाया, असेवनीय पदार्थों का सेवन किया और निश्चय से पाँचों इन्द्रियों के वश होकर मैंने अपेय मदिरा आदि का पान किया ॥122-124॥
इस विषय में अधिक कहने से क्या, मुझ पापात्माने पूर्व भव में अपना ही घात करनेवाले सर्व पापों को किया। किन्तु स्वर्ग और मुक्ति को देनेवाला परम धर्म नहीं किया और न सुखदायी व्रतों को ही रंचमात्र पालन किया। न तप का अनुष्ठान ही किया और न कभी पात्रों को दान ही दिया । न जिनदेवादि की पूजा ही की और न कोई दूसरा शुभ काम ही किया । इसलिए यहाँपर उन महा पापाचरणवाले समस्त कार्यों के विपाक से यह महातीव्र वेदना मेरे सामने उपस्थित हुई है ॥125-128॥
अतएव अब मैं कहाँ जाऊँ, किसे पूछूं और किससे कहूँ ? मैं किसकी शरण जाऊँ ? यहाँ पर कौन मेरा रक्षक होगा ? इत्यादि विचार से उत्पन्न हुए दुरुत्तर पश्चात्तापों से जिस का हृदय जल रहा है ऐसा वह त्रिपृष्ठ का जीव अति दुःख भोगता हुआ अवस्थित था, तभी पूर्व में उत्पन्न हुए पापी नारकी लोग उसके समीप तत्क्षण आकर इस नवीन नारकी को मुद्गर आदि के प्रहारों से मारने लगे ॥129-131॥
कितने ही दुष्ट नारकी उसके नेत्र उखाड़ने लगे, कितने ही उसके सर्व अंग का विदारण करने लगे और कितने ही उसकी आँतों की आवली को बाहर निकालने लगे। कितने ही निर्दयी नारकी उसका क्वाथ (काढ़ा) बनाने लगे, कितने ही शस्त्रों के द्वारा उसके शरीर को तिल समान खण्ड-खण्ड करने लगे। कितने ही नारकी उसके सर्व अंग और उपांगों को काटने लगे। कितनोंने आकर चिल्लाते हुए उ से उठाकर तप्त तेल के कड़ाह में पकाने के लिए डाल दिया। इस से उसका सर्वांग जल गया और वह अत्यन्त दाह से पीड़ित होकर वहाँ से निकल कर शान्ति पाने के लिए वैतरणी के जल में जाकर डूबा। उसके अत्यन्त खारे, दुर्गन्धित पानी की लहरों आदि से पीड़ित होकर विश्राम पाने के लिए वह अतिदुष्कर असिपत्रवन में गया ॥132-136॥
वायु के वेग से गिरे हुए उस वन के वृक्षों के तलवार की धार के समान तीक्ष्ण पत्तों से उसका शरीर छिन्नभिन्न होकर निश्चयतः अति

भयानक हो गया ॥137॥

तब अति खण्डित शरीरवाला वह दीन नारकी सर्व दुःखों के समुद्र में डुब की लगाता हुआ उस दुःख की शान्ति के लिए पर्वत के मध्यभाग में प्रविष्ट हुआ। वहाँपर भी पापी क्रूर नारकी विक्रिया के बल से व्याघ्र, सिंह, रीछ आदि के रूप बनाकर उ से खाने लगे। इनको आदि लेकरके अनेक प्रकार के कवि के वचन-अगोचर, उपमा-रहित दुःखों को वह नारकी पाप के विपाक से निरन्तर भोगने लगा ॥138-140॥

सभी समुद्रों के जल-पान से भी नहीं शान्त होनेवाली प्यास से पीड़ित रहते हुए भी उ से कभी एक बिन्दु जल पीने के लिए नहीं मिला । संसार के समस्त अन्न के भक्षण से भी नहीं शान्त होनेवाली भूख से पीड़ित होनेपर भी कभी तिल-प्रमाण भी आहार खाने के लिए नहीं मिला ॥141-142॥

उन नरकों में शीत वेदना इतनी अधिक है कि यदि एक लाख योजन के प्रमाणवाला लोहे का गोला किसी के द्वारा वहाँ डाल दिया जाये तो वह वहाँ के अति शीत तुषार से अहो शीघ्र ही शतधा खण्ड-खण्ड हो जाये ॥143॥

इन दुःखों को आदि लेकर उन नारकियों के परस्पर में दिये गये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दुःखों को तथा क्षेत्र-जनित असह्य महादुःखों को वह रौद्रबुद्धि नारकी पापकर्म के विपाक से निरन्तर भोगने लगा। वहाँपर त्रिपृष्ठ के जीव उस नारकी की आयु तेतीस सागरोपम थी, कृष्ण लेश्या थी और वह सदा दुःखों से सन्तप्त रहता था ॥144-145॥

## चौथा-अधिकार

सिंह आदि सात भव

कथा :

मुक्ति के नाथ, आत्मीय, अनन्तगुणशाली, त्रिजगत्स्वामी, तीर्थश श्रीमान् महावीर भगवान को नमस्कार हो ॥1॥

अथानन्तर वह त्रिपृष्ठ नारायण का नार की जीव आयु के क्षय होनेपर वहाँ से निकलकर वनिसिंह नामक पर्वतपर पाप के उदय से सिंह हुआ ॥2॥

वहाँपर भी हिंसादि महाकर काँ से पाप का उपार्जन कर उन के उदय से वह निन्दनीय रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरकभूमि को प्राप्त हुआ ॥3॥

वहाँपर एक सागरोपम काल तक महादुःखों को भोगकर खोटे कर्मों से बँधा हुआ वह नार की वहाँ से निकलकर इसी प्रथम शुभ जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र के सिद्धकूट के पूर्वभाग में शिखरपर तीक्ष्ण दाढ़ोंवाला, मृगों का यमरूप मृगाधीश सिंह हुआ ॥4-5॥

किसी समय भव्यों के हित में तत्पर, अनेक गुणों के सागर, चारणऋद्धि के धारक अमितगुण नामक आकाशगामी मुनि के साथ आकाश में जाते हुए अजितंजय नाम के मुनिराजने उ से एक मृग को खाते हुए देखा ॥6-7॥

तीर्थंकरदेवभाषित वचन का स्मरण कर वे चारण-ऋद्धिधारियों में अग्रणी मुनिराज दया से प्रेरित होकर पृथ्वीपर उतरकर और एक शिलापीठपर उस सिंह के समीप बैठकर उसके हितार्थ इस प्रकार बोले-भो भो भव्य मृगराज, मेरे हितकारी वचन सुन ॥8-9॥

तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायण के भव में पुण्य के उदय से सर्व इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले, तीन खण्ड की साम्राज्यलक्ष्मी को पाकर दिव्य स्त्रियों के साथ धर्म के विना परम मनोहर भोगों को विषयान्ध बुद्धि होकर भोगा है ॥10-11॥

उन भोगों के सेवन से उत्पन्न हुए महापाप के परिपाक से मरकर तू सातवें नरक में गया । वहाँपर दुष्कर्म की चेष्टावाले तुझे पापी नारकियोंने पूर्व जन्म में स्नान करने से उत्पन्न हुए पाप के फल स्वरूप खारे, पीव और कीचड़मय जल से भरी हुई भयानक वैतरणी में प्रवेश कराया ॥12-13॥

उसी भव में किये गये परस्त्रीसंग के पाप से उन नारकियोंने अति सन्तप्त लोहे की पुतलियों से बलात् बार-बार आलिंगन कराया, और तपे हुए लोहे के पिण्डों से मार-मारकर तेरा चूर्ण कर दिया। उस भव में की गयी जीव-हिंसा के पाप से उन नारकियोंने नाना प्रकार के बन्धनों से बाँधकर, कान, ओठ और नाक आदि अंगों को छेदन कर और शस्त्रों से तिल-तिल समान सूक्ष्म खण्ड कर-करके तुझे खूब दुःख दिये हैं और अतिदीन बने हुए तुझे शूलीपर चढ़ाया है ॥14-16॥

इनको आदि लेकर नाना प्रकार की घोर कोटि-कोटि यातनाओं से तुझे नित्य खूब पीड़ित किया है और तेरे प्रार्थना करनेपर भी तुझे किसी ने शरण नहीं दी ॥17॥

आयु के क्षय होनेपर नरक से निकलकर कर्म वैरियों से घिरा पराधीन हुआ तू यहाँ पर सिंह हुआ। तब भी तुझ पापबुद्धिने जीवों की हिंसा कर-करके महापापों का उपार्जन किया, तथा भख-प्यास, गर्मी-सर्दी और वर्षा आदि के महादुःखों से पीड़ित हो अति दुःख भोगता हुआ वहाँपर उपार्जित पाप कर्म के विपाक से दुष्ट तू समस्त दुःखों की खानिरूप प्रथम पृथ्वी को प्राप्त हुआ ॥18-20॥

वहाँ से निकलकर तू पुनः यहाँपर सिंह हुआ है और आज भी परम क्रूरता को धारण कर इस दीन हरिण को खा रहा है ? क्या तुझे नरक की वे सब वेदनाएँ विस्मृत हो गयी हैं ॥21॥

अतः अब तू शीघ्र ही दुर्गति के नाश के लिए क्रूरता को छोड़कर व्रतपूर्वक पुण्य के सागरस्वरूप अनशन को ग्रहण कर ॥22॥

मुनिराज के इस प्रकार के वचन सुनकर और जातिस्मरण ज्ञान को प्राप्त कर उसी समय घोर संसाब के दुःख-समुदाय के भय से सर्वांग में कम्पित होकर आँखों से आँसुओं को बहाता हुआ वह सिंह अत्यन्त शान्तचित्त हो गया। पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए शोक से अश्रुपात करते हुए और अपनी ओर एकटक दृष्टि से देखते हुए उस सिंह को देखकर और उ से अन्तरंग में शान्तचित्त हुआ जानकर मुनिने दया से प्रेरित होकर इस प्रकार कहा ॥23-25॥

हे मृगराज, आज से कितने ही भव पूर्व तू पुरूरवा भील था । वहाँ धर्म का लेश पाकर उसके फल से सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर पुण्य के उदय से तू भरतनरेश का महान पुत्र मरीचि हुआ। तब तूने यहाँपर ऋषभदेव स्वामी के साथ दीक्षा धारण कर ली ॥ 26-27॥

पुनः परीषहों के भय से सन्मार्ग को छोड़कर पाप के उदय से दुर्गति के कारणभूत पाखण्डियों का वेष ग्रहण कर, सन्माग में दूषण लगाकर और कुमार्ग को बढ़ाते हुए अपने पितामह ऋषभदेव के उत्तम वचनों का अनादर करके अत्यन्त दुष्टबुद्धि होकर मिथ्यात्व का उपार्जन किया । पुनः उस मिथ्यात्व कर्म से उत्पन्न हुए पाप से जन्म-मरणादि से पीड़ित होते हुए तुम इस संसार-कानन में परिभ्रमण करते हुए दुष्कर्म से उत्पन्न महादुःखों को प्राप्त हुए हो ॥28-30॥

इष्ट-वस्तुओं के वियोग से, दुर्जन मनुष्यों के और अपने अनिष्टकारी वस्तुओं के संयोग से और भारी रोग-क्लेशादि के दुःखों से तुम पीडित रहे हो। इस के पश्चात् भारी पाप के उदय से अति दीर्घकालतक तुमने सर्वप्रकार की असाताओं से परिपूर्ण अस-स्थावर योनियों में पराधीन होकर घूमते हुए महानिन्द्य, अतिघोर दुःखों को असंख्यात कालतक भोगा ॥31-33॥

पुनः किसी पुण्य के निमित्त से तुम विश्वनन्दी के भव को प्राप्त हुए और वहाँपर संयम का पालन कर तथा निदान का बन्ध कर उसके फल से तुम त्रिपृष्ठ राजा हुए ॥34॥

अब इस से आगे दसवें भव में तुम इसी भारतवर्ष में जगत् का हित करनेवाले अन्तिम तीर्थकर नियम से होओगे ॥34-35॥

जम्बूद्वीपस्थ पूर्व विदेह नाम के क्षेत्र में श्रीधर नामक तीर्थकर समवशरण में विराजमान हैं। उन से किसीने पूछा-हे भगवन् , इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जो अन्तिम तीर्थकर होगा, वह आज कहाँपर है । इस प्रकार के प्रश्न करनेपर जिनेन्द्रदेवने अपने गणों के प्रति तुम्हारी यह त्रिकाल विषयक शुभ कथा कही ॥36-38॥

जिनेन्द्रदेव के श्रीमुख से सुनकर मैंने तेरे हित के लिए यह भूत और भावी सर्व दिव्य कथानक तुझे कहा है ॥39॥

अब तू चिरकाल से आये हुए, संसार के कारणभूत इस मिथ्यात्व को हालाहल विष के समान समझ के छोड़ और पवित्रता का कारणभूत, धर्मरूप कल्पवृक्ष का मूल, मुक्तिरूप प्रासाद का प्रथम सोपान यह सम्यक्त्व शंकादि दोषों से रहित होकर के शीघ्र स्वीकार कर ॥ 40-41॥

इस सम्यक्त्व के प्रभाव से तेरे निश्चय से शीघ्र विश्व के समस्त अभ्युदय, तीन जगत् के सुख और तीर्थकरादि के उत्तम पद प्राप्त होंगे। क्योंकि तीन जगत् में सम्यग्दर्शन के समान सर्वअभ्युदयों का साधक धर्म न हुआ न है और न होगा ॥42-43॥

तथा समस्त अनर्थों का कारण मिथ्यात्व-जैसा पाप तीन लोक में न हुआ, न है और न होगा ॥44॥

जिनेन्द्रदेव ने सात तत्त्वोंके, और सत्यार्थ देवशास्त्र-गुरुओं के सन्देह-रहित श्रद्धान को ज्ञान-चारित्र का देनेवाला सम्यग्दर्शन कहा है ॥45॥

इसलिए तू धर्म की प्राप्ति के लिए मांस भक्षण एवं प्राणिघात आदि को छोड़कर स्वर्ग-मुक्ति आदि के सुख देनेवाले इस सम्यग्दर्शन को तथा श्री जिनदेव-कथित, जगत्-हितकारी अतीव शुद्धि-प्रदाता सभी निर्दोष सव्रतों को संन्यास के साथ ग्रहण कर ॥46-47॥

यदि तुझे संसार के परिभ्रमण से दुःख है, तो आज से ही सन्मार्ग में रुचि को धारण कर और दुर्गि से शीघ्र विराम ले ॥48॥

इस प्रकार योगिराज के मुखचन्द्र से प्रकट हुए उत्तम धर्मरूपी अमृत रस को पीकर और चिरकाल से आये हुए घोर मिथ्यात्व को शीघ्र वमन कर, देव-पूजित मुनि-युगल की बार-बार प्रदक्षिणा और मस्तक से नमस्कार करके काललब्धि के बल से उस सिंहने श्रायक के सर्वव्रतों के और संन्यास के साथ तत्त्वार्थ का एवं देव-शास्त्र गुरु का परम श्रद्वान हृदय में धारण करके सम्यग्दर्शन को स्वीकार किया ॥ 49-51॥

निराहार रहने के बिना सिंह के व्रत कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि मृगाहारि-सिंहों का मांस के सिवाय कहीं भी और कोई दूसरा आहार नहीं है ॥52॥

अतः उस सिंह का यह परम धैर्य है कि उसने इस प्रकार का उत्तम व्रत का आचरण करना स्वीकार किया। अथवा काललब्धि से इस संसार में क्या दुर्घट बात सुघट नहीं हो जाती है ॥53॥

इसके पश्चात् वह संयमी सिंह एकदम शान्त बुद्धिवाला हो गया। वह चित्र में लिखित सिंह के समान शान्त शरीर और सर्व सावद्य से रहित होकर संसार की खोटी स्थिति का मन से नित्य बार-बार भावना करता हुआ, भूख-प्यास आदि से उत्पन्न तथा वन-जनित सभी बाधाओं का धैय के साथ सहन करता हुआ, सर्व प्राणियोंपर निरन्तर दया धारण करता हुआ, आत-रौद्र इन दोनों प्रकार के अप्रशस्त ध्यानों को दूर कर अपने एकाग्रचित्त से पापों की हानि के लिए धर्मध्यान और सम्यग्दर्शनादि का चिन्तवन करता हुआ निश्चल अंग करके उच्च संयमी मुनि के समान स्थिर हो गया ॥54-57॥

यावज्जीवन इस प्रकार उत्कृष्ट रीति से सभी व्रत समूह का संन्याससहित पालन कर और अन्त में समाधि के साथ प्राणों का त्याग कर वह सिंह . व्रतादि पालन करने से उत्पन्न हुए पुण्य के फल से सौधर्म नामक कल्प में सिंहकेतु नाम का महाऋद्धिवाला महान देव हुआ ॥ 58-59॥

उपपाद शिला के भीतर दो घड़ी काल में ही नवयौवन मण्डित सम्पूर्ण शरीर को प्राप्त कर और अवधिज्ञान से पूर्व भव में पालन किये गये व्रत-जनित फल को और प्रशंसनीय धर्म के माहात्म्य को जानकर उस देवने धर्म में अपनी बुद्धि को और भी दृढ़ किया ॥60-61॥

तत्पश्चात् चैत्यालय में जाकर उसने अर्हन्तों की मणिमयी मूर्तियों की दिव्य अष्टविध द्रव्यों से भक्ति के साथ महापूजन किया ॥62॥

पुनः सर्व अभ्युदय की सिद्धि के लिए उसने मनुष्य लोक और नन्दीश्वर आदि द्वीपों में स्थित श्री प्रतिमाओं का और श्री जिनेन्द्रों तथा गणधरा दि मुनीन्द्रों का पूजन करके, प्रणाम करके और हर्ष के साथ उन से जीवादि सुतत्त्वों का उपदेश सुनकर और अनेक प्रकार से पुण्य का उपार्जन कर वापस अपने स्थानपर आकर अपने पुण्य से उत्पन्न हुई महादेवियों की और विमान आदि सम्बन्धी सर्व लक्ष्मी को उसने स्वीकार किया ॥63-65॥

इस प्रकार वह देव अपनी उत्तम चेष्टा से जिनप्रतिमापूजन, धर्मश्रवण आदि के द्वारा नाना प्रकार के पुण्य का उपार्जन करता हुआ स्वर्ग में समय बिताने लगा। उसका दिव्य शरीर सात हाथ उन्नत था, उसके नेत्र निमेष-उन्मेष आदि से रहित थे, पहली रत्नप्रभा पृथिवी के अन्ततक के अवधिज्ञान और तत्प्रमाण विक्रिया करने की शक्ति से युक्त था, दो हजार वर्ष बीतनेपर मन से अमृत-आहार करता था । तीस दिन बीतनेपर कुछ थोडी-सी श्वास लेता था और दिव्याङ्गनाओं के रूप, विलास और नृत्य को देखता हुआ, देव-भवन, उद्यान और पर्वतादिपर अपनी देवियों के साथ क्रीडा करता, असंख्य द्वीपों और पर्वतोंपर स्वयं अपनी इच्छानुसार विभूति के साथ विहार करता रहता था। वह सर्व दुःखों से रहित और प्रस्वेद, रक्त-मांसादि सर्व धातुओं से रहित शरीरवाला था, समस्त सुखरूप अमृत-सागर में निमग्न रहता था, और वह दो सागरोपम की आयु का धारक था। इस प्रकार पूर्व आचरित चारित्र से उपार्जित नाना प्रकार के भोगों को भोगता हुआ वह देव बीतते हुए काल को नहीं जानता हुआ आनन्द से स्वर्ग में रहने लगा ॥66-71॥

अथानन्तर पूर्वधातकीखण्ड में पूर्व विदेह में मंगलावती नाम का मंगलकारक देश है, उसके मध्य में एक सौ कोश ऊँचा विजयापर्वत है, वह कूट, जिनालय, वनश्रेणी और नगर आदि से शोभायमान है । उस पर्वत की उत्तरश्रेणी में कनकप्रभ नाम का एक नगर है, जो ॥ सुवर्णमय प्राकार, प्रतोली और जिनालयों से शोभित है। उसका स्वामी कनकपुंख नाम का एक विद्याधरेश था । उस की सुवर्ण के समान उज्ज्वल देहकान्ति को धारण करनेवाली कनकमाला नाम की प्रिया थी। उन दोनों के वह सिंहकेतुदेव सौधर्म स्वर्ग से च्युत होकर पुण्य से स्वर्णकान्ति का धारक कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ ॥72-76॥

उसके जन्म होने पर उसके पिता ने सर्व-प्रथम जिनालय में पंचकल्याणकों के भोक्ता तीर्थंकरदेवों का कल्याण-वर्धक महाभिषेकपूर्वक

महापूजन करके, उत्तम दान-मानादि से बन्धुओं, दीनजनों और वन्दीगणों को तृप्त कर गीत, नृत्य, वादित्रादि से उसका जन्म-महोत्सव किया ॥77-78॥

सकल जनों को प्रिय वह सुन्दर बालक अपने योग्य दुग्ध-पान, अन्नाहार और वस्त्राभूषणादि को प्राप्त कर बालचन्द्र के समान क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर, अनेक शास्त्रों को पढ़कर, और समस्त कलाएँ सीखकर रूप, लावण्य और कान्ति आदि गुणों के द्वारा देव के समान शोभा को प्राप्त हुआ ॥79-80॥

तदनन्तर यौवन अवस्था में उसके पिताने गृहस्थ धर्म की प्राप्ति के लिए हर्ष से विधिपर्वक कनकवती नाम की कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया ॥8॥

किसी एक दिन वह अपनी भार्या के साथ क्रीडा करने और जिनप्रतिमाओं का पूजन-वन्दन करने के लिए महामेरु पर्वतपर गया ॥82॥

वहाँ पर अवधिज्ञानरूप नेत्र के धारक, आकाशगामी आदि अनेक ऋद्धियों से भूषित उत्तम मुनिराज को देखकर उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर और मस्तक से नमस्कार करके धर्म-प्राप्ति के लिए धर्म के इच्छुक उसने धर्म का स्वरूप पूछा-हे भगवन् , मुझे धर्म का स्वरूप कहिए, जिस से कि शिवपद की प्राप्ति होती है ॥83-84॥

उसके वचन सुनकर योगीश्वर ने उस को अभीष्ट वचन इस प्रकार कहे-हे चतुर, मैं धर्म का स्वरूप कहता हूँ, तू एकाग्र चित्त से सुन ॥85॥

जो संसार-समद्र में पतन से भव्यों का उद्धार कर तीन जगत के राज्य स्वरूप शिवालय में रखता है, उ से परमार्थ से धर्म जानो ॥86॥

जिस के द्वारा इस लोक में प्राणियों के सैकड़ों मनोरथों का आगमनरूप अभ्युदय प्राप्त होता है, पाप-जनित दुःख आदि विलीन हो जाते हैं और तीन लोक में कीर्ति फैलती है, तथा परलोक में जिस के द्वारा देवेन्द्र आदि की विभूतियाँ, सर्वार्थसिद्धि-कारक तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव आदि पद प्राप्त होते हैं, उ से तुम सर्व सुखों का भण्डार केवलि-भाषित धर्म जानो। वह धर्म अहिंसा लक्षणवाला है, सार है और निष्पाप है। इस के अतिरिक्त और कोई धर्म सत्य नहीं है ॥87-89॥

वह धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्यागरूप है, ईया, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और उत्सर्गसमितिरूप है, तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिस्वरूप है । ज्ञानी जन राग से दूर रहते हुए इन तेरह प्रकारों से उस धर्म की साधना करते हैं। तथा सर्व मूलगुणों से क्षमादिदश लक्षणों से मोह और इन्द्रिय-चोरों को जीतकर वह परम धर्म अर्जित किया जाता है ॥90-92॥

हे धीमन् , तुम्हें इस मुनि-विषयक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए । हे भव्य, बाल्यकाल होनेपर भी तुम काम आदि शत्रुओं को तपरूपी खड्ग से शीघ्र नाश कर अपने चित्त में उक्त धर्म को धारण करो और अपने को धर्म से अलंकृत करो। धर्म के लिए तम घर आदि को छोड़ो, धर्म के सिवाय तुम अन्य कुछ भी आचरण मत करो, धर्म की शरण जाओ, धर्म में ही निरन्तर संलग्न रहो और यह करके सदा यही प्रार्थना करो कि हे धर्म, तुम मेरी रक्षा कर ॥93-95॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या है, तू मोहमहाभट को मारकर सर्व प्रयत्न से मुक्ति प्राप्ति के लिए शीघ्र उत्तम धर्म को स्वीकार कर ॥ 96॥

इस प्रकार उन मुनिराज के तथ्यपूर्ण, सद्-धर्मसूचक वाक्य सुनकर संसार, शरीर और स्त्री आदि में वैराग्य को प्राप्त होकर वह इस प्रकार सोचने लगा-अहो, पर-हित के इच्छुक ये मुनिराज, मेरे हित के कारणभूत इन वचनों को कह रहे हैं, अतः मैं मुक्ति के लिए शीघ्र ही सारभूत तप को ग्रहण करता हूँ ॥97-98॥

क्योंकि यह ज्ञात नहीं होता है कि मनुष्यों की कब मृत्यु होगी? यह यमराज गर्भस्थों को और आज ही उत्पन्न हुए बच्चों को मार डालता है ॥ 99॥

जब यह यम अहमिन्द्र और देवेन्द्र आदि को भी कालसे-समय आने परमार गिराता है, तब हमारे जैसे दीन पुरुषों की तो इस जीवन आदि में क्या आशा की जा सकती है ॥100॥

'हम धर्म बुढ़ापा आनेपर करेंगे।' ऐसा मानकर जो शठ पुरुष यथासमय धर्म नहीं करते हैं, वे पापोदय से क्षणभर में यम के ग्रासपने को प्राप्त होते हैं ॥101॥

इसलिए चतुरजनों को अपने मरण की प्रतिसमय आशं का करके सभी अवस्थाओं में निरन्तर धर्म करना चाहिए और काल का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । **अर्थ**ात् धर्म-सेवन में प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥102॥

ऐसा हृदय में विचारकर और अपनी कान्ता को पिशाची समझकर उस बुद्धिमान कनकोज्ज्वल विद्याधरने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर एवं साधु के चरणों की आराधना कर मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक तीन लोक से पूजनीय स्वर्ग और मुक्ति के सुखों की जननी ऐसी सारभूत जिनदीक्षा को मुक्ति के लिए ग्रहण कर लिये ॥103-104॥

तत्पश्चात् वे सुज्ञानी कनकोज्ज्वल मुनि आर्त-रौद्रध्यान और दुर्लेश्या को छोड़कर, प्रयत्न के साथ शुभ धर्मध्यान और शुक्ललेश्या सदा धारण करते हुए, विकथालाप और निरर्थक बातचीत को छोडकर उत्तम धर्मकथा करते. सिद्धान्तशास्त्रों को पढते, सज्जनों को धर्म का उपदेश देते, सराग स्थान और सरागी पुरुषों का संगम छोड़ते, ध्यान की सिद्धि के लिए गुफा, वन, श्मशान, पर्वत आदि निर्जन स्थानों में बसते, अटवी, आम, देशादिक में ममत्वरहित चित्त होकर विहार करते हुए कर्मों का नाश करने के लिए अत्यन्त उग्र बारह प्रकार का तपश्चरण करने लगे ॥105-108॥

इनको आदि लेकर अन्य प्रशस्त कर्तव्यों को तथा सभी उत्तम मूलगुणों को यति-आचारोक्त मार्ग से पालकर, और मरण-पर्यन्त निर्दोष संयम को पालकर जीवन के अन्त में उन्होंने संन्यास को धारण कर लिया। चारों प्रकार के आहारों का और अपने शरीर आदि में ममता का त्याग कर उन मुनिराज ने अतिधैर्य के साथ भूख, प्यास आदि परीषहों को जीतकर एवं मुक्ति लक्ष्मी के साधन में उद्यत हो अपने वीर्य को प्रकट कर सभी आराधनाओं की प्रयत्न से समाधिद्वारा आराधना कर, निर्विकल्पमन हो उन यतिराजने धर्मध्यान से प्राणों को छोड़ा और तपश्चरण एवं व्रत-पालन से उपार्जित पुण्य के द्वारा वह लान्तव नाम के स्वर्ग में अनेक. कल्याणयुक्त विभूति का धारक महर्द्धिक देव हुआ ॥109-113॥

वहाँ पर तत्काल उत्पन्न हए अपने अवधिज्ञान से पर्व भव में किये गये तप का फल जानकर वह देव धर्म में दृढ़चित्त हो और भी श्रीधर्म की सिद्धि के लिए तीन लोक में स्थित जिनेन्द्रों की प्रतिमाओं की तथा अन्तिों , गणधरों और मुनिजनों का नित्य पूजन-नमन करते हुए उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करने लगा ॥114-115॥

वहाँ पर उस की तेरह सागरोपम आयु थी, पाँच हाथ उन्नत शरीर था, तेरह हजार वर्षों से हृदय द्वारा अमृत-आहार को सेवन करता था, साढ़े छह मास बीतनेपर श्वासोच्छ्वास लेता था, सुगन्धित शरीर था, नीचे तीसरी पृथिवीतक व्याप्त अवधिज्ञान और इतनी ही विक्रिया करने की शक्ति से सम्पन्न था, सप्तधातु, मल-मूत्र, प्रस्वेदादि से रहित दिव्य शरीर का धारक था, महान् सम्यग्दृष्टि, शुभध्यान और जिनपूजन में निरत रहता था। सुख-कारक नृत्य, गीत और मधुर वादित्रों के द्वारा दिव्य देवियों के साथ निरन्तर महान् भोगों को भोगता हुआ, चारित्र में भावना करता हुआ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप रत्न से मण्डित तथा देवों से सेव्य, वह देवराज सुखरूप अमृतसागर में मग्न रहता हुआ आनन्द से रहने लगा ॥116-120॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीप के कोशल नामक देश में अयोध्या नाम की रमणीक नगरी है, जो सज्जनों से भरी हुई है। पुण्योदय से उस नगरी का स्वामी वज्रसेन राजा था और शील को धारण करनेवाली शीलवती नाम की उस की रानी थी ॥121-122॥

उन दोनों के स्वर्ग से च्युत होकर वह देव पुण्य से दिव्य लक्षण-परिपूर्ण देहवाला हरिषेण नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥123॥

राजाने अपने बन्धुजनों के साथ बड़ी विभूति से उसका जन्ममहोत्सव एवं अन्य सभी मांगलिक विधि-विधान किये । क्रमशः भोगोपभोगों के द्वारा बुद्धिमत्ता से युक्त उसने कुमारावस्था को प्राप्त कर धर्मादि पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए शस्त्रविद्या के साथ जैन सिद्धान्त के सारभूत तत्त्वार्थ को पढ़कर, रूप, लावण्य, तेज, शरीर कान्ति और दीप्ति आदि सद्-गुणों के द्वारा जनता को आनन्दित करता हुआ वह दिव्य वस्त्राभरण आदि वेष-भूषा से देव के समान शोभा को प्राप्त हुआ ॥124-126॥

तत्पश्चात् यौवनावस्था में पुण्योदय से बहुत-सी राजकुमारियों को प्राप्त कर और पिता की राज्यलक्ष्मी के पद को पाकर वह उत्तम सुख को भोगने लगा ॥127॥

पुनः सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ गृहस्थों के धर्म की सिद्धि के लिए श्रावकों के सद्-व्रतों को प्रमादरहित होकर पालन करता, अष्टमी और चतुर्दशी को सर्व पापभोगों का त्याग करके मुनि समान होकर वह बुद्धिमान मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रोषधोपवास को पालता और प्रातःकाल शयन से उठकर सर्वप्रथम सामायिक, तीर्थंकरस्तवन आदि आवश्यकों को प्रयत्न के साथ करता था। पश्चात् धर्म की वृद्धि के लिए स्नान करके धुले हुए वस्त्र पहनकर भक्ति के साथ अपने घर के जिनालय में जाकर विभूति के साथ देव-पूजन करके योग्यकाल में योग्य सुपात्र के लिए त्रिवर्ग की सिद्धि करनेवाले प्रासुक मधुर दान को वह चतुर यथाविधि नवधा भक्ति के साथ साक्षात् स्वयं दान देता

था ॥128-132॥

अपराह्णकाल में स्वयोग्य कार्यों को करके पुनः मन को जीतनेवाला वह हरिषेण राजा पुण्य की प्राप्ति के लिए सायंकाल के समय सामायिक आदि सर्व धर्म-कार्यों को भोज करता था ॥133॥

धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए वह बड़े भारी संघ के साथ अर्हन्त, केवली, योगीन्द्र और साधुओं के दर्शन-वन्दन के लिए यात्राएँ करता था, उन से तत्त्व और आचारादि से मिश्रित **अर्थ**ात् द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग आदि सर्व अनुयोगयुक्त सुख के सागर उत्तमधर्म को राग की हानि और ज्ञान की वृद्धि के लिए त्रियोगशुद्धिपूर्वक सुनता था ॥134-135॥

यात्राओं से लौटकर वह हरिषेण राजा धर्म के लिए धर्म-शालियों का उन के गुणों से अनुरंजित होकर प्रीति से यथायोग्य दान-सम्मान के द्वारा साधर्मी-वात्सल्य करता था। **अर्थ**ात् प्री देकर वस्त्राभूषणादि से साधर्मी जनों का यथोचित सम्मान करता था ॥136॥

वह बुद्धिमान राजा प्राचीन जिन चैत्यालयों का उद्धार करके तथा नाना प्रकार की प्रतिष्ठा, पूजनादि के द्वारा सदा ही जैनशासन के माहात्म्य को जगत में व्यक्त करता रहता था॥१३७॥

वह पुण्यात्मा जिस कार्य को कर सकता था, उस धर्मकार्य को सर्वशक्ति से सदा आचरण करता और जि से करने के लिए समर्थ नहीं होता, उस करने की भावना करता रहता था ॥138॥

इत्यादि अनेक प्रकार के आचरणों से वह स्वयं धर्म करता, तथा मन, वचन और काय से सदुपदेशों के द्वारा अन्य भव्य जीवों से कराता हुआ त्रिवर्ग (धर्म, **अर्थ**, काम) की वृद्धि करनेवाले राज्य को न्यायमार्ग से पालन करता हुआ वह बुद्धिमान राजा अपने पुण्योदय से प्राप्त परम भोगों को भोगने लगा ॥139-140॥

इस प्रकार पुण्य के परिपाक से उत्तम राज्य-लक्ष्मी को पाकर संसार में सर्व ओर जिस की कीर्ति फैल रही है, ऐसा वह हरिषेण नरेश वहाँ पर सारभूत अनुपम सुखों को भोगता हुआ समय व्यतीत करने लगा। ऐसा जानकर सुख के इच्छुक पुरुषों को शिवपद की प्राप्ति के लिए परम यत्न से उत्तम धर्म का सेवन करना चाहिए ॥141॥

मैंने उत्तम विधि के साथ पहले धर्म आचरण किया है। मैं अब भी प्रतिदिन धर्म को सेवन करता हूँ, धर्म के द्वारा निर्मल चारित्र को पालता हूँ, ऐसे धर्म को मेरा नित्य नमस्कार है। धर्म से अन्य किसी का मैं आश्रय नहीं लेता हूँ, किन्तु पाप से दूर रहकर धर्म की शरण जाता हूँ। भव-भय से डरकर मैं धर्म में मन को संलग्न करता हूँ। हे धर्म, मुझे पाप से बचाओ ॥142॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीति-विरचित श्री वीर-वर्धमानचरित में सिंह आदि सात भवों का और उन में धर्म की प्राप्ति का वर्णन करनेवाला चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ ॥4॥

## पाँचवाँ-अधिकार

देवादि उत्तम चार भव

कथा :

कर्म शत्रुओं के विजेता, वीर पुरुषों में अग्रणी और रुद्रकृत अनेक उपसर्गों एवं परीषहों के सहन करने में समर्थ श्री वीर जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर किसी समय वह हरिषेण राजा काललब्धि की प्राप्ति से अपने विवेक से निर्मल चित्त में इस प्रकार विचारने लगा कि मेरा यह आत्मा किस स्वरूपवाला है और ये शरीर आदि किस प्रकार के स्वरूपवाले हैं ? बन्ध का कारण यह कुटुम्ब किस प्रकार का है ? नित्य सुख की प्राप्ति मुझे कैसे होगी और कैसे मेरी यह आशा विनष्ट होगी ? लोक में मेरा हित और अहित क्या है ? यहाँ मेरा क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ॥2-4॥

अहो, मैं दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मावाला हूँ और ये शरीरादि के पुद्गल अपवित्र, दुर्गन्धि और अचेतन हैं ॥5॥

जैसे यहाँ पर रात्रि के समय ऊँचे वृक्षपर पक्षियों का समूह मिल जाता है उसी प्रकार मनुष्यकुल में भी ये स्त्री-पुत्रादि का कुटुम्ब मिल रहा है, किन्तु सब अपने-अपने कार्य में परायण हैं ॥6॥

यहाँ पर मोक्ष के सिवाय और कहींपर भी नित्य सुख नहीं दिखता है और परिग्रह के त्याग के बिना कभी भी यह आशा-तृष्णा नहीं नष्ट हो सकती है ॥7॥

यहाँ पर तप और रत्नत्रय के सिवाय अन्य कोई वस्तु हित करनेवाली नहीं है। तथा मोह और इन्द्रिय विषयों के सिवाय अन्य कोई अहित और अशुभ करनेवाला नहीं है ॥8। यह इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ सुख विष के समान निश्चय से हेय है। अतः हित के चाहनेवाले पुरुष को सारभूत तप और रत्नत्रय ग्रहण करना चाहिए ॥9॥

बुद्धिमानों को वही कार्य करना योग्य है, जिस से इस लोक और परलोक में सुख और यश हो । और वही कार्य अकृत्य है जिस से निन्दा, दुःख और पराभव हो ॥10॥

इस प्रकार के चिन्तवन से संसार, शरीर और भोग आदि में कर्मों का नाश करनेवाले संवेग को प्राप्त कर उसने अपने हित के लिए उद्यम किया ॥11॥

तदनन्तर लोष्ठ के समान राज्य के दुर्भार को पुत्रपर डालकर और सुगम तपोभार को ग्रहण करने के लिए वह हरिषेण राजा घर से निकला ॥12॥

और श्रुत-पारगामी श्रुतसागर नाम के योगीन्द्र के पास जाकर जगत् से नमस्कृत उन्हें शिर से नमस्कार कर और तीन प्रदक्षिणा देकर, बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों को त्रिकरण-शुद्धि से त्याग कर उस मुमुक्षु राजाने मुक्ति की प्राप्ति के लिए हर्ष के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥13-14॥

तत्पश्चात् कर्मरूपी पर्वत के विघात के लिए तपरूप वस्रायुध को उसने धारण किया। और दुष्ट इन्द्रिय और मनरूप शत्रुओं को रोकनेवाले उत्तम ध्यान को धारण किया ॥15॥

वह धर्म और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए पर्वतों की कन्दराओं, गुफाओं में तथा वन-श्मशान आदि में नित्य एका की सिंह के समान निर्भय होकर बसने लगा ॥16॥

अटवी, ग्राम, खेट आदि में विहार करते हुए जहाँपर सूर्य अस्त हो जाता, वहींपर वह दयाई चित्त रात्रि में ठहर जाता। वह वर्षाकाल में सर्प आदि से व्याप्त, झंझावात और वर्षा आदि से भयंकर वृक्ष के मल में उत्कृष्ट योग को धारण करता, हेमन्त ऋत में हिम से व्याप्त चतुष्पथपर अथवा नदी के किनारे ध्यान की गरमी से सर्व प्रकार की शीतबाधा को दूर करता हुआ रहने लगा ॥17-19॥

ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणों से सन्तप्त पर्वत के ऊपर शिलातलपर ज्ञानामृत के पान से उष्णबाधा को दूर करता हुआ कायोत्सर्ग करता था ॥20॥

इनको आदि लेकर अन्य अनेक बाह्य तपरूप कायक्लेश को वह चतुर मुनि आभ्यन्तर ध्यान और स्वाध्यायरूप तपों की सिद्धि के लिए सदा सहने लगा ॥21॥

इस प्रकार जीवन-भर सभी मूलगुणों, उत्तरगुणों और संयम को पालन कर अन्त में आहार और शरीर को छोड़कर हरिषेणमुनि अनशन को ग्रहण कर लिया ॥22॥

तत्पश्चात् मुक्ति की देनेवाली दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं की भली भाँति से आराधना कर और तपरूपी अग्नि से अपने शरीर को सुखा करके सर्व प्रकार की समाधि के साथ हरिषेण मुनिने प्राणों को छोड़कर उसके फल से महाशुक्र नाम के स्वग में महधिक देवपद पाया ॥23-24॥

वहाँपर अन्तर्मुहूर्त मात्र से ही सर्व धातुओं से रहित, यौवन अवस्था से युक्त और सहज वस्त्राभूषणों से भूषित दिव्य देह पाकर, तथा स्वर्ग की महती विभूति को देखकर, तत्क्षण उत्पन्न हुए अवधिज्ञान से पूर्व भव-सम्बन्धी सर्व वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म में तत्पर हो गया ॥ 25-26॥

तत्पश्चात् उत्तम धर्म की सिद्धि के लिए श्री जिनमन्दिर में जाकर समस्त लौकिक सुखों की सिद्ध करनेवाली परमपूजा, स्वर्ग में उत्पन्न हुए अनुपम जलादि अष्टविध द्रव्यों से भक्ति-द्वारा तीनों प्रकार के बाजों के साथ, स्तुति, स्तवन और नमस्कार पूर्वक की ॥27-28॥

पुनः तिर्यग्लोक और मनुष्यलोक में जिनेन्द्रों की जिनप्रतिमाओं की पूजा करके नमस्कार कर और जिनराजों की वाणी को सुनकर ब्रह्मदेव ने उत्तम पुण्य को उपार्जन किया ॥29॥

इस प्रकार वह देव सदा धर्म में चित्त लगाकर अपना समय व्यतीत करने लगा। उसका शरीर चार हाथ उन्नत था, सोलह सागरोपम आयु थी, शुभलेश्या और शुभमनोवृत्ति थी ॥30॥

चौथी पृथिवीतक अपने अवधिज्ञान से सभी मूर्ति के चराचर वस्तुओं को जानता हुआ वहाँ तक की विक्रिया ऋद्धि की शक्ति से युक्त था। सोलह हजार वर्ष बीतने पर वह अमृत-आहार को ग्रहण करता था, और सोलहपक्ष बीतनेपर सुगन्धित उच्छ्वास लेता था ॥31-32॥

पूर्वभव में किये गये तपश्चरण से उत्पन्न हुए, भारी सुख देनेवाले दिव्य भोगों को महाविभूति से अपनी देवियों के साथ निरन्तर भोगने लगा । वहाँ के अनुपम भोगों की इस मनुष्य लोक में कोई उपमा नहीं है । इस प्रकार वह देव आनन्द से सुख-सागर में निमग्न रहने लगा ॥ 33-34॥

अथानन्तर उत्तम धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वभागवर्ती पूर्व विदेह में पुष्कलावती नाम का देश है । वहाँ पर पूर्वोक्त वर्णनवाली पुण्डरीकिणी नगरी है जो विशाल, शाश्वती, दिव्य और चक्रवर्ती द्वारा भोग्य है ॥35-36॥

उस नगरी का स्वामी सुमित्र नाम का अतिपुण्यवान् राजा था । उस की व्रत-भूषित सुब्रता नाम की सुन्दरी रानी थी। उन दोनों के महाशुक्र विमान से आकर वह देव दिव्यलक्षणवाला, जगत्प्रिय, प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ। जन्म होनेपर उसके पिताने भारी विभूति के साथ सर्वप्रथम जिनालय में जाकर समस्त अभ्युदय सुखों को देनेवाली महाभिषेक पूर्वक उत्तम पूजा की ॥37-39॥

पुनः बन्धुजनों को, अनाथों और वन्दी लोगों को दान देकर तीन प्रकार के बाजों के साथ ध्वजा आदि फहराकर पुत्र का जन्ममहोत्सव मनाया ॥40॥

वह बालक समस्त जनता के आनन्द को बढ़ाता हुआ, अतिशय सुन्दर रूपसे, योग्य दुग्ध-पान, अन्नाहार आदि वस्तुओंसे, कीर्ति, कान्ति और शरीर के भूषणों से द्वितीया के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होकर दिक्कुमार या देवकुमार के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुआ ॥41-42॥

पुनः जैन अध्यापक को प्राप्त होकर उसने धर्म और **अर्थ** की सिद्धि के लिए धर्म और अर्थ को प्रकट करनेवाली सारभत विद्या को उत्तम बद्धि से पढा ॥43॥

युवा अवस्था में महामण्डलेश्वर की राज्यलक्ष्मी से युक्त पिता के पद को पाकर यह उत्तम सुख को भोगने लगा ॥44॥

तत्पश्चात् उसके अद्भत पुण्य से स्वयं ही चक्र आदि सभी चौदह रत्न और उत्कृष्ट नवों निधियाँ क्रम से प्रकट हुई ॥45॥

पुनः षडंग सेना से वेष्टित उसने भारी विभूति के साथ पट्खण्ड भूभागपर परिभ्रमण करके मनुष्य और विद्याधरों के स्वामियोंपर आक्रमण कर चक्र आदि साधनों के द्वारा उन्हें जीता। तथा मागधादिक व्यन्तर देवों को अपनी महिमा से ही क्रीडापूर्वक अपने वश में कर लिया ॥ 46-47॥

इस प्रकार उस चक्रवर्तीने उन राजा लोगों से कन्या आदि रत्नों को और अन्य सारभूत वस्तुओं को लेकर उत्कृष्ट लक्ष्मी से अलंकृत हो देवेन्द्र के समान लौटकर लीला से स्वर्गपुरी के तुल्य अपनी पुरी में विद्याधरेन्द्रों और व्यन्तरेन्द्रों के साथ प्रवेश किया ॥48-49॥

इस प्रियमित्र चक्रवर्ती के परम पुण्य से विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओं से उत्पन्न हुई, रूप और लावण्य की खानि ऐसी छियानबे हजार रानियाँ थीं । बत्तीस हजार आज्ञाकारी मुकुटबद्ध राजा लोग अपने मस्तकों से इस के दोनों चरणों को नमस्कार करते थे ॥50-51॥

उन्नत एवं मनोहर चौरासी लाख हाथी थे, चौरासी लाख ही रथ थे और अठारह करोड़ घोड़े थे ॥52॥

चौरासी करोड़ शीघ्रगामी पैदल चलनेवाले सैनिक थे । सोलह हजार गणबद्ध देव, तथा अठारह हजार म्लेच्छ राजा लोग मनुष्य, विद्याधर और देवों से पूजित उसके चरणों की सेवा करते थे ॥53-54॥

उस चक्रवर्ती सेनापति, स्थपति, गृहपति, पट्टरानी, पुरोहित, गज, अश्व, दण्ड, चक्र, चर्म, काकिणी, मणि, छत्र और खड्ग ये चौदह रत्न थे जो कि राज्य-सुख और भोग के करनेवाले थे, तथा देवों से रक्षित थे ॥55-56॥

पुण्य के उदय से उस चक्रवर्ती के घर में देवों के द्वारा संरक्षित पन, काल, महाकाल, सर्वरत्न, पाण्डुक, नैसर्प, माणव, शंख और पिंगल ये नौ निधियाँ थीं, जो कि सदा अक्षयरूप से भोग-उपभोग की वस्तुओं को पूरती रहती थीं ॥57-58॥

उस चक्रवर्ती के छियानबे करोड़ ग्राम, देश, खेट और नगर आदि थे । तथा चक्रवर्ती के योग्य ही राजप्रासाद, आयुध और शरीर के भोग आदि विभूतियाँ थीं ॥59॥

इस प्रकार पुण्य के प्रभाव से षट्खण्डों में उत्पन्न हुई, सुखों की खानिरूप सभी आगमोक्त उत्कृष्ट विभूति उस चक्रवर्ती की जानना चाहिए ॥60॥

इस उपर्युक्त तथा अन्य भी उत्तम लक्ष्मी को पाकर देव और मनुष्यों से पूजित वह चक्रवर्ती दशांगभोग वस्तुओं को और उत्कृष्ट सुख को भोगता था ॥61॥

धर्म से सर्व **अर्थ** की भले प्रकार सिद्धि होती है, अर्थ से महान् कामसुख प्राप्त होता है और उसके त्याग से सज्जनों को मुक्ति प्राप्त होती है । ऐसा समझकर वह बुद्धिमान् चक्रवर्ती मन, वचन, काय से स्वयं ही नित्य उत्तम धर्म करता था, तथा प्रेरणा करके दूसरों से उत्तम धर्म का आचरण कराता था ॥62-63॥

इसके पश्चात् वह चक्रवर्ती अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को निःशंकित आदि गुणों के समुदाय से बढ़ाने लगा, श्रावकों के व्रतों को निरतिचार पालने लगा, मास के चारों पों में पाप के विनाशक प्रोषधोपवासों को सदा आरम्भ रहित और शुभध्यान में तत्पर होकर मुक्ति-प्राप्ति के लिए साधु के समान करने लगा ॥64-65॥

स्वर्ण-रत्नों से बहुत- से ऊँचे जिनालयों को बनवा करके, तथा बहुत-सी जिनमुर्तियों का निर्माण करा के और भक्ति से उन की प्रतिष्ठा करा के अपने घर में तथा जिनालयों में विराजमान करके प्रतिदिन उत्कृष्ट सामग्री से उन के गुण प्राप्त करने के लिए वह चक्रवर्ती उन दिव्य प्रतिमाओं का पूजन करता था ॥66-67॥

मुनियों के लिए आत्म-हितार्थ, भक्ति से विधिपूर्वक कीर्ति, पुण्य और महाभोगप्रद प्रासुक दान देता था ॥68॥

वह धर्मबुद्धिवाला चक्रवर्ती निर्वाणभूमियोंकी, तीर्थंकरों की उन के प्रतिबिम्बोंकी, गणधर और योगिजनों की वन्दना, पूजन और भक्ति करने के लिए यात्रा को जाता था ॥69॥

वह बुद्धिमान् तीर्थकर देव और गणधरों की दिव्यध्वनि से स्वजनों के साथ अंग और पूर्वो को तथा वैराग्य के लिए मुनि-श्रावक के धर्म को सुनता था ॥70॥

वह विवेकी सामायिक को प्राप्त होकर दिन-रात में किये गये अशुभ कार्यों को अपनी निन्दा-गर्हणा आदि करके नित्य क्षपित करता था ॥ 71॥

इत्यादि शुभ आचारों के द्वारा वह सदा स्वयं धर्म करता था और उपदेश देकरके अपने भृत्यों, स्वजनों एवं राजाओं से राता था ॥72॥

इस प्रकार वह समस्त राजाओं के मध्य में अपनी पुण्य चेष्टाओं से धर्ममर्ति के समान शोभा को प्राप्त हुआ, जैसे कि देवों के मध्य में जिनदेव शोभा को प्राप्त होते हैं ॥73॥

इस के पश्चात् एक दिन वह चक्रवर्ती अपने परिवार के साथ बड़ी विभूति से हर्षित होता हुआ क्षेमंकर जिनेश्वर की वन्दना करने के लिए गया ॥74॥

वहाँपर उन जिनेन्द्रदेव को तीन प्रदक्षिणा देकर, मस्तक से नमस्कार करके और भक्ति से दिव्य पूजन-द्रव्यों द्वारा पूजा करके मनुष्यों के कोठे में जा बैठा ॥75॥

तब जिनेश्वरदेव ने उसके हित के लिए दिव्यध्वनि द्वारा सर्वगणों को लक्ष्य करते हुए प्रतीति(श्रद्धा) और अनुप्रेक्षापूर्वक धर्म का उपदेश दिया ॥76॥

भगवान् ने कहा - आयु, शरीर, भोग, राज्यलक्ष्मी और इन्द्रियों के सुख आदिक सभी संसार की वस्तुओं को बिजली के समान चंचल अनित्य जानकर ज्ञानियों को अचल मोक्ष की आराधना करनी चाहिए ॥77॥

मृत्यु, रोग, क्लेश और दुःखादि से प्राणी को शरण देनेवाला धर्म के बिना कहीं पर भी और कोई नहीं है, अतः ऐसा समझकर दुःखों के क्षय करने के लिए अहो भव्यजीवो, तुम्हें धर्म करना चाहिए ॥78॥

यह घोर संसार-सागर सर्व दुःखों का भण्डार है, ऐसा समझकर उसके अन्त करने के लिए महान् रत्नत्रय धर्म का सेवन करना चाहिए ॥ 79॥

जन्म, मरण और जरा आदि अवस्थाओं में अपने को अकेला समझकर एकत्व की प्राप्ति के लिए एकमात्र जिनेन्द्रदेव का अथवा अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए ॥80॥

अपने आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानकर निश्चय से आत्मसिद्धि के लिए मरणादि के समय शरीरादि को छोड़कर हित का आचरण करना चाहिए ॥81॥

यह शरीर सप्तधातुमय है, निन्द्य है, पृति गन्धवाला है और यम का घर है, ऐसा देखकर ज्ञानीजन क्यों नहीं धर्म का आचरण करें ॥82॥
कर्मों के आस्रव से जीवों का संसार-समुद्र में पतन होता है, ऐसा मानकर आस्रव की हानि के लिए ज्ञानी जनों को दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥83॥
संवर के द्वारा सन्त जनों को नियम से मुक्तिश्री शीघ्र प्राप्त होती है, ऐसा जानकर गृहाश्रम छोड़ के मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥84॥
जब तप के द्वारा सर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है, तभी सज्जनों को मुक्तिरामा प्राप्त होती है, ऐसा जानकर सब को निर्दोष तप करना चाहिए ॥85॥
परमार्थ से इस जगत्त्रय को दुःखों से भरा हुआ जानकर और मोक्ष को अनन्त सुख का देनेवाला समझकर उस की प्राप्ति के लिए हे भव्यो, संयम को धारण करो ॥86॥
इस संसार में मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, आरोग्य, पूर्ण आयु, उत्तम बुद्धि, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयम आदि को उत्तरोत्तर दुर्लभ जानकरके ज्ञानियों को आत्महित में सम्यक प्रकार प्रयत्न करना चाहिए॥८७॥
श्री केवल प्रणीत धर्म ही जगत में श्री और सुख का भण्डार है और संसार के दुःखों का विनाशक है, इसलिए सर्व प्रयत्न से धर्म करना चाहिए ॥88॥
वह धर्म सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के योगसे, तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से प्राप्त होता है । अतः मुमुक्षु जनों को शिवप्राप्ति के लिए मोह-सन्तान का नाश कर उस धर्म का सेवन करना चाहिए ॥89॥
सुखी जनों को अपने सुख की वृद्धि के लिए, तथा दुःखी जनों को अपने दुःखों के नाश के लिए तथा सर्व साधारण लोगों को दोनों कार्यों के लिए सर्व प्रकार से धर्म करना चाहिए ॥90॥
संसार में वही पुरुष पण्डित है, वही बुद्धिमान है, वही जगत् का पूज्य है, वही महापुरुषों का माननीय है और वही सुख का भागी होता है जो अपने आश्रित सैकड़ों अन्य कार्यों को छोड़कर प्रयत्नपूर्वक निर्मल आचरणों के द्वारा एकमात्र धर्म को करता है ॥91-92॥
ऐसा समझकर अपनी आयु और तीन जगत् को क्षण-भंगुर मानकर तथा शरीर को सर्प के बिल समान छोड़कर निर्द्वन्द्व हो धर्म करना चाहिए ॥93॥
इस प्रकार क्षेमंकर तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से चक्रवर्तीने तीन जगत् को अनित्य जानकर और अपने शरीर, राज्यादि से विरक्त होकर हृदय में यह विचारने लगा-अहो, मुझ जड़ात्माने जगत् में सारभूत सभी भोगों को भोगा है, तथापि उन से मेरे इन्द्रिय-सुख में जरा-सी भी तृप्ति नहीं हुई है, अतः जो विषयासक्त जन भोगों के सेवन से तृष्णा के नाश की इच्छा करते हैं, जड़ाशय(मूर्ख) तेल से अग्नि को शान्त करना चाहते हैं ॥94-96॥
जैसे-जैसे इच्छित भोग सम्पदाएँ मनुष्यों के समीप आती हैं वैसे-वैसे ही उस की आशाएँ तीन जगत् में फैलती जाती हैं ॥97॥
जिस शरीर से ये भोग भोगे जाते हैं, वह साक्षात् पति गन्धवाला, निःसार और विष्टा, कृमि एवं मल का घर दिखाई देता है ॥98॥
जिस संसार में यह शरीर प्रहण किया जाता है, वह समस्त दुःखों की खानिरूप, पराधीन और दुर्विपाकरूप दिखाई देता है ॥99॥
यह राज्य निश्चय से धूलि के समान है और सर्व पापों का कारण है। ये सुन्दर स्त्रियाँ पापों की खानि हैं, ये सर्व बन्धुजन बन्धनों के समान हैं ॥100॥
यह लक्ष्मी वेश्या के समान ज्ञानियों के द्वारा निन्द्य है, यह वैषयिक सुख हालाहल विष के समान कटुक है और संसार में उत्पन्न हुई सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं ॥101॥
अधिक कहने से क्या साध्य है, रत्नत्रयधर्म के बिना तीनों ही जगत् में सार और हितकर कुछ भी नहीं है ॥102॥
इसलिए अब मैं दःखमय इस मोहजाल को ज्ञानरूपी खड से काटकर अपनी मुक्ति के लिए जगत्पज्य जिनदीक्षा को ग्रहण करता हूँ ॥103॥
मुझ विषयासक्त के इतने दिन यहाँपर संयम के बिना व्यर्थ चले गये हैं । अतः अब समय बिताने से क्या लाभ है ? ऐसा विचारकर और सर्वमित्र नाम के पुत्र के लिए राज्यपद देकर नौ निधि और चौदह रत्नों के साथ सारी राज्यलक्ष्मी को तृण आदि के समान छोड़कर तथा

मिथ्यात्व आदि सभी आन्तरिक परिग्रहों को भी छोड़कर उस नरेशने मुक्ति-प्राप्ति के लिए मुक्तिकारिणी, तीन लोक में देव, तिर्यंच एवं कुजन्मवाले नारकियों को दुर्लभ ऐसी आर्हती जिनमुद्रा को संवेग-वैराग्य आदि गुणों से मुक्त एक हजार राजाओं के साथ उस नराधिप प्रिय मित्र चक्रवर्तीने शीघ्र ग्रहण कर लिया ॥104-107॥

तत्पश्चात् वे प्रियमित्र मुनिराज प्रमादरहित होकर भारी शक्ति से दोनों प्रकार का घोर तप और सारभूत ध्यान-अध्ययन करते, मूल और उत्तर गुणों को सम्यक् पालन करते, मन को जीतकर त्रिकाल योग को प्राप्त होकर, तीन गुप्तियों से सुगुप्त और निरास्रव होकर निर्जन अटवी गिरि-गफा आदि में निवास करते, सदा नाना देश, पुर, ग्राम और वनादिक में विहार करते पक्ष-मासोपवास आदि को करके उन के पारणाकाल में कृत, उद्दिष्ट आदि दोषों के बिना शुद्ध आहार को संयम की रक्षा के लिए लेते, देव-मनुष्य-पूजित जैनशासन की प्रभावना तप, सिद्धान्त और धर्म के उपदेश से करते हुए वे सद्-भव्यवत्सल मुनिचर्या का पालन करते विचरने लगे ॥108-112॥

इत्यादि परम आचारों के द्वारा निर्दोष संयम को मरणान्त उत्तम प्रकार से पालन कर अन्त में समाधि की सिद्धि के लिए चारों प्रकार का आहार त्याग कर परमार्थ में मन को लगाकर प्रियमित्र योगिराजने योग का निग्रह करके, तप के लिए अपने महान् पराक्रम को उत्तम प्रकार से व्यक्त कर क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परीषहों को सहन कर और मुक्ति की मातास्वरूप चारों आराधनाओं की सम्यक् प्रकार से आराधना कर जिनध्यान में तत्पर वे प्रिय मित्र नाम के मुनीन्द्र अति प्रयत्न के साथ प्राणों को छोड़कर उस तपश्चरणादि से उपार्जित पुण्य के उदय से सहस्रार स्वर्ग में महासूर्यप्रभ नाम के देव हुए ॥113-117॥

वहाँ उपपादशय्या पर पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त कर, तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञान से पूर्वजन्मकृत तप का फल जानकर साक्षात् उसका फल देखने से और भी अधिक धर्म की प्रापि के लिए धर्म में अत्यन्त निरत होकर वह देव अपने विमान के रत्नमय श्री जिनालय में गया ॥118-119॥

वहाँपर हर्ष से अपने परिवार के साथ श्री जिनबिम्बों का अनिष्ट-विनाशक परम पूजन संकल्पमात्र से उत्पन्न हुए अष्टभेदरूप दिव्य पूजन-द्रव्यों से तथा नमस्कार, स्तोत्र, तीन प्रकार के वाद्यों द्वारा महोत्सव-पूर्वक करके, पुनः चैत्य वृक्षों के नीचे अवस्थित अर्हन्तों की शुभ प्रतिमाओं को पूजकर, मध्यलोक में जाकर वहाँ के मेरु पर्वत नन्दीश्वर द्वीप आदि में स्थित समस्त कृत्रिम अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं का पूजन करके, उन्हें नमस्कार कर पुनः जगत्-शिरोमणि तीर्थंकरों और श्रेष्ठ मुनिजनों को नमस्कार कर उन के श्रीमुखकमल से बहुत प्रकार से धर्म और तत्त्वों का स्वरूप सुनकर और पुण्य का उपार्जन कर वह देव अपने स्थान को वापस आया ॥120-124॥

वहाँपर अपने पुण्य से उत्पन्न अप्सराओं एवं स्वर्ग-विमान-गत अन्य लक्ष्मी को स्वीकार करके इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले परम भोगों को वह देव भोगने लगा ॥125॥

वह अठारह सागरोपम आयु का धारक, नेत्रों के उन्मेष से रहित और सप्त धातु-वर्जित साढ़े तीन हाथ प्रमाण शरीरवाला था ॥126॥

अठारह हजार वर्ष बीतनेपर सर्वांग को सुखदायी, उपमा-रहित अमृत-आहार को मन से ग्रहण करता था ॥127॥

नौ मास बीतनेपर वह कुछ उच्छ्वास लेता था। चौथी पृथिवीतक के चर-अचर मूत द्रव्यों को अपने अवधिज्ञान से जानता था, और विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से अवधिज्ञान-प्रमाण-क्षेत्र में निरन्तर गमनागम करने में वह देव समर्थ था ॥128-129॥

भवन, उद्यान, पर्वत-प्रदेश, असंख्यात द्वीप-समुद्र और पर्वतादिपर स्वयं स्वेच्छा से विहार करते हुए देवियों के साथ निरन्तर कहीं क्रीड़ा करते, कहीं वीणा आदि वादित्रोंसे, कहीं मनोहर गीतोंसे, कहींपर देवांगनाओं के सुन्दर श्रृंगार युक्त रूपों को देखनेसे, कहींपर धर्म-गोष्ठियोंसे, कहींपर केवलियों के पूजन से और कभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के परम उत्सवोंसे, तथा इसी प्रकार के अन्य पुण्यकार्यो को करते हुए धर्म और सुख के साथ वह देव समय को बिताता हुआ अन्य देवों से सेवित होकर सुख-सागर में निमग्न रहने लगा ॥ 130-133॥

अथानन्तर इसी जम्बू नामक द्वीप के भरतनामक क्षेत्र में छत्र के आकारवाला, धर्म और सुख का भण्डार एक रमणीक छत्रपुर नाम का नगर है ॥134॥

पुण्योदय से उसका स्वामी नन्दिवर्धन नाम का राजा था। उस की पुण्यशालिनी वीरमती नाम की रानी थी ॥135॥

उन दोनों के वह देव स्वर्ग से च्युत होकर नन्द नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने सुन्दर रूप आदि के द्वारा जगत् को आनन्द करनेवाला था ॥136॥

बन्धुजनों के द्वारा किये गये पुत्रजन्मोत्सव आदि की सम्पदा को पाकर, तथा योग्य दुग्ध, अन्न, वेष-भूषा( आदि से) और गुणों के साथ वृद्धि को प्राप्त होकर, क्रमशः अपनी बुद्धि के द्वारा अध्यापक से शास्त्र और शस्त्र विद्याओं को पढ़कर, कला, विवेक और रूप आदि के द्वारा वह पुण्यवान् नन्दकुमार देव के समान शोभित होने लगा ॥137-138॥

तत्पश्चात् यौवन-अवस्था में लक्ष्मी के साथ पिता के राज्य को पाकर( और अपनी स्त्रियों के साथ) दिव्य भोगों को हर्ष से भोगता हुआ धर्म का आचरण करने लगा ॥139॥

वह निःशंकित आदि गुणों के द्वारा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करने लगा, यत्न के साथ निरतिचार पूरे श्रावक व्रतों को पालने लगा ॥140॥

सर्वपापों में आरम्भरहित होकर उपवासों को करने लगा, भक्ति से विधिपूर्वक प्रतिदिन उत्तम मुनियों को दान देने लगा ॥141॥

अपने जिनालय में जिनेन्द्रदेवों की महापूजा को करने लगा और धर्म की वृद्धि के लिए तीर्थकर, गणधर और योगियों की यात्रा को जाने लगा ॥142॥

धर्म से इष्ट **अर्थ** की प्राप्ति होती है, अर्थ से मनोवांछित सुख मिलता है और सुख के त्याग से निर्वाण और वहाँ का अक्षय-अनन्त सुख प्राप्त होता है, इस प्रकार सर्वसुखों का मूल धर्म को समझकर वह नन्द राजा इस लोक और परलोक में उस की प्राप्ति के लिए एकमात्र धर्म को सदा सेवन करने लगा ॥143-144॥

स्वयं सैकड़ों उत्तम आचरणों से प्रेरक वचनों से और सज्जनों के धर्म-कार्यों की अनुमतिरूप संकल्पों से वह सर्व अवस्थाओं में धर्म-बुद्धिवाला राजा धर्म के कल से उत्पन्न हुए महाभोगों को और राज्य-सम्पदा को भोगता हुआ दुःखों से रहित होकर दीर्घकाल तक सुख से समय बिताने लगा ॥145-146॥

इस प्रकार पुण्य के परिपाक से वह नन्दनामक राजा दिव्य, अनुपम सुख के सारभूत भोगों को प्राप्त हुआ। ऐसा जानकर सुख के इच्छुक भव्यजन शिव-प्राप्ति के लिए निर्मल आचरण-योगों से यत्न पूर्वक उत्तम जिनधर्म को सेवन करें ॥147॥

एक मात्र धर्म करना चाहिए, हे ज्ञानी जनो, तुम लोग अनन्त सुख को देनेवाले धर्म को करो, धर्म के द्वारा ही तुम लोग अद्भुत गुण-समूह को प्राप्त होओ, धर्म के लिए मस्तक झुकाकर नमस्कार है, धर्म से अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय मत लो, सुगति के लिए धर्म का आश्रय धारण करो और धर्म में सदा स्थित रहो। धर्म ही आप लोगों का और मेरा शीघ्र कल्याण करे । हे धर्म, हम सब को शीघ्र शिवपद दो ॥148॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में देवादि उत्तम चार भवों का वर्णन करनेवाला यह पंचम अधिकार समाप्त हुआ ॥5॥

## छठा-अधिकार

नन्दराजा का तप

कथा :

मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओं के हन्ता, संसार से भव्य प्राणियों के त्राता, और ज्ञान एवं धर्मतीर्थ के कर्ता श्रीवीर भगवान इन गुणों की प्राप्ति के लिए मेरे सहायक हों ॥1॥

अथानन्तर एक बार भव्यजनों से घिरा हुआ वह बुद्धिमान् नन्द राजा धर्म-प्राप्ति के निमित्त से प्रोष्ठिल नामक योगिराज की वन्दना के लिए भक्ति के साथ गया ॥2॥

वहाँ पर दिव्य अष्ट द्रव्यों से भक्ति पूर्वक मुनीश्वर की पूजा करके और मस्तक से नमस्कार करके धर्म-श्रवण करने के लिए उन के चरणों के समीप बैठ गया ॥3॥

तब परोपकारी उन मुनिराजने राजा के हितार्थ दश लक्षण रूप उत्तम भेदों के द्वारा निर्दोष धर्म को उत्तम वाणी से इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥4॥

हे धीमन् राजन्, दुष्टजनों के द्वारा उपद्रव करने पर भी धर्म का नाश करनेवाला क्रोध कभी नहीं करना चाहिए और उत्तम क्षमा से युक्त धमे धारण करना चाहिए ॥5॥

चतुर जनों को धर्म के लिए मन वचन काय की कोमलता से मार्दव भाव रखना चाहिए और धर्म के नाशक भोगों की कठोरता नहीं रखना

चाहिए ॥6॥
सरल मन वचन काय से धर्म का अंग आर्जव भाव धारण करना चाहिए और धर्मविनाशिनी कुटिलता यहाँ कभी भी नहीं करनी चाहिए ॥7॥
धर्मोजनों को धर्म की सिद्धि के लिए धर्म और वैराग्य के कारणभूत सत्य वचन बोलना चाहिए और धर्मनाशक असत्य नहीं बोलना चाहिए ॥8॥
इन्द्रियों के विषयादि वस्तु-समुदाय में लोलुपता रूप लोभ-शत्रु को नाश कर निर्लोभरूप धर्म का अंग शौचधर्म धारण करना चाहिए। जल की शुद्धि शौचधर्म नहीं है ॥9॥
छह काय के जीवों की दया करके और इन्द्रिय-मन का निग्रह करके धर्म की सिद्धि के लिए संयम धारण करना चाहिए और असंयम से बचना चाहिए ॥10॥
ज्ञानीजनों को धम की सिद्धि करनेवाले बारह भेदरूप तप अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-सिद्धि के लिए करना चाहिए ॥11॥
परिग्रह का परित्याग कर ज्ञान और संयम को उत्पन्न करनेवाला धर्मप्रद और गुणों का भण्डार ऐसा पवित्र दान धर्म के हेतु देना चाहिए ॥12॥
कायोत्सर्गपूर्वक शरीर से ममता त्याग कर त्रियोगों से अचिन्त्य सुखाकर और धर्म का बीज आकिंचन्य उत्तम धर्म की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करना चाहिए ॥13॥
धर्मार्थीजनों को सर्व स्त्रियाँ अपनी माता के समान समझकर धर्म के कारणभूत परम ब्रह्मचर्य हर्ष से सेवन करना चाहिए ॥14॥
जो मोक्षाभिलाषी लोग इन सारभूत दश लक्षणों के द्वारा मुनि-सम्बन्धी और मुक्तिदाता इस परम धर्म को करते हैं, वे इस तीन जगत् में उसके फल से समस्त अभ्युदय-सुखों को प्राप्त कर शीघ्र ही नियमतः मुक्ति के वल्लभ होते हैं ॥15-16॥
बुद्धिमानों के इस धर्म का साक्षात् आचरण तो दूर रहे, किन्तु जो धर्म के नाम मात्र को भी धारण करता है, वह भी कभी दुःखी नहीं होता ॥17॥
इस प्रकार से धर्म का माहात्म्य विचार कर, तथा संसार, शरीर-भोग आदि वस्तुओं को क्षणभंगुर और निःसार जानकर विवेकियों को चाहिए कि वे संसार, शरीर और भोगों को छोड़कर, तथा मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओं का नाश कर, शिव-प्राप्ति के लिए पूर्ण शक्ति से शीघ्र धर्म साधन करें ॥18-19॥
इस प्रकार मुनिराज-भाषित धर्म को सुनकर और संसार-शरीर भोगों से निर्वेद को प्राप्त होकर वह आत्महितैषी राजा अपने निर्मल चित्त में इस प्रकार विचारने लगा ॥20॥
अहो, अनन्त दुःखों की सन्तान को देनेवाला यह अनादि अनन्त संसार सज्जन पुरुषों की प्रीति के लिए कैसे हो सकता है ॥2॥
यदि यह संसार दुष्ट और समस्त दुःखों से भरपूर न होता, तो सुखशाली तीर्थकरादि महापुरुषोंने मुक्ति-प्राप्ति के लिए इसे कैसे छोड़ा ॥22॥
जिस शरीर रूपी कुटीर में क्षुधा, तृषा, काम-क्रोध आदि अग्नियाँ निरन्तर प्रज्वलित रहती हैं, उस शरीर में बुद्धिमानों की प्रीति कैसे सम्भव है ॥23॥
जिस शरीर में धर्मादिरूप धन को चुरानेवाले सभी इन्द्रियचोर रहते हैं उस शरीर में कौन बुद्धिमान रहने की इच्छा करता है ॥24॥
जो भोग दुःखपूर्वक उत्पन्न होते हैं, अन्त में अतिदःख एवं दाह को बढाते हैं, पराधीन हैं और चंचल हैं, उन्हें कौन ज्ञानी पुरुष सेवन करता है ॥25॥
जो भोग स्त्री और अपने शरीर के संघटन से उत्पन्न होते हैं, दुःखकारक हैं और महापुरुषों के द्वारा त्याज्य हैं, वे क्या क्षुद्रजनों के द्वारा सेव्य और सुखकारक हो सकते हैं ? कभी नहीं ॥26॥
भोगों के कारणों में और उन के सुखों में निर्मल बुद्धि से जिस-जिस वस्तु का विचार करते हैं, वह-वह वस्तु अत्यन्त घृणा पैदा करती है, कोई भी शुभ प्रतीत नहीं होती है ॥27॥
इत्यादि चिन्तवन से दुगुने वैराग्य को प्राप्त होकर राजा ने उन्हीं योगिराज को गुरु बनाकर, दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर अनन्त

संसार-सन्तान के नाशक सिद्धि का कारण ऐसा मुनियों का सकल संयम परम शुद्धि से ग्रहण कर लिया ॥28-29॥

गुरु के उपदेश रूप जहाज से वह नन्द मुनि निःप्रमाद और उत्तम बुद्धि के द्वारा शीघ्र ही ग्यारह अंगरूप श्रुतसागर के पार को प्राप्त हो गया ॥30॥

पुनः उसने अपने पराक्रम को प्रकट करके कर्मों का नाशक बारह प्रकार का परम तप अपनी शक्ति के अनुसार करना प्रारम्भ किया ॥ 31॥

वे नन्दमुनि सर्व इन्द्रियों का शोषक, कर्म-पर्वत के भेदन के लिए वज्रतुल्य, ऐसे अनशन तप को पक्ष, मास आदि से लेकर छह मास तक की मर्यादापूर्वक करने लगे ॥32॥

कभी निद्रा के पापनाश करने के लिए एक ग्रास आदि से लेकर अनेक भेदरूप अवमोदर्य तप को वे आत्मलक्षी नन्दमुनि करने लगे ॥33॥

आशा का क्षय करनेवाले वृत्तिपरिसंख्यान तप को एक, दो, चार आदि घरोंतक जाने का नियम कर आहार-लाभ के लिए करने लगे ॥34॥

वे जितेन्द्रिय मुनिराज अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिए कभी-कभी निर्विकार वृत्ति से कांजिक अन्न को लेकर रसपरित्याग तप करते थे ॥ 35॥

वे स्त्री-नपुंसक आदि से रहित, गिरि-गुफा, वन आदि में ध्यान और स्वाध्याय को करनेवाले विविक्त शयनासन तप को करते थे ॥36॥

वे वर्षाकाल में झंझावात और महावृष्टि से व्याप्त वृक्ष के मूल में धैर्य रूप कम्बल ओढ़कर बैठते थे ॥37॥

तुषार से व्याप्त, अतिशीतल हेमन्त ऋतु में वे मुनिराज जले हुए वृक्ष के समान होकर चौराहोंपर अथवा नदी के किनारे कायोत्सर्ग करते थे ॥38॥

ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणों के पुंज से सन्तप्त पर्वत के शिखरपर स्थित शिलातल पर ध्यानामृतरस के आस्वादी वे मुनिराज सूर्य के सम्मुख बैठते थे ॥39॥

इनको आदि लेकर नाना प्रकार के योगों के द्वारा वे धीर-वीर मुनिराज काय और इन्द्रिय सुख के नाश करने के लिए निरन्तर कायक्लेश नामक तप को करते थे ॥40॥

इस प्रकार यह बाह्य छह भेदरूप तप मनुष्यों के प्रत्यक्ष है और आभ्यन्तर तप की वृद्धि करनेवाला है। अतः वे मनिराज अन्तरंगतपों की वृद्धि के लिए बाहा तप और चैतन्य गुणों को प्राप्ति के लिए अन्तरंग तप करने लगे ॥41॥

अन्तरंग तपों में प्रथम तप प्रायश्चित्त है, यह स्वीकृत व्रतों की शुद्धि करता है । अतः निःप्रमाद होकर वे आत्म-शुद्धि के लिए आलोचनादि दश भेदों के द्वारा प्रायश्चित्त तप निरन्तर करने लगे ॥42॥

वे मुनिराज दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और इनको धारण करनेवाले पूज्य योगियों का सर्व **अर्थ** की सिद्धि करनेवाला विनय आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए करने लगे ॥43॥

वे आचार्य, उपाध्याय से लेकर मनोज्ञ पर्यन्त दश प्रकार के जगत्-पूज्य पुरुषों की वैयावृत्य शुश्रूषा करके और आज्ञा-पालनादि के द्वारा करने लगे ॥44॥

वे मन और इन्द्रिय दमन के लिए योगों को वश में करनेवाला अंग-पूर्वो का पाँच भेदरूप स्वाध्याय प्रमाद-रहित होकर के करने लगे ॥45॥

वे ज्ञानी मुनिराज शरीरादि में ममत्व त्याग कर कर्मरूप वन को जलाने के लिए अग्नि समान व्युत्सर्ग तप निर्ममत्वरूप सुख की प्राप्ति के लिए निरन्तर करने लगे ॥46॥

वे बुद्धिमान् मुनिराज अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगजनित, रोग-जनित और निदानरूप चारों प्रकार के महानिन्द्य तिर्यग्गति को करनेवाले और संक्लिष्ट चित्त से उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यान को कभी स्वप्न में भी आश्रय नहीं करते थे, किन्तु धर्म और शक्लध्यान में ही अपना चित्त संलग्न रखते थे ॥47-48॥

वे जीवहिंसा, अनृत (असत्य), चोरी और परिग्रह के संरक्षण करनेवाले जीवों को आनन्द उत्पन्न करनेवाला, रौद्रकर्म के अभिप्राय से उत्पन्न होनेवाला, नरकमार्ग के फल को देनेवाला चारों प्रकार का निन्द्य रौद्रध्यान अपने धर्मध्यान से उज्ज्वल चित्त में कभी भी रंचमात्र नहीं रखते थे ॥49-50॥

वे नन्दमुनिराज उत्तम तत्त्वों के चिन्तवन आदि शुद्ध अभिप्राय से उत्पन्न होनेवाले, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और

संस्थानविचयरूप चारों प्रकार के धर्मध्यान को जो कि स्वर्ग के उत्तम फलों को देनेवाला है, सभी अवस्थाओं में सर्वत्र एकाग्रचित्त से ध्याते थे ॥51-52॥

वे बुद्धिमान मुनिराज पृथक्त्व वितर्कसवीचार, एकत्व वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और शेषक्रिया निवृत्तिरूप चारों प्रकार के महान् शुक्लध्यानको, जो कि साक्षात् मोक्ष का दाता है, वन आदि एकान्त स्थानों में ध्याते थे ॥53-54॥

इस प्रकार बारह भेदरूप महातपोंको, जो कि कर्म और इन्द्रिय आदि शत्रुओं के घातने में वज्र के समान हैं, संसार की समस्त ऋद्धि और सुख के बीजस्वरूप है, केवलज्ञान के उत्पादक है और अभीष्ट **अर्थ**क करनेवाले हैं, सदा सर्वशक्ति से आचरण करते थे ॥55-56॥

इन दुष्कर तपों से उन मुनिराज के सुख की खानिरूप अनेक प्रकार की दिव्य शारीरिक महाऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं और बीज, बुद्धि आदि अनेक ज्ञानऋद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त हुई ॥57॥

वे मुनिराज सर्व प्राणियों पर धर्म की मातृस्वरूप मैत्री भावना, गुणशाली मुनीन्द्रों के ऊपर धर्माकर प्रमोद भाव, रोग-क्लेश-युक्त प्राणियों पर धर्म का मूल कृपाभाव और मिथ्या दृष्टि एवं विपरीत बुद्धिवालोंपर सुख का सागर माध्यस्थ्य भाव रखते थे ॥58-59॥

इन चारों भावनाओं में तल्लीन हृदयवाले उन मुनिराज के स्वप्न में भी राग-द्वेष भाव स्थिति करने के लिए कभी समर्थ नहीं हुए ॥60॥

वे मुनिराज तीर्थकर की विभूति को देनेवाली इन वक्ष्यमाण सोलह उत्तम भावनाओं की तीर्थंकरों के गुणों में समर्पित चित्त होकर निरन्तर मन वचन काय की शुद्धि से भावना करने लगे ॥61॥

उनमें सबसे पहले सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए उसके पचीस दोषों को दूर कर निश्शंकित आदि आठ महान गुणों को उन्होंने स्वीकार किया ॥62॥

उन्होंने जिन-भाषित धर्म के करनेवाले सूक्ष्म तत्त्वों के विचारने में 'प्रामाणिक पुरुष के वचन अन्यथा नहीं हो सकते' ऐसा निश्चय करके सर्व प्रकार की शं का को छोड़कर निश्शंकित गुण को धारण किया ॥63॥

उन्होंने तप के द्वारा इस लोक में तथा परलोक में स्वर्गों के भोग, लक्ष्मी, सुख आदि में जो कि अन्त में नरक-निवास के दाता हैं, आकांक्षा का त्याग कर निःकांक्षित अंग को धारण किया ॥64॥

मल और शारीरिक मैल आदि से जिन का शरीर व्याप्त है ऐसे गुणशाली योगियों में मन वचन काय से ग्लानि का त्याग करके निर्विचिकित्सा अंग को धारण किया ॥६५॥

उन मुनिराज ने देव, शास्त्र, गुरु और धर्म आदि की ज्ञाननेत्र से परीक्षा कर तीनों प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग कर अमूढत्व गुण को स्वीकार किया ॥66॥

निर्दोष जैन शासन में अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा प्राप्त हुए दोषों को आच्छादन करके उपगूहन गुण का पालन किया ॥67॥

सम्यग्दर्शन, तप, चारित्र आदि को अंगीकार करके उससे चलायमान हुए जीवों को उपदेश आदि के द्वारा उन्हीं गुणों में पुनः स्थिर करके स्थितीकरण अंग का आचरण किया ॥68॥

अपने शरीर आदि में वे मुनिराज स्नेह-रहित थे, फिर भी सद्यःप्रसूता गौ जैसे अपने बछड़ेपर अत्यन्त स्नेह करती है, उसी प्रकार उन्होंने साधर्मी जनों में अति स्नेह करके वात्सल्यगुण का पालन किया ॥69॥

उन मुनिराज ने इस संसार में फैले हुए मिथ्यात्वरूप अन्धकार को अपने तप और ज्ञान की किरणों से नाश करके और जैन शासन का प्रकाश करके धर्म की प्रभावना की ॥7॥

उन संयमी मुनिराज ने इन उपर्युक्त आठ गुणों के द्वारा अपने सम्यग्दर्शन को सबल करके और उसके द्वारा कर्मरूप शत्रुओं को विनष्ट किया; जैसे कि राजा अपने राज्य के अंगों को पुष्ट करके शत्रुओं को नष्ट करता है ॥7॥

उन्होंने देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और अन्य मतों से उत्पन्न हुई पाखण्डमूढ़ता को जो कि पाप की खानि हैं और धर्म की घातक हैं, सर्वथा छोड़ दिया था |72॥

उन्होंने सज्जाति, सुकुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और अनेक प्रकार शिल्पकलाचातुर्यरूप आठों मदों को जो कि कुमाग में ले जानेवाले हैं, सर्वथा छोड़ दिया था। यद्यपि वे स्वयं सजाति, सुकुल आदि सद्-गुणों से युक्त थे, तथापि इस समस्त जगत् को अनित्य जानकर उक्त जाति-कुलादिक का उन्होंने कभी अहंकार नहीं किया ॥73-74॥

उन्होंने मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र और इन के धारक कुमार्गगामी जड़(मूर्ख), सेवक इन छहों प्रकार के नरक ले जाने वाले अनायतनों को त्रियोग से त्याग कर दिया था ॥75॥

निःशंकित आदि गुणों से विपरीत और अहितकारी शंका आदि अशुभ दोष हैं, उनको उन्होंने सर्वथा दूर कर दिया था ॥76॥

उन मुनिराज ने सम्यग्दर्शन के इन पचीस मलों को ज्ञानरूपी जल से धोकर और सम्यग्दर्शन को निर्मल करके उस की परम विशुद्धि की ॥77॥

संवेग, संसार-शरीर और भोग इन तीनों से विरक्तिरूप निर्वद, निन्दा, गहण, सर्वत्र उपशमभाव, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन सारभूत आठ गुणों से अलंकृत उन मुनिराजने तीर्थकरपद के प्रथम सोपानस्वरूप दर्शनविशुद्धि में अपने-आप को अवस्थित किया ॥78-79॥

वे मुनिराज दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार विनय, तथा इन के धारण करनेवाले अधिक गुणशाली मुनियों की त्रियोग की शुद्धिपूर्वक विनय करते थे ॥80॥

उन्होंने अतीचारों से पराङ्मुख रहते हुए अठारह हजार शीलों को और व्रतों को यत्न के साथ नित्य पालन किया ॥81॥

अज्ञान का घात करनेवाले अंग और पूर्वरूपादि रूप श्रुतज्ञान का वे निरन्तर पठन करते थे और पाप-शान्ति के लिए प्रमाद-रहित होकर शिष्यों को पढ़ाते थे ॥82॥

वे मुनिराज सर्व अनर्थों के करनेवाले शरीर, भोग और संसार के कारणभूत पदार्थों में मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओं का नाशक परम संवेग की भावना करते थे ॥83॥

वे योगियों के लिए ज्ञानदान, प्राणियों के लिए अभयदान सब के लिए सुखकारक धर्म का उपदेश सदा देते थे ॥84॥

जिन का पहले वर्णन किया गया है, जो दुष्कर्म और इन्द्रियरूप शत्रुओं का नाशक है ऐसे बारह प्रकार के निर्दोष तपों को अपनी शक्ति के अनुसार सदा आचरण करते थे ॥85॥

वे रोग आदि के द्वारा असमाधि को प्राप्त साधुओं की सेवा-शुश्रुषा और उपदेश आदि से चारित्र की रक्षक साधु समाधि को सदा करते थे ॥86॥

वे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, तपस्वी, ग्लान (रोगी) गण, गुरुकुल, संघ और मनोज्ञ इन दश प्रकार के महात्मा पुरुषों की मुक्तिप्राप्ति के लिए स्वपर-गुणकारक यथायोग्य वैयावृत्त्य करते थे ॥87-88॥

वे मुनिराज धर्म, **अर्थ**, काम और मोक्ष के देनेवाले अर्हन्तों की मन, वचन, काय के द्वारा सदा उत्कृष्ट भक्ति करते थे ॥89॥

गण द्वारा पूज्य, पंचाचार-परायण और छत्तीस गुण-धारक आचार्यों की रत्नत्रयदायिनी भक्ति को वे सदा करते थे ॥90॥

अज्ञानान्धकार के नाशक, विश्व के प्रकाशक ऐसे बहुश्रतवन्त मुनिराजों की ज्ञान की खानिरूप भक्ति करते थे ॥91॥

वे एकान्त अन्धतम के नाशक. समस्त तत्व से परिपर्ण, जैन प्रवचन की और जिनवाणी माता की परम भक्ति करते थे ॥92॥

वे मुनिराज समता स्तुति त्रिकाल वन्दना सत्प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक जो कि सिद्धान्त के बीजभूत हैं, और नियम से पाप के नाशक हैं, उन्हें यथाकाल-यथासमय नियम से करते थे ॥93-94॥

वे चिद्-अचित् के भेदविज्ञान से, तपोयोग से और उत्कृष्ट आचरणों से सदा जीवों का हित करनेवाली सारभूत जैनमार्ग की प्रभावना करते थे ॥95॥

वे सम्यग्ज्ञानी पुरुषों का नियम से सम्मान करके पूर्णधर्म को देनेवाले प्रवचन का वात्सल्य करते थे ॥96॥

इस प्रकार तीर्थंकर की सद्-विभूति को देनेवाली इन सोलह कारण भावनाओं की शुद्ध मन वचन काय से प्रतिदिन भावना करके उसके फल द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का शीघ्र बन्ध किया। यह तीर्थंकर नामकर्म अनन्त महिमा से संयुक्त है और तीन लोक में क्षोभ का कारण है ॥97-98॥

जिस तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से इन्द्रों के सिंहासन प्रकम्पित होते हैं और मुक्ति लक्ष्मी स्वयं आकर के सन्तों का आलिंगन करती है ॥99॥

इस प्रकार मरण-पर्यन्त निर्दोष संयम का पालन कर और अपनी अल्पायु को जानकर उन्होंने आहार और शारीरिक क्रियाओं को छोड़कर

त्रिजगत् के सुख देनेवाले और व्रतों को सफल करनेवाले संन्यास को उन्होंने मोक्ष और समाधि की प्राप्ति के लिए परम विशुद्धि के साथ धारण कर लिया ॥100-101॥

तत्पश्चात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की शुद्धि करनेवाली मुक्तिरमा की मातृस्वरूपा चारों आराधनाओं का परम यत्न से आराधन कर, मन को विकल्पों से रहित कर, तथा शुद्ध आत्मा में अपने को स्थापित कर उन बुद्धिमान नन्दमुनिराज ने समस्त प्राणियों की रक्षा करनेवाले अपने प्राणों को समाधिपूर्वक छोड़ा ॥102-103॥

तत्पश्चात् वे मुनिराज उस समाधि-योग के फल से अनेक प्रकार की विभूति के समुद्र ऐसे सोलहवें अच्युतकल्प में देवों से पूजित अच्युतेन्द्र उत्पन्न हुए ॥104॥

वहाँ पर यह अच्युतेन्द्र अन्तर्मुहूर्त में सहज उत्पन्न हुए दिव्य माल्य, आभूषण, वस्त्र और यौवनावस्था से भूषित उत्तम शरीर को पाकर, रत्नमयी उपपाद शिला के अन्तःस्थित कोमलशय्या से उठकर तथा वहाँ की सभी रमणीय अद्भुत वस्तुओं को देखकर स्वर्ग की ऋद्धि, देवियाँ और विमान आदि के देखने से हृदय में आश्चर्यमुक्त होकर धीरे से सोकर उठते हुए राजकुमार के सदृश वह इन्द्र अपने मन में इस प्रकार चिन्तवन करने लगा ॥105-107॥

अहो, मैं पुण्यात्मा कौन हूँ, सुखों का भण्डार यह कौन देश है, ये वत्सल, दक्ष, विनय से परिपूर्ण देव कौन है ? दिव्य लक्ष्मी और रूप की खानि ये सुन्दर देवियाँ कौन हैं ? ये आकाश में अधर रहनेवाली रत्नमय भवनों की पंक्तियाँ किनकी हैं ? यह देव-रक्षित, मनोज्ञ सात प्रकार की यह सेना किसकी है ? यह परम उन्नत देदीप्यमान सभामण्डप किसका है, यह दिव्य रत्नमय उत्तुंग सिंहासन किसका है ? ये दूसरी अनुपम नाना प्रकार की बहुत-सी विभूतियाँ किसकी हैं ? किस कारण से ये सभी अतिसुन्दर विनीत जन मुझे देखकर अति आनन्दित हो रहे हैं ? ॥108-112॥

अथवा पूर्वोपार्जित किस अद्भुत पुण्यकर्म के द्वारा मैं इस समस्त ऋद्धियों से परिपूर्ण मन्दिरवाले देश में लाया गया हूँ ॥113॥

इत्यादि प्रकार से चिन्तवन करनेवाले उस देवेन्द्र के जबतक हृदय में सन्देह का नाश करनेवाला निश्चय नहीं हो रहा था, तभी उसके कुशल विद्वान् सचिव अवधिज्ञानरूप नेत्र से उसके अभिप्राय को जानकर और उसके चरणों को नमस्कार कर अपने दोनों हाथों को जोड़कर मस्तकपर रखते हुए हर्ष से दिव्य वाणी द्वारा उसका सन्देह दर करने के लिए उससे बोले ॥114-116॥

हे देवेन्द्र, हे स्वामिन् , निर्मल दृष्टि से हम लोगोंपर प्रसन्न होइए, और नमस्कार करते हुए आप के पूर्वापर **अर्थ**-सम्बन्ध के सूचक हमारे वाक्य सुनिए ॥117॥

हे नाथ, आज हम लोग धन्य हैं, आज हमारा जीवन सफल हो गया, क्योंकि आज आपने अपने जन्म से यहाँपर हम लोगों को पवित्र किया है ॥118॥

यह सर्व ऋद्धियोंवाला सागर अच्युत नामक महान् स्वर्ग है जो कि समस्त कल्पों के मस्तक पर चूड़ामणि रत्न के समान शोभित हो रहा है ॥119॥

यहाँ पर मनोवांछित भोग और वचनों के अगोचर सुख प्राप्त हैं। जो वस्तु तीनों लोकों में दुर्लभ है, वह सब यहाँ उत्पन्न होनेवालों को सुलभ है ॥120॥

यहाँ पर स्वभाव से ही सभी गाय कामधेनु हैं, सभी पेड़ कल्पवृक्ष हैं, और सभी रत्न चिन्तामणि हैं ॥121॥

यहाँ पर दुःख की कारणभूत ऋतुएँ कभी नहीं होती हैं। किन्तु सर्वसुखदायक साम्यता को प्राप्त एक-सा ही काल रहता है॥१२२॥

यहाँ पर कभी भी दिन-रात का विभाग नहीं होता। किन्तु दिन की शोभा और सुख का करनेवाला एकमात्र रत्नों का प्रकाश रहता है ॥123॥

यहाँ पर दीन, दुःखी, रोगी, अभागी, कान्तिहीन, पापी और गुण-रहित कोई भी जीव स्वप्न में भी नहीं दिखाई देता है ॥124॥

यहाँ पर जिनमन्दिरों में सदा ही श्री जिनेन्द्रदेवों की महापूजा होती रहती है और नृत्य-संगीत आदि से प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहता है ॥125॥

यहाँ पर असंख्यात और संख्यात योजन विस्तारवाले श्रेणीबद्ध देव-विमान हैं, जिन की संख्या एक सौ उनसठ है और वे सभी सुख के सागर हैं ॥126॥

उन के मध्य में अन्य एकसौ तेईस प्रकीर्णक विमान हैं । ये सब दिव्य हैं। इस अच्युत कल्प में छह इन्द्रक विमान हैं ॥127॥
ये दश हजार की संख्यावाले सामानिक देव हैं । आज्ञा के बिना शेष सब महाभोगों में ये आप के समान ही महाऋद्धिवाले हैं ॥128॥
ये तीस संख्यावाले देवों में उत्तम त्रायस्त्रिंश देव हैं। ये आप के पुत्र के समान हैं और इन का हृदय आप के प्रति स्नेह से भरा हुआ है ॥ 129॥
ये चालीस हजार आत्मरक्षक देव हैं, जो आप के अंग-रक्षकों के समान हैं और केवल वैभव के लिए ही हैं ॥130॥
ये एक सौ पचीस देव आप की अन्तःपरिषद् के सदस्य हैं। ये दो सौ पचास देव मध्यम परिषद् के सभासद् है और ये पाँच सौ देव बाहरी परिषद् के पारिषद हैं। ये सभी देव आप की आज्ञाकारी है। ये चार लोकपाल हैं जो आप की अपनी-अपनी दिशा का लोक से अन्ततक पालन करते है ॥131-132॥
इन लोकपालों में से प्रत्येक की बत्तीस-बत्तीस देवियाँ हैं, जो सुख भोगादि की खानि हैं ॥133॥
ये रूप-लावण्य से भूषित आप की आठ महादेवियाँ हैं, जो आप की आज्ञाकारिणी और आप के राग में रंजित हृदयवाली हैं ॥134॥
इन प्रत्येक महादेवी के परिवार में ढाई-ढाई सौ देवियाँ हैं जो तीन ज्ञान और विक्रिया ऋद्धि से युक्त हैं ॥135॥
ये तिरसठ वल्लभि का देवियाँ हैं जो कि उत्तम भारी रूप-सम्पदा से युक्त हैं, आप के चित्त को हरनेवाली हैं ॥136॥
हे नाथ, ये सब मिलाकर दो हजार इकहत्तर परम देवियाँ आप को समर्पित हैं ॥137॥
ये आप की एक-एक महादेवी दश लाख चौबीस हजार स्त्रियों के दिव्यरूप विक्रिया से बना सकती हैं ॥138॥
हाथी, घोड़े, रथ, पयादे, बैल, गन्धर्व और देवनर्त की वाली ये सात प्रकार की आप की उत्तम सेना है ॥139॥
एक-एक जाति की सेना की पृथक्-पृथक् सात-सात कक्षाएँ हैं । प्रत्येक कक्षा(पलटन) के अलग-अलग सेना महत्तर( सेनापति) देव हैं ॥ 140॥
हाथियों की पहली कक्षा में बीस हजार हाथी हैं। शेष कक्षाओं में इस से दूनी-दूनी संख्या है । इसी प्रकार हे देवेन्द्र, आप की आज्ञा-परायण घोड़े आदि छहों सेनाओं के प्रत्येक कक्षा की संख्या जानिए ॥141-142॥
एक-एक देवी की अप्सराओं की तीन-तीन सभाएँ हैं, जो कि गीत, नृत्य, कला, ज्ञान-विज्ञानादि गुणों से सम्पन्न हैं ॥143॥
महादेवी की प्रथम अन्तःपरिषद् में पचीस देवियाँ हैं, दूसरी मध्यम परिषद्। पचास देवियाँ हैं और तीसरी बाहरी परिषद् में सौ देवियाँ हैं ॥ 144॥
हे नाथ, ये सब दिव्य विभूति और अन्य अनेक प्रकार की सम्पदा आप के अद्भुत पुण्य से आप के सम्मुख उपस्थित हैं ॥145॥
हे नाथ, आज आप अपने पुण्य से इस समस्त स्वर्ग के राज्य के स्वामी हो और इस समस्त अनुपम विभूति को ग्रहण करो ॥146॥
इस प्रकार से उस सचिव देव के वचनों को सुन करके और तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञान से पूर्वभव के वृत्तान्त को जानकर धर्म में तत्पर होता हुआ वह बुद्धिमान् अच्युतेन्द्र साक्षात् पुण्य के फल को देखकर पूर्वभव-सूचक यह वचन बोला ॥147-148॥
अहो, मैंने पूर्वभव में सर्व प्रकार का निर्दोष घोर तप किया है, कायरजनों को भय देनेवाले शुभ ध्यान, अध्ययन और योगादि किये हैं, जगत्पूज्य पंचपरमेष्ठी की आराधना की है, विशुद्ध भावना के साथ परम रत्नत्रयधर्म को धारण किया है, इन्द्रियों के विषयरूप वन को जलाया है, कामदेव रूप शत्रु को मारा है, कषायरूप शत्रुओं का दमन किया है, सभी परीषहों को जीता है और पूर्ण सामर्थ्य से मैंने पहले क्षमादि दश लक्षणवाले धर्म का परिपालन किया है उसीने मुझे यहाँ इस पदपर स्थापित किया है ॥149-152॥
अथवा उपमा-रहित और सर्वसुखदायक यह समस्त स्वर्ग का विशाल साम्राज्य धर्म का ही फल है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥153॥
अतः तीनों लोकों में कहींपर भी धर्म के समान दूसरा कोई बन्धु नहीं है। धर्म ही संसार-समुद्र से पार उतारनेवाला रक्षक है और धर्म ही सब **अर्थ** का साधक है ॥154॥
धर्म ही जीवों का सहगामी है, धर्म ही पापरूप शत्रु का नाशक है, धर्म ही स्वर्ग-मुक्ति का दाता है और धर्म ही समस्त सुखों की खानि है। ऐसा समझकर सुख के इच्छुक ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे सभी अवस्थाओं में सदा ही निर्मल आचरणों से परम धर्म का पालन करें ॥ 155-156॥
अहो, जिस चारित्र से उस लोक में और इस लोक में यह सब महान् वैभव प्राप्त होता है उस चारित्र धर्म को पालन करने के लिए आज मैं

क्या करूँ ॥157॥

अथवा धर्म आदि की सिद्धि के लिए एक दर्शनविशुद्धि ही मेरे यहाँ पर होवे, तथा श्री जिननाथों की भक्ति और उन की मूर्तियों का परम पूजन ही करूं ? ऐसा कहकर और स्नान-वापिका में स्नान करके देवांगनाओं से घिरा हुआ वह अच्युतेन्द्र धर्मोपार्जन के लिए अपने अकृत्रिम जिनालय में गया ॥158-159॥

वहाँ पर उसने भक्ति-भाव से नम्रीभूत होकर अर्हन्तों के प्रतिबिम्बों का नमस्कारपूर्वक महापूजन संकल्पमात्र से उत्पन्न हए जलादि-फल पर्यन्त आठ प्रकार के दिव्य दव्यों से गीत. नत्य, वाद्य. स्तवनादि के द्वारा की ॥160-161॥

तत्पश्चात् चैत्य वृक्षों के नीचे विराजमान जिनप्रतिमाओं को पूजकर वह देवेन्द्र भक्ति के साथ तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक और देवलोक में स्थित कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए गया और तीर्थंकर गणधर आदि मुनीश्वरों को नमस्कार-पूजन कर और उन से धर्म-तत्त्व को सुनकर उसने महान् धर्म उपार्जन किया ॥162-163॥

तत्पश्चात् वहाँ से वापस अपने स्थान पर आकर अपने पुण्य से उत्पन्न और देवों द्वारा समर्पित नाना प्रकार की सर्व विभूति को उसने स्वीकार किया ॥164॥

वह इन्द्र तीन हाथ उन्नत अति दिव्य देह का धारक, नेत्रों को अतिप्रिय, स्वेद-धातु आदि सर्व मलों से रहित और नेत्र-टिमकार से रहित था ॥165॥

छठी पृथिवी तक के तीन प्रकार के रूपी द्रव्यों को अपने अवधि-ज्ञान से जानता हुआ वह देव अवधिज्ञान प्रमाण क्षेत्र में विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से गमनागमन करने में समर्थ था, बाईस सागर प्रमाण आयु थीं और सब उत्तम आभरणों से भूषित था ॥166-167॥

बाईस हजार वर्ष बीतनेपर सर्वांग को तृप्त करनेवाला अमृतमय दिव्य आहार मन से ग्रहण करता था ॥168॥

ग्यारह मास बीतनेपर दिमण्डल को सुरभित करनेवाला सुगन्धिवाला दिव्य उच्छ्वास नाममात्र को लेता था ॥169॥

भक्ति से भरा हुआ वह अच्युतेन्द्र तीर्थंकरों के पंच कल्याणकोंको, एवं शेष केवलियों के ज्ञान-निर्वाण इन दो कल्याणकों को निरन्तर करता हुआ महापूजनादि के महोत्सवों द्वारा अपने धर्म को बढ़ाता था, सर्व देवों से पूजित हैं चरण-कमल जिस के ऐसा धर्म-कार्य में अग्रणी वह महान देवेन्द्र अपनी महादेवियों के साथ कोटि प्रकार के क्रीड़ा-कौतूहलादि से खेलता मनःप्रवीचारजनित अनुपम महान् सुख को भोगता था ॥170-172॥

इस प्रकार सर्वदेवों से नमस्कृत अच्युत स्वर्ग का स्वामी वह देवेन्द्र वहाँपर परम आनन्दरूप सुख-सागर के मध्य में निमग्न रहने लगा ॥173॥

इस प्रकार धर्म के फल से वह देवेन्द्र सर्ववैभवों से परिपूर्ण स्वर्ग के उत्तम राज्य को प्राप्त कर सारभूत दिव्य महाभोगों को भोगने लगा। ऐसा जानकर सुचतुर पुरुष शम, दम और योग से एक धर्म को ही निरन्तर पालन करें ॥174॥

साथियों के साथ मेरे द्वारा धर्म आचरण किया गया, मैं धर्म को नित्य करता हूँ, धर्म के द्वारा मैं अनुपम चारित्र का पालन करता हूँ, धर्म के लिए मस्तक नवाकर नमस्कार है, मैं धर्म से भिन्न किसी अन्य वस्तु का आश्रय नहीं लेता हूँ, मोक्ष की प्राप्ति के लिए मैं धर्म के मार्ग का सेवन करता हूँ, धर्म में अपने मन को लगानेवाले मेरे हृदय में हे धर्म, तुम निरन्तर विराजमान रहो ॥175॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीतिविरचित श्री-वीरवर्धमानचरित में नन्दराजा के तप का, अच्युतेन्द्र की उत्पत्ति और वहाँ को विभूति का वर्णन करनेवाला छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥6॥

## सातवाँ-अधिकार

भगवान् का गर्भावतार

कथा :

समस्त विघ्न-समूह के विनाशक, तीन जगत् के स्वामियों से सेवित और पंचकल्याणकों के नायक श्री पार्श्वनाथ तीर्थश की मैं वन्दना करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर इसी भारतवर्ष में विदेह नामक एक विशाल देश है, जो श्रेष्ठ धर्म और मुनीश्वरों के संघ आदि से विदेहक्षेत्र के समान शोभायमान है ॥2॥

अहो, वहाँ के कितने ही मुनिराज शुद्ध चारित्र से देह-रहित (मुक्त) होते हैं, इस कारण से वह देश 'विदेह' इस सार्थक नाम को धारण करता है ॥3॥

वहाँ के कितने मनुष्य दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं के द्वारा उत्तम तीर्थंकर नामकर्म को बाँधते हैं और कितने ही पंच अनुत्तर विमानों में जाकर अहमिन्द्रपद प्राप्त करते हैं ॥4॥

कितने ही भव्य जीव उच्च भक्ति के साथ पात्र के लिए दान देकर भोगभूमि को जाते हैं और कितने ही जिन-पूजन के प्रभाव से इन्द्रों का स्थान प्राप्त करते हैं ॥5॥

जिस देश में तीर्थंकर और सामान्य-केवलियों की देव, मनुष्य, विद्याधरों से वन्द्य निर्वाणभूमियाँ पद-पद पर दृष्टिगोचर होती हैं ॥6॥

जहाँ के वन और पर्वतादिक ध्यान-स्थित योगियों के द्वारा शोभित हैं और जहाँ के नगर-ग्रामादिक उत्तुंग जिनमन्दिरों से निरन्तर शोभा पा रहे हैं ॥7॥

जहाँ पर ग्राम, पुर, खेट, मटम्ब आदि और वन-प्रदेश उन्नत और उत्तम जिनालयों से पुण्य की खानि के समान शोभित हैं ॥8॥

जहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति के लिए केवलज्ञानी भगवन्त, गणधर और मुनिराजों के समूह चारों प्रकार के संघों के साथ विहार करते रहते हैं ॥9॥

इत्यादि वर्णन से संयुक्त उस देश के भीतर नाभि के समान मध्यभाग में कुण्डपुर नामक महान नगर विराजमान है ॥10॥

जो सुरक्षक उत्तुंग गोपुरों से, कोट और खाई से शत्रुओं द्वारा अलंध्य है, अतः साकेतपुर (अयोध्यानगर) के समान अयोध्या है ॥11॥

जहाँ पर केवली और तीर्थंकरों के कल्याणकों के लिए, तथा तीर्थयात्रादि के लिए समागत देवों द्वारा सदा परम उत्सव होता रहता है ॥12॥

जहाँ पर उन्नत सुवर्ण-रत्नमयी उत्तम जिनालय शोभायमान है, जो ज्ञानीजनों के द्वारा सेव्यमान हैं अतः वे अद्भुत धर्म के समुद्र के समान प्रतीत होते हैं ॥13॥

वे जिनालय जय, नन्द आदि शब्दों से, स्तवन आदि से, गीत, वाद्य, नृत्यादि से, दिव्य मणिमयी जिनबिम्बों से और उत्तम दिव्य, हेम-रचित उपकरणों से युक्त हैं और उनमें मनुष्य-युगल (स्त्री-पुरुषों के जोड़े) पूजन के लिए सदा आते-जाते रहते हैं, जो अपने गुणों के द्वारा दिव्य रूपवाले देव-युगल के समान शोभित होते हैं ॥14-15॥

जहाँ के बुद्धिमान् दानी पुरुष भक्ति-भार से युक्त होकर पात्रदान के लिए नित्य अपने घर का द्वार बार-बार देखते रहते हैं ॥16॥

कितने ही पुरुष सुपात्रदान से देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं और उनके द्वारा की गयी रत्नवृष्टि को देखकर कितने ही दूसरे लोग दान देने के लिए तत्पर होते हैं ॥17॥

जो नगर ऊँचे प्रासादों के अग्रभाग पर लगी हुई ध्वजारूपी हाथों से उच्चतर पद की प्राप्ति के लिए देवेन्द्रों को बुलाता हुआ-सा शोभता है ॥18॥

उस नगर के ऊँचे भवनों में दातार, धार्मिक, शूरवीर, व्रत-शील-गुणों के धारक, जिनेन्द्र देव और सद्-गुरुओं की भक्ति, सेवा और पूजा में तत्पर, नीति-मार्ग-निरत, चतुर, इस लोक और पर लोक के हित-साधने में उद्यत, धर्मात्मा, सदाचारी, धनी, सुखी, ज्ञानी, और दिव्यरूपवाले मनुष्य तथा उनके समान गुणवाली स्त्रियाँ रहती हैं, वे स्त्री-पुरुष देव-देवियों के समान पुण्यशाली प्रतीत होते हैं ॥19-22॥

उस कुण्डपुर के स्वामी श्रीमान् सिद्धार्थ नामवाले महीपाल थे, जो काश्यपगोत्री, हरिवंशरूप गगन के सूर्य, तीन ज्ञान के धारक, बुद्धिमान, नीतिमार्ग के प्रवर्तक, जिनभक्त, महादानी, दिव्य लक्षणों से संयुक्त, धर्मकार्यों में अग्रणी, धीर वीर, सम्यग्दृष्टि, सज्जनवत्सल, कला विज्ञान चातुर्य विवेक आदि गुणों के आश्रय, व्रत शील शुभध्यान भावनादि में परायण, राजाओं में प्रमुख थे और जिनके चरण विद्याधर, भूमिगोचरी और देवेन्द्रों के द्वारा सेवित थे ॥23-25॥

वे पुण्यात्मा सिद्धार्थ नरेन्द्र दीप्ति, कान्ति, प्रताप आदि से, दिव्यरूप वस्त्रों से, उत्कृष्ट वेष-भूषा से और सारभूत धर्ममूलक सर्वप्रवृत्तियों से समस्त राजाओं के मध्य में इस प्रकार शोभायमान थे, जैसे कि अतिपुण्य बुद्धिवाला देवेन्द्र देवों के मध्य में शोभा पाता है ॥26-27॥

उस सिद्धार्थ नरेश की रानी 'प्रियकारिणी' इस उत्तम नामवाली महादेवी थी। जो अपने अनुपम गुण-समूह से जगत् की पुण्यकारिणी थी ॥28॥

वह अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कला के समान जगत् को आनन्द देनेवाली थी। कला विज्ञान चातुर्य के द्वारा सरस्वती के समान सर्वजनों

को प्रिय थी, अपने चरणकमलों से जल में उत्पन्न होनेवाले कमलों को जीतती थी, नखरूप चन्द्र की किरणों से शोभित थी, मणिमयी नूपुरों की झंकारों से सर्व दिशाओं को व्याप्त करती थी ॥29-30॥

केले के गर्भ-सदृश कोमल जंघावली, मनोहर, दो सुन्दर जानुओं से युक्त, दो उदार ऊरुओं से भूषित, कामदेव के निवास-स्थानवाले स्त्री-चिह्न से भूषित, कांचीदाम (करधनी) और दिव्य वस्त्रों से परिष्कृत कमरवाली, मध्य में कृश और ऊपर पुष्ट शरीरवाली, गम्भीर नाभिवाली, कृशोदरी, मणियों के हार आदि से भूषित अंगवाली, उन्नत सुन्दर स्तनों की धारक, अशोक की पत्रकान्ति को जीतनेवाले कोमल हाथों से युक्त, कण्ठ के आभूषणों से शोभित, उत्तम कण्ठ-स्वर से कोकिल की बोली को जीतनेवाली, महाकान्ति, कलकलालाप और दीप्ति से प्रकाशित उत्तम मुखवाली, कानों के आभूषण युक्त सुन्दर आकारवाले कानों से अलंकृत, अष्टमी के चन्द्रसमान ललाटवाली, दिव्य नासिकावाली, सुन्दर भोंहें, नीलकेश और पुष्पमाला से युक्त मस्तकवाली, अत्यन्त रूप-सौन्दर्य, लावण्य और उत्तम विद्याओं को धारण करनेवाली वह सती प्रियकारिणी, मानो तीन लोक में सारभूत परमाणुओं से निर्मित प्रतीत होती थी। इन उक्त गुणों को आदि लेकर अन्य समस्त स्त्री-लक्षणों के समूह से तथा असाधारण गुणों के पुंज से वह लोक में शची के समान शोभती थी ॥३१-३८॥

वह गुणरूप रत्नों की खानि थी, समस्त सम्पदाओं की निधान थी और श्रुतदेवी के समान अनेक शास्त्र-समुद्र की पारंगत थी। वह अपने भर्तार को प्राणों से भी अधिक प्यारी थी और इन्द्र के इन्द्राणी के समय परम प्रेम की भूमिका थी ॥39-40॥

महापुण्य के परिपाक से महान् उदय को प्राप्त वे दम्पती राजा-रानी महान् भोगोपभोग को भोगते हुए आनन्द से रहते थे ॥41॥

अथानन्तर सौधर्मस्वर्ग के इन्द्र ने उक्त अच्युतेन्द्र की छह मास प्रमाण शेष आयु को जानकर कुबेर के प्रति इस प्रकार कहा - हे धनद, इस भरतक्षेत्र में सिद्धार्थ राजा के राजमन्दिर में अन्तिम तीर्थकर श्रीवर्धमान स्वामी अवतार लेंगे, अतः तुम जा करके उनके भवन में रत्नों की वर्षा करो, तथा पुण्य-प्राप्ति के लिए स्व-पर को सुख करनेवाले शेष आश्चर्यों को भी करो ॥42-44॥

वह यक्षेश अमरेन्द्र के इस आदेश को शिरोधार्य कर द्विगुण हर्षित होता हुआ महीतल पर आया ॥45॥

तत्पश्चात् उस यक्षेश ने सिद्धार्थ राजा के भवन में प्रतिदिन मणिसुवर्ण बरसाते हुए हर्ष से रत्नवृष्टि आरम्भ कर दी ॥46॥

ऐरावत हाथी की सूंड़ के समान आकारवाली नाना रत्नमयी वह धारा आकाश से गिरती हुई ऐसी शोभती थी, मानो पुण्यरूपी कल्पवृक्ष से लक्ष्मी ही आ रही हो ॥47॥

गगनांगण से गिरती हुई वह देदीप्यमान हिरण्यमयी वृष्टि इस प्रकार शोभा दे रही थी, मानो त्रिजगद्-गुरु के माता-पिता को सेवा करने के लिए ज्योतिर्मय नक्षत्रमाला ही आ रही हो ॥48॥

गर्भाधान से पूर्व छह मास तक सिद्धार्थ नरेश के मन्दिर में कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्पों के और सुगन्धित जलवर्षा के साथ, तथा बहुमूल्यवाले मणियों और सुवर्णों के द्वारा श्री जिनेश्वरदेव की विभूति से सेवा करने के लिए प्रतिदिन महारत्नवृष्टि करने लगा ॥49-50॥

उस समय कान्तिमान माणिक्य और सुवर्ण की राशियों से परिपूर्ण राजमन्दिर मणियों की रमणीक किरण-समूह से प्रकाशमान ग्रहचक्र के समान शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥51॥

उस समय कितने ही विचक्षण पुरुष उत्तम मणि-सुवर्णादि से व्याप्त राजभवन और आँगन को देखकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे ॥52॥

अहो, त्रिजगद्-गुरु के इस असीम माहात्म्य को देखो कि यक्षराज ने इस राजा का मन्दिर रत्नों से पूर दिया है ॥53॥

उनकी यह बात सुनकर दूसरे लोग बोले - अहो, यह कोई अद्भुत बात नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर के माता-पिता की सेवा को देव भक्ति से करते हैं ॥54॥

उनकी यह बात सनकर अन्य पुरुष इस प्रकार बोले - अहो, यह सब धर्म का प्रकृष्ट फल है जो होनेवाले तीर्थंकर पुत्र के सम्बन्ध से यह भारी रत्नवर्षा हो रही है ॥55॥

क्योंकि धर्म के प्रभाव से तीन लोक-द्वारा पूजित तीर्थंकर पद की कल्याणरूप सम्पदावाले पुत्र उत्पन्न होते हैं और दुःख से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ भी सुख से अनायास प्राप्त हो जाती हैं ॥56॥

तब दूसरे लोग इस प्रकार बोले - अहो, यह वचन सत्य है, क्योंकि धर्म के बिना पुत्र आदि अभीष्ट सम्पदाएँ नहीं प्राप्त होती हैं ॥57॥

इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्यों को नित्य ही प्रयत्न पूर्वक धर्म करना चाहिए। वह अहिंसा लक्षण धर्भ निर्मल अणुव्रत और महावत के भेद

से दो प्रकार का है ॥58॥

इसके पश्चात् किसी दिन वह स्वस्थ महादेवी प्रियकारिणी राजमन्दिर के भीतर कोमल शय्या पर रात्रि के अन्तिम शुभ प्रहर में अति सुख से सो रही थी, तब उसने पुण्य-परिपाक से जगत् के हित करनेवाले, और तीर्थंकर के सर्व अभ्युदय के सूचक ये वक्ष्यमाण सोलह स्वप्न देखे ॥ 59-60॥

उसने आदि में तीन स्थानों से मद झरते हुए श्वेत मदोन्मत्त गजेन्द्र को देखा। तत्पश्चात् गम्भीरध्वनि करनेवाले दीप्तियुक्त चन्द्र समान उज्ज्वल वृषभराज को देखा ॥61॥

तदनन्तर कान्तियुक्त, लाल कन्धेवाला विशाल देह का धारक मृगराज को देखा । पुनः कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी को देव हस्तियों के द्वारा सुवर्णकलशों से स्नान कराते हुए देखा ॥62॥

पुनः उसने दिव्य सुगन्धि से उन्मत्त भौंरों को आकृष्ट करनेवाली दो मालाएँ देखीं। पुनः अन्धकार को नाश करनेवाला, ताराओं के साथ सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा देखा ॥63॥

पुनः अन्धकार को सर्वथा नाश करनेवाला ऐसा उदयाचल से उदित होता हुआ सूर्य देखा । इसके पश्चात् कमलों से ढंके हुए मुखवाले दो सुवर्णमयी कलश देखे ॥64॥

तदनन्तर कुमुदों और कमलों के संचयवाले सरोवर में क्रीड़ा करती दो मछलियाँ देखीं। पुनः जिसमें कमल-पराग तैर रहा है ऐसा जल-पूर्ण दिव्य सरोवर देखा ॥65॥

पुनः उसने गम्भीर ध्वनि करता हुआ उमड़ता समुद्र देखा। पुनः स्फुरायमान मणिमय उत्तुंग दिव्य सिंहासन देखा ॥66॥

पुनः हर्षित होती हुई रानी ने बहुमूल्य रत्नों से प्रकाशमान देवविमान देखा। पुनः भूमि को भेदकर निकलता हुआ देदीप्यमान धरणेन्द्र का विमान देखा ॥67॥

अपनी किरणों से आकाश को प्रकाशित करनेवाली रत्नराशि देखी। सबसे अन्त में उस जिनमाता ने प्रदीप्त निर्धूम अग्नि देखी ॥68॥

इन स्वप्नों के अन्त में प्रमोद संयुक्त माता ने पुत्र के आगमन का सूचक, उन्नत गजराज को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा ॥69॥

तत्पश्चात् प्रातःकालीन बाजों की अद्भुत ध्वनि चारों ओर फैल गयी और उस माता को जगाने के लिए सुन्दर कण्ठवाले तथा अस्खलित वाणीवाले वन्दीजन उत्तम मंगल गीत आदि को गाते हुए इस प्रकार स्तुति करने लगे - हे देवि, जगने का समय तेरे सम्मुख आकर उपस्थित हुआ है, अतः शय्या को छोड़ो और अपने योग्य शुभ कार्यों को करो जिससे कि तुम जगत् में सारभूत सब कल्याणों को पाओगी ॥70-72॥

प्रभातकाल में समता-सहित चित्तवाले कितने ही श्रावक सामायिक को करते हैं, जो कि कर्मरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है ॥73॥

कितने ही मनुष्य शय्या से उठकर सर्व-विघ्न-विनाशक, लक्ष्मी और सुख के भण्डार पंचपरमेष्ठियों के नमस्कार-मन्त्र का जाप करते हैं ॥ ७४॥

कितने ही तत्त्वों के ज्ञाता महाबुद्धिमान् लोग मन को रोककर कर्म का नाशक और सुख का सागर धर्मध्यान करते हैं ॥75॥

कितने ही धीर पुरुष मुक्ति प्राप्ति के लिए शरीर का त्याग कर कर्म-नाशक एवं स्वर्ग-मोक्ष सुख का साधक कायोत्सर्ग करते हैं ॥76॥

इत्यादि शुभ कार्यों के द्वारा चतुर लोग अब इस प्रभातकाल में अपने हित के लिए धर्मध्यान के साथ प्रवृत्त हो रहे हैं ॥77॥

जिस प्रकार जिन देवरूपी सूर्य के उदय होने पर कुमतिरूपी खद्योत (जुगनूँ) प्रभा-हीन हो जाते हैं, उसी प्रकार इस समय सूर्य के उदय होने पर ये चन्द्रमा और तारागण प्रभा-हीन हो रहे हैं ॥78॥

जिस प्रकार अर्हन्तरूपी भानु के उदय होने पर कुलिंगीरूपी चोरों का समूह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस समय सूर्य के उदय होने पर चोर भयभीत होकर विनष्ट हो रहे हैं ॥72॥

जिस प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य अपनी दिव्यध्वनि रूपी किरणों से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार यह सूर्य भी अपनी किरणों के द्वारा रात्रि के अन्धकार का नाश कर रहा है ॥80॥

जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान् अपने शुद्ध वचन-किरणों के द्वारा सन्मार्ग और जीवादि पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य

भी अपनी किरणों से सांसारिक पदार्थों को प्रकाशित कर रहा है ॥81॥
जिस प्रकार अर्हन्तदेव के वचन-किरणों के समूह से भव्य जीवों के हृदय-कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य की किरणों से ये कमल भी विकसित हो रहे हैं ॥82॥
जिस प्रकार अर्हन्तदेव के दिव्य वचन-किरणों से पापियों के हृदय-कुमुद म्लान हो जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य की किरण-समूह से कुमुद म्लान हो रहे हैं ॥83॥
हे देवि, अब यह सर्व सुख-कारक प्रातःकाल हो रहा है, जो कि सर्व अभ्युदय के साधक धर्मध्यान के योग्य है ॥84॥
अतः हे पुण्यशालिनि, शीघ्र शय्या को छोड़कर सामायिक, जिनस्तव आदि के द्वारा पुण्य कार्य करो और शत कल्याणभागिनी होवो ॥85॥
इस प्रकार उन बन्दीजनों के सारभूत, कानों को सुखदायी, मंगल गीतों के द्वारा बजते हुए बाजों के साथ वह रानी जाग गयी ॥8॥
तब स्वप्नों के देखने से उत्पन्न हुए आनन्द से जिसका हृदय परिपूर्ण है, ऐसी उस देवी ने शय्या से उठकर पुण्यवर्धिनी और सर्वमंगलकारिणी नित्य क्रियाओं को एकाग्रचित्त से मुक्ति के लिए सामायिक, जिनस्तुति आदि के साथ किया ॥87-88॥
तत्पश्चात् स्नान करके और वस्त्राभूषण धारण करके वह कितने ही स्वजनों के साथ राजा की सभा में गयी ॥89॥
राजा ने अपनी प्रिया को आती हुई देखकर स्नेह के साथ मधुर वचन बोलकर हर्ष से उसे अपना आधा आसन दिया ॥90॥
तब सिंहासन पर सुख से बैठकर इस रानी ने अपने मुख पर प्रमोद धारणकर मनोहर वाणी द्वारा अपने स्वामी से इस प्रकार निवेदन किया ॥21॥
हे देव, आज रात्रि के अन्तिम पहर में सुख से सोते हुए मैंने अद्भुत पुण्य के कारण ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥92॥
ऐसा कहकर उसने हाथी को आदि लेकर अग्नि पर्यन्त महा आश्चर्य करनेवाले उन उत्तम स्वप्नों को निवेदन किया और बोली - हे नाथ, इन स्वप्नों का भिन्न-भिन्न फल मुझे बताइए ॥93॥
रानी का यह कथन सुनकर तीन ज्ञान के धारक सिद्धार्थ ने कहा - हे सुन्दरि, तुम एकाग्रचित्त से सुनो, मैं इनका उत्तम फल कहता हूँ ॥94॥
हे उत्तम प्रिये, हाथी के देखने से तेरे तीर्थनाथ पुत्र होगा। बैल के देखने से वह जगत् में श्रेष्ठ और महान् धर्मरूप रथ का प्रवर्तक होगा ॥95॥
सिंह के देखने से वह कर्मरूपी गज-समुदाय का घातक अनन्त वीर्यशाली होगा। लक्ष्मी के देखने से वह सुमेरु की शिखरपर देवेन्द्रों द्वारा जन्माभिषेक को प्राप्त होगा ॥96॥
मालाओं के देखने से वह सुगन्धित देहवाला और सद्धर्मज्ञानरूप तीर्थ का प्रवर्तक होगा। पूर्णचन्द्र के देखने से वह श्रेष्ठ धर्मरूप अमृत का बरसानेवाला और ज्ञानियों को आनन्द करनेवाला होगा ॥97॥
सूर्य के देखने से अज्ञानरूपी अन्धकार का नाशक भास्वर कान्ति का धारक होगा। कलश-युगल के देखने से वह अनेक निधियों का स्वामी और ज्ञान-ध्यानरूपी अमृत से परिपूर्ण घटवाला होगा ॥98॥
मत्स्य-युगल के देखने से वह सर्व सुखों का करनेवाला, महासुखी होगा। सरोवर के देखने से वह दिव्य लक्षणों और व्यंजनों से शोभित शरीरवाला होगा ॥99॥
समुद्र के देखने से वह केवलज्ञानी और नव-केवललब्धियों वाला होगा। सिंहासन के देखने से वह साम्राज्य पद के योग्य जगद्-गुरु होगा ॥100॥
स्वर्गविमान के देखने से वह स्वर्ग से अवतरित होगा। नागेन्द्र-भवन के देखने से वह अवधिज्ञानरूप नेत्र का धारक होगा ॥101॥
रत्नराशि के देखने से वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणों का भण्डार होगा। और अग्नि के देखने से वह कर्मरूप काष्ठ को भस्म करेगा ॥102॥
मुख में प्रवेश करते हुए गजेन्द्र के देखने से आपके निर्मल गर्भ में अन्तिम तीर्थकर गजेन्द्र के आकार को धारण करके अवतरित होगा ॥103॥
इस प्रकार इन स्वप्नों का उत्तम फल सुनने से वह सती रोमांचित शरीर होती हुई पुत्र को प्राप्त हुए के समान अत्यन्त सन्तुष्ट हुई ॥104॥
इसी समय सौधर्म सुरेन्द्र के आदेश से पद्म आदि सरोवरों में रहनेवाली श्री आदि छहों देवियाँ वहाँ आयीं ॥105॥

उन्होंने स्वर्ग से लाये हुए दिव्य पवित्र द्रव्यों से पुण्य प्राप्ति के निमित्त तीर्थंकर की उत्पत्ति के लिए उस प्रियकारिणी के गर्भ का शोधन किया ॥106॥

पुनः समीप में रहकर और उसकी सेवा में तत्पर होकर उन सभी देवियों ने जिन माता में ये अपने-अपने गुण स्थापित किये ॥107॥

माता के शरीर में श्री देवी ने अपनी शोभा को, ह्री देवी ने अपनी लज्जा को, धृति देवी ने महान् धैर्य को, कीर्तिदेवी ने स्तुति को, बुद्धिदेवी ने बोधि को और लक्ष्मी देवी ने अपने वैभव को धारण किया ॥108॥

वह देवी स्वभाव से ही निर्मल थी; पुनः उन देवियों के द्वारा विशुद्ध किये जाने पर स्वच्छ स्फटिकमणि निर्मित शरीर के समान अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुई ॥109॥

उसी समय आषाढ़मास के शुक्लपक्ष के पवित्र षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में शुभ लग्नादिक होने पर वह धर्मात्मा देवेन्द्र धर्मध्यान के साथ अच्युत स्वर्ग से च्युत होकर पुण्योदय से प्रियकारिणी के पवित्र गर्भ में अवतरित हुआ ॥110-111॥

उसके गर्भधारण के माहात्म्य से स्वर्गलोक में घण्टाओं का भारी शब्द हुआ और इन्द्रों के आसन कम्पित हुए ॥112॥

ज्योतिष्क देवों के स्थानों में स्वयमेव ही सिंहनाद हुआ । भवनवासियों के भवनों में शंखध्वनि होने लगी ॥113॥

व्यन्तरों के घरों में अति गम्भीर भेरियों का शब्द हुआ। उस समय सर्व ही स्थानों में इसी प्रकार के अनेक आश्चर्य हुए ॥114॥

इत्यादि नाना प्रकार के आश्चर्यों को देखने से चतुर्णिकाय के देवों ने श्री तीर्थंकर देव के गर्भावतार को जाना ॥115॥

तब वे सभी देवेन्द्र अपनी-अपनी विभूति के साथ अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ हो उत्तम धर्म के करने में उद्यत हुए अपने शरीर के आभूषणों के तेज से दशों दिशाओं को उद्योतित करते, ध्वजा, छत्र, विमानादि से गगनाङ्गण को आच्छादित करते और जय-जय नाद करते और बाजों को बजाते हुए अपनी स्त्रियों और अपने देव-परिवार के साथ भगवान् के गर्भकल्याण की सिद्धि के लिए उस उत्तम कुण्डपुर नगर आये ॥116-118॥

उस समय अनेक विमानों से, अप्सराओं से और देव-सैनिकों से वह कुण्डपुर सर्व ओर से व्याप्त होकर अमरपुर के समान शोभित होने लगा ॥119॥

इन्द्रों ने तीर्थंकर भगवान के माता-पिता को भक्ति से सिंहासन पर बैठाकर चमकते हुए सुवर्ण कलशों द्वारा परम उत्सव के साथ अभिषेक करके, दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओं से सर्व देवों के साथ पूजा करके उन्होंने गर्भ के भीतर विराजमान जिनदेव का स्मरण कर और तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया ॥120-121॥

इस प्रकार गर्भकल्याणक करके और जगद्-गुरु की माता की सेवा में अनेक दिक्कुमारियों को नियुक्त करके तथा परम पुण्य उपार्जन करके वह आदि कल्प का स्वामी सौधर्मेन्द्र उत्तम चेष्टावाले देवों के साथ हर्षित होता हुआ देवलोक को चला गया ॥122-123॥

इस प्रकार उत्तम आचरण किये गये धर्म के प्रभाव से मनुष्य और स्वर्गलोक में अनुपम सारभूत सुखों को भोगकर तीर्थंकर देव ने अवतार लिया। ऐसा समझकर सुख के इच्छुक जन शिवगति के सुखों की सिद्धि के लिए जिन-भाषित निर्मल चारित्र धर्म का आश्रय लेवें ॥124॥

धर्म अधर्म का हर्ता है और सुधर्म का जनक है, अतः सुधर्म के जानकार उस धर्म का आश्रय लेते हैं। धर्म के द्वारा ही निश्चय से जिन पद प्राप्त होता है, अतः मुक्ति प्राप्ति के **अर्थ** धर्म के लिए नमस्कार है। जगत् में धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई सुखकारी नहीं हैं, धर्म का कारण चारित्र-आचरण है, अतः धर्म में स्थिति करनेवाले मुझे हे धर्म, तुम कर्मों से मुक्त करो ॥१२५॥

वीर भगवान् वीरों में ज्ञानियों के अग्रणी हैं, अतः पण्डित लोग शत्रुओं के जीतनेवाले वीर भगवान् का आश्रय लेते हैं, वीर के द्वारा ही सन्तपुरुषों का शत्रु-समूह विघटित होता है, अतः सिद्धि-प्राप्ति के **अर्थ** वीर प्रभु के लिए नमस्कार है। इस लोक में वीर से अतिरिक्त और कोई सुभट शत्रुओं का नाश करने में समर्थ नहीं है, वीर प्रभु के गुण नित्य हैं, मैं वीर भगवान् में अपने अति वीर मन को धारण करता हूँ, हे वीर भगवन् , मुझे वीर बनाओ ॥१२६॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीति-विरचित श्री-वीरवर्धमान चरित में भगवान् के गर्भावतार का वर्णन करनेवाला सप्तम अधिकार समाप्त हुआ ॥7॥

## आठवाँ-अधिकार

बालक वर्धमान का जन्म

कथा :

पंचकल्याणकों के भोक्ता, तीन लोक की लक्ष्मी के दाता और संसारी जीवों के त्राता श्री वीरनाथ की मैं उन की शक्ति प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥1॥

भगवान के गर्भ में आ ने के पश्चात् उन कुमारि का देवियों में से कितनी ही देवियाँ माता के आगे मंगल द्रव्यों को रखती थीं, कितनी ही देवियाँ माता को स्नान कराती थीं, कितनी ही ताम्बूल प्रदान करती थीं, कितनी ही रसोई के काम में लग गयीं, कितनी ही शय्या सजाने का काम करने लगीं, कोई पाद-प्रक्षालन कराती, कोई दिव्य आभूषण पहनाती, कोई माता के लिए कल्पलता के समान दिव्य मालाएँ बना के देती, कोई रेशमी वस्त्र पहन ने के लिए देती और कोई रत्नों के आभूषण लाकर देती थी ॥2-4॥

कितनी ही देवियाँ माता की शरीररक्षा के लिए हाथों में तलवार लिये खड़ी रहती और कितनी ही देवियाँ माता की इच्छा के अनुसार उन्हें अभीष्ट भोगादि की वस्तुएँ लाकर देती थीं ॥5॥

कितनी ही देवियाँ पुष्प-पराग से व्याप्त राजांगण को साफ करतीं और कितनी ही चन्दन के जल का छिड़काव करती थीं ॥6॥

कितनी ही देवियाँ रत्नों के चूर्ण से सांथिया आदि पूरती थीं, और कितनी ही कल्पवृक्षों के पुष्पों से ब ने फूल-गुच्छक भेंट करती थीं ॥7॥

कितनी ही देवियाँ आकाश में ऊँचे राजभवन के अग्रभाग पर रात के समय प्रकाशमान मणि-दीपक जलाती थीं जो कि सब ओर के अन्धकार का नाश करते थे। माता के गमन करते समय कितनी ही देवियाँ वस्त्रों को सँभालती थीं और उनके बैठते समय आसन-समर्पण करती थीं। माता के खड़े होने पर वे देवियाँ चारों ओर खड़ी होकर उन की सेवा करती थीं ॥8-9॥

वे देवियाँ कभी जलक्रीड़ाओं से, कभी वनक्रीड़ाओं से, कभी उसके गर्भस्थ पुत्र के गुणों से युक्त मधुर गीतोंसे, कभी नेत्र-प्रिय नृत्योंसे, कभी तीन प्रकार के बाजोंसे, कभी कथा-गोष्ठियों से और कभी दर्शनीय स्थलों को दिखा ने के द्वारा माता का मनोरंजन करती थीं ॥ 10-11॥

इन को आदि लेकर विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के अन्य दिव्य विनोदों के द्वारा वे जिन-माता को सर्व प्रकार से सुखी करती थीं ॥12॥

इस प्रकार उन दिक्कुमारी देवियों के द्वारा विधिपूर्वक उपासना की गयी सती जिन-माता ने उनके प्रभाव से व्याप्त होकर अनुपम शोभा को धारण किया ॥13॥

_ अथानन्तर नवम मास के समीप आने पर महागुणशालिनी, बुद्धि प्रकर्षधारिणी उस गर्भवती माता का मन देवियों ने गूढ़ **अर्थ** और गूढ़ क्रियापदवाले नाना प्रकार के मनोहर प्रश्नोंसे, प्रहेलि का (पहेलियाँ ) पूछकर, निरोष्ठय (ओठ से नहीं बोले जानेवाले वर्गों से युक्त) काव्य, और धार्मिक श्लोकों के द्वारा इस प्रकार से रंजायमान करना प्रारम्भ किया ॥14-15॥

देवियों ने पूछा-हे माता, बनाओ-नित्य ही कामिनी जनों में आसक्त होकरके भी विरक्त है, कामुक होकरके भी अकामुक है और इच्छा-सहित होकर भी इच्छा-रहित है ? ऐसा लोक में कौन श्रेष्ठ आत्मा है ? माता ने उनके इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न में पठित 'परात्मा' पद से दिया। **अर्थ**ात जो परमात्मा होता है, वह मक्ति स्त्री में आसक्त होते हए भी सांसारिक स्त्रियों से विरक्त रहता है ॥16॥

पुनः देवियों ने पूछा-~जो अदृश्य होकरके भी दृश्य है, रत्न त्रय से भूषित होने पर भी त्रिशूलधारक नहीं है, प्रकृति से निर्मल और अव्यय होने पर भी देह की रचना का नाशक है, परन्तु वह महादेव नहीं है, ऐसा वह जीव अभी कहाँ रहता है ? इस का उत्तर इसी श्लोक-पठित 'देवोना' पद से माता ने दिया । **अर्थ**ात् वह देवरूपधारक मनुष्य तीर्थंकर हैं ॥17॥

हे सुन्दरि, असंख्य नर और सुर-आराध्य, दृश्य, त्रिजगद्गुरु अनेक सारवान् गुण-युक्त तेरा पुत्र है। (यह निरौष्ठ्य काव्य है, क्योंकि इस इलोक में ओठ से बोले जानेवाला एक भी शब्द नहीं है) ॥18॥

जो नित्य-स्त्री-राग-रक्त है, अन्य स्त्रीसुख का त्यागी है, ऐसा जगत् का नाथ तेरा गुणाकर सुत हमारी रक्षा करे। ( इस पद्य में भी सभी निरौष्ठय अक्षर हैं ) ॥19॥

हे जगत्कल्याणकारिणि, मातः, त्रिजगत्पति को अपने दिव्य गर्भ में धारण करने से हर, हरि आदि सर्व देवों के मन की रक्षा करो। (इस श्लोक में 'अव' क्रिया छिपी होने से यह क्रियागत पद्य है)२०॥हे जगत-हितंकरि. अपने गर्भ से धर्म-तीर्थंकर की उत्पत्ति करने के कारण तीर्थधारिणी तू देव, विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओं का तीर्थस्थान बन ॥21॥

( इस पद्य में 'अट' यह क्रिया गुप्त है) । (प्रश्न-) हे देवि ! इस लोक और परलोक में जीवों का हित करनेवाला कौन है ? ( उत्तर-) जो चेतन-धर्म तीर्थ का कर्ता है, वही अनन्त सुख के लिए तीन जगत् का हित करनेवाला है ॥22॥

(प्रश्न-) गुरुओं में सब से महान गुर कौन है ? ( उत्तर-) जो सर्व दिव्य अतिशयों से अनन्त गुणों से गरिष्ठ हैं, ऐसे जिनराज ही महान गुरु हैं ॥23॥

(प्रश्न-) इस लोक में किस के वचन प्रामाणिक हैं ? ( उत्तर-) जो सर्वज्ञ, जगत्-हितैषी, निर्दोष और वीतराग है, उसके ही वचन प्रामाणिक हैं, अन्य किसी के नहीं हैं ॥24॥

(प्रश्न-) जन्म-मरणरूप विष को दूर करनेवाली, अमृत के समान पीने योग्य क्या वस्तु है ? ( उत्तर-) जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुआ ज्ञानामृत ही पीने के योग्य है । मिथ्याज्ञानियों के विषरूप वचन नहीं ॥25॥

(प्रश्न-) इस लोक में बुद्धिमानों को किस का ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर-) पंच परमेष्ठियों का, जिनागम का, आत्मतत्त्व का और धर्मशक्लरूप ध्यानों का ध्यान करना चाहिए। अन्य किसी का नहीं ॥26॥

(प्रश्न-) शीघ्र क्या काम करना चाहिए ? ( उत्तर-) जिस से संसार का नाश हो, ऐसे अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र के पालने का काम करना चाहिए, अन्य काम नहीं ॥27॥

(प्रश्न-) इस संसार सज्जनों के साथ जानेवाला कौन है ? ( उत्तर-) पाप का नाशक, सर्वत्र आपदाओं में रक्षक ऐसा दयामयी धर्म बन्धु ही साथ जानेवाला है, अन्य कोई नहीं ॥28॥

(प्रश्न-) धर्म के करनेवाले कौन हैं ? ( उत्तर-) तप, रत्नत्रय, व्रत, शील और क्षमादि लक्षणवाले सर्व कार्य धर्म के करनेवाले हैं ॥29॥

( प्रश्न – ) इस लोक में धर्म का क्या फल है ? ( उत्तर- ) समस्त इन्द्रों की विभूति, तीर्थ करादि की लक्ष्मी और उत्तम सुख की प्राप्ति ही धर्म का उत्तम फल है ॥30॥

( प्रश्न-) धर्मात्माओं का क्या लक्षण हैं ? ( उत्तर-) उत्तम शान्त और अहंकार-रहित स्वभाव होना, तथा शुद्ध क्रियाओं के आचरण में नित्य तत् पर रहना ये धर्मात्मा के लक्षण हैं ॥31॥

( प्रश्न-) कौन से कार्य पाप के करनेवाले हैं ? ( उत्तर-) मिथ्यात्व आदिक, पंच इन्द्रियाँ, क्रोधादि कषाय, कुसंग और छह अनायतन ये सब पाप के करनेवाले हैं ॥32॥

न-) पाप का क्या फल है ? (उत्तर-) अप्रिय और दुख के कारण मिलाना, दुर्गति में रोग-क्लेशादि भोगना और निन्द्य पर्याय पाना ये सर्व ही पाप के फल हैं ॥33॥

(प्रश्न-) पापियों के लक्षण किस प्रकार के हैं ? ( उत्तर – ) तीव्र कषायी होना, पर-निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, रौद्र कार्य करना इत्यादि पापियों के लक्षण हैं ॥34॥

( प्रश्न- ) महालोभी कौन है ? ( उत्तर- ) जो बुद्धिमान् संसार में सदा एकमात्र धर्म का ही सेवन करता है, और निर्मल आचरणों से तथा दुष्कर तपोयोगों से मोक्ष की इच्छा करता है, वही महालोभी है ॥35॥

( प्रश्न- ) इस लोक में विवे की पुरुष कौन है ? ( उत्तर- ) जो मन में देवशास्त्र गुरु का और धमोदिक का निर्दोष विचार करता है, वह विवे की है । अन्य कोई नहीं ॥36॥

(प्रश्न-) धर्मात्मा कौन है ? ( उत्तर- ) जो सारभूत उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म से संयुक्त है, जिनआज्ञा का पालक है, बुद्धिमान , व्रती और ज्ञानी है, वही धर्मात्मा है। अन्य कोई नहीं ॥37॥

(प्रश्न-) परलोक में जाते समय उत्तम पाथेय ( मार्ग का भोजन ) क्या है ? ( उत्तर-) दान, पूजा, उपवासादिसे, तथा व्रत, शील संयमादि से उपार्जित निर्मल पुण्य ही परलोक का उत्तम थेय है ॥38॥

(प्रश्न-) इस संसार में किस का जन्म सफल है? ( उत्तर-) जिस ने मुक्तिश्री की सुखमयी मातास्वरूप उत्तम बोधि प्राप्त (भेदज्ञान) कर ली है, उसी का जन्म सफल है, अन्य किसी का नहीं ॥39॥

( प्रश्न- ) जगत् में सुखी कौन है ? ( उत्तर-) जो सर्व परिग्रह से रहित है, ज्ञान और ध्यान रूप अमृत का आस्वादन करनेवाला है, ऐसा वनवासी साधु संसार में सुखी है और कोई सुखी नहीं ॥40॥

(प्रश्न-) संसार में चिन्ता किस वस्तु की करना चाहिए ? ( उत्तर-) कर्म-शत्रुओं के विघात करने में, और मुक्ति लक्ष्मी के साधन में चिन्ता करना चाहिए । इन्द्रियादि के सुख में नहीं ॥41॥

( प्रश्न – ) महान् प्रयत्न कहाँ करना चाहिए ? ( उत्तर-) शिव देनेवाले रत्नत्रयधर्म में, तपःसाधन में और ज्ञानादि की प्राप्ति में प्रयत्न करना चाहिए । सांसारिक सम्पदाओं के पा ने में नहीं ॥42॥

( प्रश्न-) मनुष्यों का परम मित्र कौन है ? ( उत्तर – ) जो आग्रहपूर्वक धर्म को, तप, दान और व्रतादि को करावें और दुराचार को छुड़ावे ॥ 43॥

( प्रश्न –) संसार में विषम शत्रु कौन है ? (उत्तर-) जो आत्महितकारक तप, दीक्षा और व्रतादि को ग्रहण न करने देवे, वह कुबुद्धि अपना और दूसरों का परम शत्रु है ॥44॥

( प्रश्न- ) प्रशंसा करने के योग्य क्या कार्य है ? ( उत्तर-) जो अल्प धन से युक्त होने पर भी उत्तम क्षेत्र में महान् दान दे और दुर्बल अंग होने पर भी निर्दोष उत्तम तपश्चरण करे, उसके ये दोनों कार्य प्रशंसनीय हैं ॥45॥

(प्रश्न-) तुम्हारे समान और दूसरी महादेवी कौन है ? (उत्तर-) जो जगत् के गुरु और धर्म के कर्ता महान् देव को उत्पन्न करती है, वह मेरे समान है, दूसरी कोई नहीं है, ॥46॥

( प्रश्न-) पाण्डित्य क्या है ? ( उत्तर- ) जो शास्त्रों को जानकर जरा-सा भी दुराचरण और दुरभिमान नहीं करता, तथा पाप की कारणभूत अन्य क्रियादि को नहीं करना ही पाण्डित्य है ॥47॥

(प्रश्न- ) मूर्खता क्या है ? ( उत्तर-) हितकारक ज्ञान को पाकरके भी निष्पाप धर्म, क्रिया और आचार को नहीं करना ही मूर्खता है।॥४८॥

(प्रश्न-) दुर्धर चोर कौन से हैं ? ( उत्तर-) जीवों के धर्मरूप रत्न के चुरानेवाले, पाप-कारक, और सर्व अनर्थ विधायक इन्द्रिय-विषय ही दुर्धर चोर हैं ॥49॥

( प्रश्न- ) इस जगत् में शूर-वीर कौन हैं ? ( उत्तर- ) जो धैर्यरूपी तलवार के द्वारा परीषह रूपी महान् सुभटोंको, कपायरूप अरियों को और काल-मोहादि शत्रुओं को जीतते हैं, वे ही पुरुष शूरवीर हैं ॥50॥

(प्रश्न-) देव कौन है ? (उत्तर-) जो सर्व वस्तुओं का ज्ञाता है, अठारह दोषों से रहित है, अनन्त गुणों का सागर है और धर्म तीर्थ का कर्ता है, वहीं देव है। दूसरा नहीं ॥51॥

(प्रश्न-) महान् गुरु कौन है ? (उत्तर-) जो अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित है, जगत् के भव्य जीवों के हित करने में उद्यत है, और मोक्ष का इच्छुक है, वही सच्चा गुरू है और कोई नहीं ॥52॥

इस प्रकार से उन देवियों के द्वारा पूछे गये शुभ-कारक प्रश्नों का उत्तम स्पष्ट उत्तर सर्ववेत्ता गर्भस्थ तीर्थंकरके माहात्म्य से उस माता ने दिया ॥53॥

यद्यपि माता प्रियकारिणी स्वभाव से ही निर्मल बुद्धिवाली थी, तो भी अपने उदर में त्रिज्ञानी सूर्यरूप जिनदेव को धारण करने से विशिष्ट ज्ञान में उस की बुद्धि और भी अधिक निपुण हो गयी ॥54॥

गर्भस्थ पुत्र ने अपनी माता को जरा-सी भी पीड़ा नहीं दी। शुक्ति के भीतर स्थित जलबिन्दु क्या कभी कुछ विकार करता है? नहीं करता ॥ 55॥

माता का त्रिबली से सुन्दर कृश उदर ज्यों का त्यों रहा और गर्भ बढ़ता रहा । यह प्रभाव गर्भस्थ महान् आत्मा का था ॥56॥

गर्भ में स्थित उस पुरुषरत्न से वह माता इस प्रकार से शोभा को प्राप्त हुई, जैसे कि महाकान्ति से युक्त दूसरी रत्नगर्भा पृथ्वी ही हो ॥57॥

यदि शकेन्द्र के द्वारा भेजी गयी इन्द्राणी अप्सराओं के साथ हर्ष से उस प्रियकारिणी देवी की सेवा करती थी, तो उस की महिमा का और अधिक क्या वर्णन किया जा सकता है ॥58॥

इस प्रकार के परम उत्साह-पूर्ण सैकड़ों महोत्सवों के साथ गर्भकाल के नौ मास पूर्ण होने पर चैत्र मास के शुभोदयवाले शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी के दिन 'अर्यमा' नामक योग में शुभ लग्नादि के समय सुख से पुत्र को पैदा किया ॥59-60॥

वह पुत्र प्रकाशमान शरीर की कान्ति से अन्धकार को नाश करनेवाला, दिव्य देह का धारक, जगत्-हितैपी, तीन ज्ञान से भूषित देदीप्यमान और धर्मतीर्थ का कर्ता था ॥61॥

उस समय इस पुत्र के जन्म होने के माहात्म्य से सर्व दिशाएँ निर्मल हो गयीं और आकाश में मन्द सुगन्धित पवन चलने लगा ॥62॥
स्वर्ग के कल्पवृक्षों ने खिले हुए फूलों की वर्षा की, और चारों जाति के देवेन्द्रों के आसन काँप ने लगे ॥63॥
स्वर्गलोक में विना बजाये ही गम्भीर ध्वनि करनेवाले घण्टा आदि प्रमुख बाजे बज ने लगे, मानो वे प्रभु के जन्मोत्सव की ही बाट जोह रहे हों ॥14॥
शेष तीन जाति के देवों के यहाँ सिंह, शंख और भेरी के शब्द उस समय अपने आप ही अन्य आश्चर्यों के साथ होने लगे ॥65॥
इन सब चिह्नों से देवों के साथ इन्द्रों ने तीर्थंकर देव का जन्म जानकर सब देवों ने भगवान् के जन्मकल्याणक करने का विचार किया ॥66॥
तभी इन्द्र की आज्ञा से देव-सेना महाध्वनि करती हुई महासमुद्र की तरंगों के समान क्रमशः स्वर्ग से निकली ॥67। हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पयादे और बैल यह सात प्रकार की देवों की सेना निकली ॥68॥
तभी सौधर्म स्वर्ग का स्वामी ऐरावत नाम के देव गजराज पर इन्द्राणी के साथ बैठकर देवों से घिरा हुआ स्वर्ग से चला ॥6॥
तत्पश्चात् सामानिक आदि समस्त देवगण अपनी-अपनी विभूति के साथ धर्म में उद्यत होकर और इन्द्र को घेरकर चले ॥70॥
उस समय दुन्दुभियों की महाध्वनि से तथा देवों के जय-जयकार से सातों प्रकार की सेनाओं में फैलता हुआ महान शब्द हुआ ॥71॥
उस समय हर्षित होते हुए कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही कूद रहे थे, कितने ही नाच रहे थे, कितने ही हाथों से तालियाँ बजा रहे थे, कितने ही आगे दौड़ रहे थे और कितने ही देव गा रहे थे ॥72॥
तब वे देव अपने-अपने छत्रोंसे, ध्वजाओं के समूहोंसे, विमानोंसे, वाहनों से और बाजों से गगनांगण को व्याप्त करते हुए भूतल पर उतरे और परम विभूति के साथ अपनीअपनी देवांगनाओं से घिरे हुए वे चतुर्निकाय के देवेन्द्र क्रम से उस उत्तम कुण्डपुर पहुंचे ॥73-74॥
उस समय नगर का मध्य और ऊर्ध्व भाग देव देवियों के द्वारा सर्व ओर से घिर गया, तथा शक्र आदि इन्द्रों के द्वारा राजा का आँगन व्याप्त हो गया ॥75॥
तत्पश्चात् शची शीघ्र प्रकाशमान प्रसूतिगृह में प्रवेश करके, दिव्य देह के धारक बालक के साथ जिन-माता को देखकर, बार-बार उन की प्रदक्षिणा करके मस्तक से जगद्-गुरु को नमस्कार करके और जिनमाता के आगे खड़ी होकर गुणों के द्वारा उन की इस प्रकार स्तुति करने लगी ॥76-77 । हे देवि, त्रिजगत्पति को जन्म देने से तुम सर्व लोक की माता हो, महादेव स्वरूप पुत्र के उत्पन्न करने से तुम ही महादेवी हो, संसार के प्रिय पुत्र की उत्पत्ति से तुम ने अपना 'प्रियकारिणी' यह नाम आज सार्थक कर दिया है, संसार में तुम्हारे समान और कोई स्त्री नहीं है ॥78-79॥
इस प्रकार से जिनमाता की स्तुति कर गुप्त देहवाली उस इन्द्राणी ने उन्हें मायारूप निद्रा से युक्त करके और उनके समीप दूसरा मायामयी बालक रखकर, अपनी कान्ति से दशों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले बालजिनेन्द्र को हर्ष के साथ दोनों हाथों से उठाकर, उनके शरीर का आलिंगन कर और बार-बार मुख चुम्बन कर, दिव्यरूप-जनित अलौकिक रूप सम्पदा को निर्निमेष दृष्टि से देखती वह परम प्रीति को प्राप्त हुई ॥80-82॥
उस समय वह इन्द्राणी भगवान् के शरीर की कान्ति और तेज से युक्त बालसूर्य के साथ आकाश में जाती हुई इस प्रकार से शोभा को प्राप्त हुई, जैसे कि उदित होते हुए सूर्य के साथ पूर्व दिशा शोभती है ॥83॥
उस समय जगत् में मंगल करनेवाली दिक्कुमारी देवियाँ छत्र, ध्वजा, भृङ्गार, कलश, सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक), चमर, दर्पण और ताल ( पंखा) इन आठ मंगल वस्तुओं को अपने हाथों में लेकर इन्द्राणी के आगे चली ॥84-85॥
इस प्रकार संसार में आनन्द करनेवाले बाल जिन को लाकर इन्द्राणी ने हर्ष के साथ देवेन्द्र के करतल में दिया ॥86॥
उन बाल जिन के रूप, सौन्दर्य, कान्ति और शुभ लक्षणों के देखने से परम प्रमोद को प्राप्त होकर वह जिनदेव की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ ॥87॥
हे देव, तुम हमारे परम आनन्द को करने के लिए तथा लोक में सर्व पदार्थों को दिखा ने के लिए बालचन्द्र के समान उदित हुए हो ॥88॥
हे ज्ञानवान, तुम जगत् के नाथ हो, महापुरुषों के भी महान गुरु हो, जगत्पतियों के भी पति हो, और धर्मतीर्थ के विधाता हो ॥89॥
हे देव, मुनीन्द्रगण आपको केवलज्ञानरूप सूर्य का उदयाचल, भव्यजीवों का रक्षक और मुक्तिरमा का भार मानते हैं ॥90॥

इस मिथ्याज्ञानरूप अन्ध कूप में पड़े हुए बहुत से भव्य जीवों को धर्मरूप हस्तावलम्बन देकरके आप उनका उद्धार करोगे ॥91॥

इस संसार में कितने ही बुद्धिमान लोग आप की दिव्यवाणी से अपने मोहादि कर्म शत्रुओं का नाशकर मोक्षरूप परम स्थान को प्राप्त करेंगे और कितने ही स्वर्गादि को जायेंगे ॥22॥

हे देव, आप तीर्थंकर के उदय होने से तीन लोक में सन्तजनों को आज परम आनन्द हो रहा है, क्योंकि आप धर्म-प्रवृत्ति के कारण हैं ॥ 93॥

अतएव हे देव, हम मस्तक नमाकर आपको नकस्कार करते हैं और हर्ष से आप की सेवा, भक्ति एवं आज्ञा को धारण करते हैं। हम अन्य देव की सेवा-भक्ति कभी नहीं करते हैं ॥14॥

इस प्रकार वह देवेन्द्र स्तुति करके हाथी पर बैठकर और उस जगन्नाथ को अपनी गोद में विराजमान कर सुमेरु पर चलने के लिए अपना हाथ ऊपर उठाकर घुमाया ॥95॥

उस समय सब देवों ने 'हे प्रभो, आप की जय हो, आप आनन्द को प्राप्त हों, वृद्धि को प्राप्त हों इस प्रकार उच्चस्बर से जय-जयनाद किया। उन की इस कलकल ध्वनि से सर्व दिशाओं के अन्तराल व्याप्त हो गये ॥96॥

अथानन्तर प्रमोद से व्याप्त शरीरवाले वे देव जय-जय शब्द उच्चारण करते हुए इन्द्र के साथ आकाश की ओर उड़ चले ॥97॥

उस समय अत्यन्त हर्ष को प्राप्त अप्सराएँ तीन प्रकार के बाजों के साथ लीलापूर्वक आकाश में प्रभु के आगे गमन करती हुई ही नाच कर रही थीं ॥98॥

दिव्य कण्ठवाले गन्धर्व देव अपनी वीणा के साथ जन्माभिषेक सम्बन्धी सुन्दर गीत अनेक प्रकार से गा रहे थे ॥29॥

उस समय देव-दुन्दुभियाँ स्वर्गलोक के स्पर्श से सर्व दिशाओं को बधिर करने वाले मधुर, अद्भुत नाना प्रकार के शब्दों को करने लगीं ॥

किन्नरों के साथ किन्नरी देवियों ने हर्ष से सारभूत जिनेन्द्र-गुणों से परिपूर्ण मनोहर गीतों का गाना प्रारम्भ किया ॥100-101॥

उस समय सुर और असुरों ने अपनी-अपनी देवियों के साथ भगवान के दिव्य रूपवाले शरीर को देखते हुए अनिमेष नेत्रों का फल प्राप्त किया ॥102॥

सौधर्म इन्द्र की गोद में विराजमान जगद्-गुरु के शिर पर चन्द्र के समान शुभ्र छत्र को स्वयं ईशानेन्द्र ने लगाया ॥103॥

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र क्षीरसागर की तरंगों के समान उज्ज्वल चमर हर्ष से ढोरते हुए उस धर्म के स्वामी की सेवा करने लगे ॥104॥

उस समय की जिनेश्वर देव की परम विभूति को देखकर कितने ही देवों ने इन्द्र को प्रमाणता का आश्रय लेकर अपने हृदय में सम्यग्दर्शन को स्वीकार किया ॥105॥

वे देव-नायक ज्योतिष्पटल का उल्लंघन कर और अपने शरीर के आभूषणों की किरणों से आकाश में इन्द्रधनुष की शोभा को विस्तारते, तथा सैकड़ों प्रकार के महोत्सव करते हुए क्रम से परम विभूति के साथ महान् उन्नत महामेरु पर पहुँचे ॥106-107॥

उस सुमेरु पर्वत की ऊँचाई इस भूमितल से एक हजार योजन कम एक लाख योजन है। भूमि में उसका स्कन्द एक हजार योजन का है ॥ 108॥

उस सुमेरुपर्वत के भूमितल पर भद्रशाल नामक प्रथम वन तीन कोट और ध्वजाओं से भूषित चार महान चैत्यालयों से शोभायमान है ॥ 109॥

ये चैत्यालय पूर्व-पश्चिम दिशा में एक सौ योजन लम्बे, उत्तर-दक्षिण दिशा में पचास योजन चौड़े और उन दोनों के आधे **अर्थ**ात् पिचहत्तर योजन ऊँचे हैं, तथा रत्नों के उपकरणों से युक्त हैं ॥110॥

पृथ्वी से **अर्थ**ात् भद्रशाल वन से दो हजार कोश अर्थात् पाँच सौ योजन ऊपर जाकर सुमेरु की प्रथम मेखला (कटनी) दसरा सन्दर वन है ॥111॥

यह वन भी अनेक प्रकार के वृक्षोंसे, कट प्रासादों से तथा सुवर्ण-रत्नमय दिव्य उत्तम चार चैत्यालयों से शोभित है ॥112॥

इस से ऊपर साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाकर तीसरा महा रमणीक सौमनस नाम का वन है। यह भी सर्व ऋतुओं के फल देनेवाले वृक्षों से और एक सौ आठ-आठ प्रतिमाओं से युक्त चार श्रीजिनालयों से संयुक्त है, शेष कथन नन्दन वन के समान समझना चाहिए ॥

113-114॥
इस से ऊपर छत्तीस हजार योजन जाकर सुमेरु के मस्तक पर चौथा उत्तम पाण्डुकवन शोभित है ॥115॥
वह केशों के समान वृक्ष समूहों से, चार उत्तुंग चैत्यालयों से, पाण्डुकशिला और सिंहासनादि से अत्यन्त सुन्दर है ॥116॥
उस पाण्डुक वन के मध्य में मुकुटश्री के समान उत्तम चूलि का शोभित है। वह चालीस योजन ऊँची है, स्वर्ग के अधोभाग को स्पर्श करती है और स्थिर है ॥117॥
सुमेरु की ईशान दिशा में एक विशाल पाण्डुक शिला है, जो सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी है, तथा आठ योजन ऊँची है, क्षीरसागर के जल से प्रक्षालि कारण पवित्र अंगवाली है, अर्ध-चन्द्र के समान आकारवाली है, जो कि ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के समान शोभती है ॥118-119॥
वह छत्र, चामर, शृंगार, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, ध्वजा और ताल इन अष्ट मंगल द्रव्यों को धारण करती है ॥120॥
उस पाण्डुक शिला के मध्य में वैडूर्यमणि के समान वर्णवाला सिंहासन है, जो चौथाई कोश ऊँचा, चौथाई कोश लम्बा और उसके आधे प्रमाण चौड़ा है। तीर्थंकरों के जन्माभिषेकों से पवित्र है, मणियों के तेज से ने के शोभित है। वह सुमेरु के दूसरे शिखर के समान मालूम पड़ता है ॥121-122॥
उस सिंहासन की दक्षिण दिशा में सौधर्मेन्द्र के खड़े होने का और उत्तर दिशा में ईशानेन्द्र के खड़े होने का एकएक सुन्दर सिंहासन है ॥123॥
देवों के स्वामी सौधर्मेन्द्र ने उपर्युक्त तीन सिंहासनों में से बीच के सिहासन के ऊपर भारी विभूतिसे, महान् उत्सवों के द्वारा देवों के साथ लाकर, देव और चारणऋद्धिवालों से सेवित उस गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा देकर जन्माभिषेक की सिद्धि के लिए तीर्थंकर भगवान को पूर्वमुख विराजमान किया ॥124-125॥
इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य-परिपाक से समस्त देव और उनके स्वामी इन्द्रों ने परम विभूति के साथ अन्तिम श्री वर्धमान जिनराज को वहाँ पर स्थापित किया । ऐसा मानकर भव्यजन सोलह कारण भावनाओं से निर्मल पुण्य की आराधना करें ॥126॥
यह उत्कृष्ट पुण्य तीर्थंकरादि के वैभव का जनक है, ज्ञानी जन पुण्य का आश्रय लेते हैं, पुण्य से ही यह जगत् पवित्र होता है, उत्तम क्रियाएँ पुण्य के लिए होती हैं, पुण्य से अतिरिक्त और कोई वस्तु सुखकारक नहीं है, पुण्य का मूल कारण व्रत है, पुण्य से प्राणियों के अनेक गुण प्राप्त होते हैं, इसलिए हे पुण्य, तू मुझे पवित्र कर ॥127॥
वीरजिन वीर ज्ञानीजनों के द्वारा संस्तुत और पूजित हैं, उत्तम वीर पुरुष वीर जिन का आश्रय लेते हैं, वीर के द्वारा शीघ्र ही उत्तम गुण-समुदाय प्राप्त होता है, इसलिए वीरनाथ को भक्ति से नमस्कार है। वीर से भिन्न और कोई मनुष्य कामशत्रु का नाशक नहीं है, वीर जिनेन्द्र के गुण दिव्य हैं, वीरनाथ में विधिपूर्वक स्थित मुझे हे वीर भगवन , कर्म-विजय के लिए वीर करो ॥128॥
इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीति विरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में प्रियकारिणी के प्रज्ञा प्रकर्ष, तीर्थकर का जन्म और सुमेरु पर ले जाने का वर्णन करनेवाला आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥8॥

## नवां-अधिकार

भगवान् का जन्माभिषेक
कथा :
अथानन्तर जिनेन्द्रदेव के जन्म महोत्सव को देखने के इच्छुक धमोद्यत वे सर्वदेव उस पाण्डुक शिला को सर्व ओर से घेरकर यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये ॥11॥
भगवान् के जन्मकल्याणक की सम्पदा को देखने के इच्छावाले दिग्पाल अपने-अपने निकायों (जाति-परिवारों) के साथ अपने-अपने दिग्भाग में हर्षपूर्वक बैठे ॥2॥
वहाँ पर देवों ने एक विशाल मण्डप बनाया, जहाँ पर समस्त देवगण परस् पर बिना किसी बाधा के सुखपूर्वक बैठे ॥3॥
उस मण्डप में कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए फूलों की मालाएँ लटकायी गयीं, उन पर गुंजार करते हुए भौरे ऐसे मालूम पड़ते थे, मानो जिनेन्द्रदेव के गुण ही गा रहे हों ॥4॥ वहाँ पर सुन्दर कण्ठवाले किन्नर और किन्नरियों ने जिनदेव के जन्मकल्याणक-सम्बन्धी गुणों के द्वारा दिव्य गीत

गाना प्रारम्भ किया ॥5॥

देव-नर्तकियों ने अनेक रस-भाव से युक्त नृत्य करना प्रारम्भ किया। देवों के नाना प्रकार के बाजे बज ने लगे, शान्ति-पुष्टि आदि की इच्छा से देवा ने अनेक प्रकार के पुष्प, अक्षत-मुक्ता आदि फेंकना प्रारम्भ किया, सुगन्धित धूप-पुंज उड़ाया गया और देवों ने जय, नन्द' आदि शब्दों को उचारण करते हुए कलकल नाइ किया। 6-7॥

तत्पश्चात् सौधर्म इन्द्र ने प्रस्तावना विधि करके भगवान के प्रथमाभिषेक के लिए कलशों का उद्धार किया ॥8॥

कलशोद्धार के मन्त्र को जाननेवाले ईशानेन्द्र ने भी आनन्द के साथ मोती, माला और चन्दन से चर्चित जल से भरे हुए कलश को हाथ में लिया ॥2॥

उस समय शेष सभी कल्पों के इन्द्र आनन्दपूर्वक जय-जय शब्द उच्चारण करते हुए यथायोग्य परिचर्या के द्वारा परिचारकप ने को प्राप्त हुए ।॥10॥

धर्मराग के रस से परिपूर्ण इन्द्राणी आदि देवियाँ मंगल द्रव्यों से मण्डित होकर परिचारिकाएँ बनकर परिचर्या करने लगीं ॥11॥

'स्वयम्भू भगवान् का देह स्वभाव से ही क्षीर रक्त वर्णवाला होने से पवित्र है' अतः इ से क्षीरसागर के जल से अतिरिक्त अन्य जल स्पर्श करने के लिए योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके देवों की श्रेणी (पंक्ति ) क्षीरसागर और सुमेरुपर्वत के बीच में जल ला ने के लिए हर्ष के साथ खड़ी हो गयी ॥12-13॥

जिन कलशों से जल लाया जा रहा था वे चमकते हुए स्वर्ण निर्मित थे, मोतियों की माला आदि से अलंकृत थे, आठ योजन ऊँचे ( मध्य में चार योजन चौड़े ) और मुख में एक योजन विस्तृत थे ॥14॥

उन एक हजार कलशों को लेकर जिनेश्वर का अभिषेक करने के लिए सौधर्मेन्द्र ने दिव्य आभूषणों से मण्डित अपनी एक हजार भुजाएँ बनायीं ॥15॥

उस समय वह आभूषणवाले तथा हजार कलशों से युक्त हाथों के द्वारा अपने तेज से भाजनाङ्ग जाति के कल्पवृक्ष के समान शोभित हुआ ॥16॥

सौधर्मेन्द्र ने तीन बार जय-जय शब्द को बोलकर भगवान के मस्तक पर पहली महान जलधारा छोड़ी ॥17॥

उस समय भारी कल-कल शब्द हुआ, असंख्य देवों ने 'भगवान , आप की जय हो, आप पवित्र हो' इत्यादि प्रकार के मनोहर वाक्य उच्चारण किये ॥18। इसी प्रकार शेष सर्व देवेन्द्रों ने भी एक साथ उन महाकुम्भों के द्वारा स्वर्गङ्गा के पूर के सदृश जल धारा छोड़ी ॥19॥

ऐसी विशाल जलधाराएँ जिस पर्वत के शिखर पर छोड़ी जावें तो उसके प्रहार से वह पर्वत तत्काल नियम से शत खण्ड हो जाय ॥20॥

किन्तु अप्रमाण महावीर्यशाली श्री जिनेश्वर देव ने अपने मस्तक पर गिरती हुई उन जलधाराओं को फूलों के समान समझा ॥21॥

उस समय अति दूर तक ऊपर उछलते हुए जल के छींटे ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो जिनेन्द्र के शरीर के स्पर्शमात्र से पाप-मुक्त होकर ऊपर को जा रहे हैं ॥22॥

प्रभु के स्नान जल के कितने ही तिरछे फैलते हुए कण दिग्वधुओं के मुखमण्डन में मुक्ताफलों की कान्ति को विस्तार रहे थे ॥23॥

अभिषेक का जल-पूर सुमेरु के वनमध्यभाग में नाना प्रकार के आकारवाला होकर गिरीन्द्र ( सुमेरु ) को आप्लावित करता हुआ सा शोभित हो रहा था ॥24॥

भगवान के अभिषेक किये हुए जल से व्याप्त होने के कारण डूबे हुए वृक्षोंवाला वह पाण्डुकवन निरन्तर जलवृष्टि से दूसरे क्षीरसागर के समान शोभित हो रहा था ॥25॥

इत्यादि अनेक प्रकार के दिव्य परम सैकड़ों महोत्सवोंसे, दीप-धूपादि से की गयी पूजाओंसे, कोटि-कोटि गीत नृत्य और बाजों के द्वारा उत्कृष्ट सामग्री के साथ उन स्वर्ग के स्वामी इन्द्रों ने अपने आत्म-कल्याण के लिए भगवान् का शुद्ध जल से अभिषेक किया ॥26-28॥

पुनः सौधर्मेन्द्र ने गन्धोदक की वन्दना के लिए परम विभूति और महान उत्सवों के साथ सुगन्धी द्रव्यों के सम्मिश्रण से सुगन्धित जल से भरे हुए, मणि और सुवर्ण से निर्मित गन्धोदकवाले महाकुम्भों से भी तीर्थकर देव का अभिषेक किया ॥29-30॥ जगद्गुरु के शरीर पर गिरती हुई वह अनेक वर्णवाली जलधारा उनके शरीर के स्पर्शमात्र से अत्यन्त पवित्र हुई के समान शोभा को धारण कर रही थी ॥31॥

जगत् के जीवों की सर्व आशाओं को पूर्ण करनेवाली, पुण्यविधायिनी पुण्यधारा के समान वह जलधारा हमलोगों को शिवलक्ष्मी देवे ॥32॥

जलधारा पुण्यात्रवधारा के समान सर्व मनोरथों को पूर्ण करती है, वह हमारे भी समस्त अभीष्ट सम्पदा की सिद्धि करे ॥33॥
जो तीक्ष्ण खड्गधारा के समान सज्जनों के विध्न जाल का नाश करती है, वह जलधारा हमारे शिव-साधन में आनेवाले विघ्नों का नाश करे ॥34॥
जो जलधारा अमृतधारा के समान जीवों की समस्त वेदनाओं को नष्ट करती है, वह हमारे मोक्षमार्ग में मल उत्पन्न करनेवाली वेदना का नाश करे ॥35॥
जो जलधारा श्रीमान वीरनाथ को प्राप्त होकर अति पवित्रता को प्राप्त हुई है, वह हमारे मन के दुष्कर्मों से हमें पवित्र करे ॥36॥
इस प्रकार उन देवेन्द्रों ने प्रभु का सुगन्धित जल से अभिषेक करके सज्जनों के विघ्नों की शान्ति के लिए उच्चस्वर से शान्ति की घोषणा की, **अर्थ**ात् शान्ति पाठ पढ़ा ॥37॥
उन देवों ने अपनी शरीर की शुद्धि के लिए स्वर्ग की भेंट समझकर हर्ष के साथ उस उत्तम गन्धोदक को अपने मस्तक पर और सर्वांग में लगाया ॥38॥
सुगन्धित जल से अभिषेक होने के अन्त में जयजय आदि शब्दों को उच्चारण करते हुए उन देवों ने हर्ष के साथ उस चूर्ण-युक्त सुगन्धित जल से परस् पर सिंचन किया **अर्थ**ात् आपस में उस सुगन्धित जल के छींटे डाले ॥39॥
इस प्रकार अभिषेक के समाप्त होने पर शरीरमज्जनरूप सक्रिया करके उन देवेन्द्रों ने देवों और मनुष्यों से पूजित प्रभु की महाभक्ति के साथ, जिन की सुगन्ध सर्व ओर फैल रही है ऐसे दिव्य सुगन्ध द्रव्योंसे, मुक्ताफलमयी अक्षतोंसे, कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्पों की माला आदिसे, अमृतपिण्डमय नैवेद्य पुंजसे, मणिमय दीपोंसे, महान् धूपसे, कल्पवृक्षों के फल-समूहसे, मन्त्रों से पवित्रित हायों से और पुष्पांजलियों की वर्षा से पजा की ॥40-42॥
इस प्रकार अनिष्टों का विनाश करनेवाली पूजाओं को करके, तथा शान्ति-पौष्टिकादि कार्यों को करके उन देवेन्द्रों ने जन्माभिषेक को सम्पन्न किया ॥43॥
पुनः अपनी-अपनी इन्द्राणियों के साथ इन्द्रोंने, तथा अपनी देवियों के साथ सब देवों ने अत्यन्त प्रमुदित होते हुए तीन प्रदक्षिणाएँ देकर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया ॥44॥
उस समय देवों ने गन्धोदक के साथ पुष्पों की वर्षा की, और मन्द शीतल पवन चलने लगा ॥45॥
जिस के जन्माभिषेक का स्नानपीठ समेकपर्वत हो. इन्द्र अभिषेक करनेवालाहो. क्षीरसागर के जल से भरे हए उत्तम कलश हों. सर्वदेवियाँ नृत्यकारिणी हों, क्षीरसागर द्रोणी ( जलपात्र ) हो और देव किंकर हों, उसका वर्णन करने के लिए कौन दक्ष पुरुष समर्थ है ? कोई भी नहीं ॥46-47॥
अभिषेक का कार्य समाप्त होने पर आश्चर्य को प्राप्त इन्द्राणी ने त्रिजगद्-गुरु का शृङ्गार करना प्रारम्भ किया ॥48॥
सर्वप्रथम उस ने भगवान के जलाभिपिक्त शरीर के शिर, नेत्र और मुख आदि पर लगे हुए जलकणों को निर्मल वस्त्र से पोंछा ॥49॥
तत्पश्चात् स्वभाव से ही दिव्य सुगन्ध से युक्त भगवान के उत्तम शरीर पर भक्ति के द्वारा गीले सुगन्धित द्रव्यों का लेप किया ॥50॥
पुनः तीन जगत् के तिलक स्वरूप प्रभु के अनुपम ललाट पर केवल भक्ति के राग से प्रेरित होकर देदीप्यमान तिलक किया ॥51॥
पुनः जगत के चूड़ामणि प्रभु के मस्तक पर मन्दार पुष्पों की माला और मुचुट के साथ परम प्रदीप्त चूडामणि रत्न वाँधा ॥52॥
तत्पश्चात् विश्व के नेत्ररूप प्रभु के स्वभाव से ही अति कृष्ण नेत्रों में अञ्जन-संस्कार किया, यह उस ने अपने आचार पालन के लिए किया ॥53॥
पुनः त्रिजगत्पति के अबिद्ध छिद्र वाले दोनों कानों में प्रकाशमान रत्न जटित कुण्डलों को पहिना कर परम शोभा की ॥54॥
तत्पश्चात् उस इन्द्राणी ने प्रभु के कण्ठ को मणिहारसे, बाहु-युगल को केयूर, कटक और अंगद आभूपों से तथा अंगुलियों को मुद्रिकाओं से शोभित किया ॥55॥
तदनन्तर उस ने प्रभु की कमर में छोटी-छोटी घण्टियों से विराजित अपने प्रकाश से दिशाओं के मुख को व्याप्त करने के लिए देदीप्यमान मणिमयी कांचीदाम (करधनी ) पहनायी ॥56॥
पुनः प्रभु के दोनों चरणों में मणिमयी गोमुखवाले प्रकाशमान कड़े पहिनाये, जो कि ऐसे प्रतीत होते थे मानो सरस्वती देवी आदर से उनके

चरणों की सेवा ही कर रही हो ॥57॥
इस प्रकार इन्द्राणी के द्वारा पहिनाये गये असाधारण दिव्य परम आभूषणों से तथा स्वभाव-जनित कान्ति, तेज, लक्षण और गुणों से युक्त वे भगवान् ऐसे शोभित हुए, मानो लक्ष्मी के पुंज ही हों, अथवा तेजों के निधान हों, अथवा सौन्दर्य के समूह हों, अथवा सद्-गुणों के सागर ही हों, अथवा भाग्यों के निवास हों, अथवा यशों की उज्ज्वल राशि हों। इस प्रकार स्वभाव से ही सुन्दर और निर्मल प्रभु का शरीर उक्त आभूषणों से और भी अधिक शोभायमान हो गया ॥58-60॥
इस प्रकार आभषणों से भषित और इन्द्र की गोद में विराजमान उन भगवान की रूपसम्पदा को देखती हुई ची स्वयं ही आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥61॥
उस समय सर्वांगशोभित प्रभु की परम अनुपम शोभा को दो नेत्रों से देखने पर तृप्त नहीं होते हुए आश्चर्य युक्त हृदयवाले इन्द्र ने और भी अधिक दृढ़ता से देखने के लिए निमेष रहित एक हजार नेत्र बनाये ॥62-63॥
उस समय सभी देवों और देवियों ने प्रभु के शरीर की भारी रूप सम्पदा को परम प्रीति के साथ निर्निमेप दिव्य नेत्रों से देखा ॥64॥
तदनन्तर परम प्रमोद को प्राप्त हुए वे महाबुद्धिशाली इन्द्रगण तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा इस प्रकार स्तुति करने के लिए उद्यत हुए ॥65॥
हे देव, आप स्नान के विना ही जन्मजात परम अतिशयों के द्वारा पवित्र शरीरवाले हैं, आज केवल अपने पापों के नाश करने के लिए हम ने भक्ति से आपको स्नान कराया है ॥66॥
हे तीन लोक के आभूपण स्वरूप भगवन् , आप स्वभाव से ही विना आभूपणों के अति सुन्दर हो, हम ने तो केवल सुख की प्राप्ति के लिए प्रीति से आपको आभषणों से मण्डित किया है ॥67॥
हे प्रभो. आप के महाग गणों की राशि सर्वविश्व को पूर करके आज इन्द्रों के हृदय में भी संचार कर रही है ॥68॥
हे देव, कल्याण के इच्छुक लोग आप से कल्याण को प्राप्त होंगे और मोहीजन आप की वाणी से अपने मोहशत्रु का नाश करेंगे ॥69॥
रत्नत्रय धन के धारण करनेवाले भव्य जीव आप के द्वारा उपदिष्ट महातीर्थरूप जहाज से इस अनन्त संसार सागर के पार उतरंगे ॥70॥
हे नाथ, आप की वचन किरणों से भव्यात्माओं का मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार शीघ्र विनाश को प्राप्त होगा, इस में कोई संशय नहीं है ॥71॥
हे ईश, मोक्ष प्राप्त करनेवाले अमूल्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि रूप रत्न देने के लिए आप से प्रकट हुए हैं, इसलिए आप सज्जनों के महान् दाता हो ॥72॥
हे स्वामिन, आप यहाँ पर केवल अपनी मुक्ति की प्राप्ति के लिए ही नहीं उत्पन्न हुए हैं, किन्तु ज्ञानियों को भी मार्ग दिखाकर उन की स्वर्ग और मुक्ति की सिद्धि के लिए उत्पन्न हुए हैं ॥73॥
हे महाभाग, मुक्तिरामा आप में आसक्त हो रही है और तीन जगत् के भव्य जीव भी आप के गुणों से अनुरंजित हृदयवाले होकर आप से परम स्नेह रखते हैं ॥74॥
अहो भगवन् , ज्ञानी लोग आपको मोहमल्ल का विजेता, शरणार्थियों को मोहान्धकूप में गिर ने से बचानेवाला रक्षक, कमशत्रुओ का नाशक, भव्य सार्थवाहो को शाश्वत मुक्तिमाग में ले जानेवाला नेता और धमतीर्थ का कर्ता तीर्थकर मानते हैं ॥75-76॥
हे नाथ, आज आप के जन्माभिषेक से हम लोग पवित्र हुए हैं, और आप के गुणों का स्मरण करने से हमारा मन निर्मल हुआ है । आप की शुभ स्तुति करने से हमारे वचन सफल हुए हैं और हे गुणसागर, आप की सेवा से सब अंगों के साथ हमारा शरीर पवित्र हुआ है ॥77-78॥
हे ईश, शुद्ध खानि से उत्पन्न हुआ मणि जैसे संस्कार के योग से और भी अधिक चमक ने लगता है, उसी प्रकार स्नान आदि के संस्कार को प्राप्त होकर आप और भी अधिक शोभायमान हो रहे है ॥79॥ हे नाथ, आप तीन जगत के स्वामियों के स्वामी हैं, संसार में समस्त विश्वपतियों के आप महान पति हैं, और संसार के अकारण बन्धु हैं ॥80॥
अतः हे देव, परम आनन्द के देनेवाले आप के लिए नमस्कार है, ज्ञानरूप तीन नेत्रों के धारक आप के लिए नमस्कार है, परमात्मस्वरूप आप के लिए नमस्कार है, तीर्थ के प्रवर्तन करनेवाले आपको नमस्कार है, सद्गुणों के सागर आपको नमस्कार है, प्रस्वेद मल आदि से रहित अत्यन्त दिव्यदेहवाले आपको नमस्कार है, कर्मशत्रुओं का नाश करनेवाले आपको नमस्कार है, पाँचों इन्द्रियों को और मोह को जीतनेवाले आपको नमस्कार हे, पंचकल्याणकों के भोगनेवाले आपको नमस्कार है, स्वभाव से पवित्र और भुक्ति-(स्वर्गीय सुख) मुक्ति

के देनेवाले आपको नमस्कार है, महामहिमा को प्राप्त आपको नमस्कार है, अकारण बन्धु आपको नमस्कार है, मुक्तिरामा के भर्तार आपको नमस्कार है । विश्व के प्रकाश करनेवाले आपको नमस्कार है, त्रिजगत् के स्वामी आपको नमस्कार है और सज्जनों के महागुरु आपको नमस्कार है ॥81-85॥

हे देव, यहाँ पर इस प्रकार हर्ष से आप की स्तुति करके हम तीन लोक के सर्व साम्राज्य को ले ने की आशा नहीं करते हैं, किन्तु जगत् का हित करनेवाली, अपने समान ही पूर्ण सर्वसामग्री कृपाकरके हमें दीजिए, क्योंकि संसार में आप के समान और कोई दाता नहीं है ॥ 86-87॥

इस प्रकार से इष्ट्र प्रार्थना करके इन्दों ने लोकव्यवहार की प्रसिद्धि के लिए सार्थक और सारभत ये दो नाम रखे। कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने हेतु ये महावीर हैं और निरन्तर बढ़नेवाले गुणों के आश्रय से ये श्रीवर्धमान हैं ॥88-89॥

इस प्रकार दो नाम रखकर दिव्यरूपधारी जिनेश्वर को ऐरावत गज के कन्धे पर विराजमान करके पूर्व के समान ही अत्यन्त महोत्सव और भारी विभूति के साथ 'जय, नन्द' आदि शब्दों को उच्चारण करते हुए वे देवेन्द्र शेष कार्यों को सम्पन्न करने के लिए वापस कुण्डपुर आये ॥ 90-91॥

वहाँ आकर नगर को, आकाश को और वनों को सर्व ओर से घेरकर सर्व देव-सेनाएँ और चारों जाति के देव-देवियाँ यथास्थान ठहर गये ॥ 92॥

तत्पश्चात् कुछ देवों के साथ उस देवराज ने देवों के देव श्रीजिनेन्द्रदेव को लेकर शोभासम्पन्न राजभवन में प्रवेश किया ॥93॥

वहाँ राजभवन के अंगण (चौक ) में सौधर्मेन्द्र ने रमणीक मणिमयी सिंहासन पर गुणकान्ति आदि से अशिशु ( शैशवावस्था से रहित ) किन्तु वय से शिशु जिनेन्द्र को विराजमान किया ॥94॥

तब बन्धुजनों के साथ हर्षित मुख सिद्धार्थ राजा ने अति प्रीति से आँखें फैलाकर अद्भुत कान्तिवाले बाल जिनदेव को देखा ॥95॥

इन्द्राणी के द्वारा जगायी गयी प्रियकारिणी रानी ने सर्व आभूषणों से भूषित समुत्पन्न तेजपुंज के समान अपने पुत्र को अति हर्ष के साथ देखा ॥96॥

उस समय जगत्पति श्रीवर्धमान स्वामी के माता-पिता इन्द्राणी के साथ सौधर्मेन्द्र को देखकर परिपूर्ण मनोरथ हो अत्यन्त सन्तोष को प्राप्त हुए ॥९७॥

तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने स्वर्गलोक में उत्पन्न नाना प्रकार के मणिमयी वस्त्राभूषणों से और दिव्य पुष्पमालाओं से उन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा कर देवों के साथ प्रसन्न होते हुए उन की इस प्रकार से प्रशंसा करने लगा-आप दोनों ही लोक के गुरु हैं, क्योंकि आप त्रिजगत्-पिता के माता-पिता हैं, त्रिजगत्पति के उत्पन्न करने से आप लोग ही त्रिजगन्मान्य स्वामी हैं, संसार के उपकारी तीर्थेश पुत्र के उत्पन्न करने के निमित्त से कल्याणभागी आप दोनों ही विश्व के उपकारी हैं ॥98-101॥

आज आप का यह भवन जिनमन्दिर के समान हमारे लिए आराध्य है। हमारे परमगुरु के आश्रय से आप दोनों ही हमारे लिए माननीय और पूज्य हैं ॥102॥

इस प्रकार देवों का स्वामी सौधर्मेन्द्र ने माता-पिता की स्तुति करके और उनके हाथ में भगवान को समर्पण कर मेरु पर हुई जन्माभिषेक की सुन्दर वार्ता को हर्ष के साथ कहता हुआ कुछ क्षण खड़ा रहा ॥103॥

जन्माभिषेक की सारी बात सुनकर आश्चर्य-युक्त हो वे दोनों भाग्यशाली माता-पिता अत्यन्त प्रमोद को प्राप्त हुए ॥104॥

तत्पश्चात् माता-पिता ने सौधर्मेन्द्र की अनुमति लेकर बन्धुजनों के साथ अपने पुत्र का जन्ममहोत्सव किया ॥105॥

सब से प्रथम उन्हों ने और राजाओं ने श्रीजिनालय में जाकर सर्व कल्याण की साधक श्री जिनप्रतिमाओं की महापूजा भारी विभूति के साथ की ॥106॥

उसके बाद सिद्धार्थराजा ने अपने परिजनोंको, नौकरोंको, दीन, अनाथ और बन्दीजनों को यथायोग्य अनेक प्रकार का दान दिया ॥107॥

उस समय तोरण द्वारोंसे, वन्दनवारोंसे, ऊँची ध्वजापंक्तियोंसे, गीतोंसे, नृत्योंसे, बाजों से और सैकड़ों प्रकार के महोत्सवों से वह नगर स्वर्गपुर के समान और राज-भवन स्वर्ग-धाम के समान शोभा को प्राप्त हो रहा था। सभी स्वजन और प्रजाजन अत्यन्त प्रमुदित हुए ॥ 108-109॥

उस जन्ममहोत्सव के द्वारा आनन्द से परिपूर्ण समस्त बन्धुजनों को और पुरवासियों को देखकर सौधर्मेन्द्र अपना प्रमोद प्रकाशित कर श्रीजगद्-गुरु की आराधना करने को अपनी देवियों के साथ धर्म **अर्थ** कामरूप त्रिवर्ग फल का साधक दिव्य आनन्द नाटक करने के लिए उद्यत हुआ ॥110-111॥

नृत्य के प्रारम्भ में गन्धर्व देवों ने अपने-अपने वीणादि बाजों के साथ मनोहर सद्-गीत-गान करना प्रारम्भ किया ॥112॥

उस समय श्री महावीर पुत्र को गोद में बैठाये हुए सिद्धार्थ राजा तथा अपनी-अपनी रानियों के अन्य राजा लोग और उल्लास को प्राप्त अन्य दर्शकगण उस आनन्द नाटक को देखने के लिए यथास्थान बैठ गये ॥113॥

उस सौधर्मेन्द्र ने सब से पहले नयनों को आनन्दित करनेवाला, कल्याणमयी जन्माभिषेक-सम्बन्धी दृश्य का अवतार किया। **अर्थ**ात् सुमेरु पर किये गये जन्म कल्याणक का दृश्य दिखाया ॥114॥

पुनः जिनेन्द्रदेव के पूर्वभव-सम्बन्धी अवतारों का अधिकार लेकर इन्द्र ने बहरूपक अन्य नाटक किया ॥115॥

उल्लासयक्त, दीप्ति-भार से परिपूर्णउत्कृष्ट नाटक को करता हुआ वह इन्द्र उस समय दिव्य आभूषण और मालाओं के द्वारा कल्पवृक्ष के समान शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥116॥

लय-युक्त पादविक्षेपों के द्वारा, रंगभूमि की चारों ओर से प्रदक्षिणा करता हुआ वह इन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो इस भूतल को नाप ही रहा हो ॥117॥

पुष्पांजलि बिखेरकर ताण्डवनृत्य करते हुए इन्द्र के ऊपर उस की भक्ति करनेवाले देवों ने हर्षित होकर पुष्पों की वर्षा की ॥118॥

उस समय ताण्डव नृत्य के योग्य करोड़ों बाजे बज रहे थे, वीणाओं ने मधुर झंकार किया और सुरीली आवाजवाली अनेक बाँसुरियाँ बज रही थीं ॥119॥

किन्नरी देवियाँ श्री जिनेन्द्र देव के गुणसमूह से युक्त उत्तम कल्याण-कारक सुन्दर गीतों को गा रही थीं ॥120॥

इस प्रकार अनुक्रम से महान् पवित्र पूर्व रंग करके उस इन्द्र ने मणिमयी आभूषणों से भूषित एक हजार उत्कृष्ट भुजाएँ बनाकर, हस्तांगुलि-संचालन और अंग-विक्षेपों के द्वारा अद्भुत रस को दिखलाते हुए दिव्य ताण्डव नृत्य किया ॥121-122॥

राजादि सभी दर्शकों को सुख उत्पन्न करते हुए, अपने पापों के विनाश के लिए विक्रिया ऋद्धि से पाद, कमर, कण्ठ और हाथों से अनेक प्रकार के अंग-संचालन द्वारा सहस्र भुजावाले उस सौधर्मेन्द्र के नृत्य करते समय उसके पाद विन्यासों से पृथ्वी फूटती हुई-सी चलायमान प्रतीत हो रही थी ॥123-124॥

चंचल वस्त्र और आभूषणवाला वह इन्द्र किये गये करविक्षेपों के द्वारा ताराओं के चारों ओर घूमता हुआ कल्पवृक्ष के समान नृत्य कर रहा था ॥125॥

नृत्य करते हुए वह इन्द्र क्षणभर में एक रूप और क्षण-भर में दिव्य अनेक रूपवाला हो जाता था । क्षण-भर में अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाला और क्षण-भर में महाउन्नत सर्वव्यापक देहवाला हो जाता था ॥123॥

क्षण-भर में समीप आ जाता और झण-भर में दूर चला ज क्षण-भर में आकाश में और क्षण-भर में भूमि पर आ जाता था। क्षण-भर में दो हाथवाला हो जाता और क्षण-भर में अनेक हाथोंवाला हो जाता था ॥127॥

इस प्रकार अत्यन्त हर्ष से विक्रिया-जनित अपनी सामर्थ्य को प्रकट करते हुए इन्द्र ने इन्द्रजाल के समान उस समय आनन्द नाटक दिखाया ॥128॥

तत्पश्चात् इन्द्र की भुजाओं पर खड़ी होकर मुसकराते हुए अप्सराओं ने अपनी भ्रूलताओं को मटकाते और करविक्षेप करते हुए नृत्य करना प्रारम्भ किया ॥129॥

कितनी ही देवियाँ वर्धमान लय के साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्य के साथ और कितनी ही अनेक प्रकार के अभिनयों के साथ नाच ने लगीं ॥130॥

कितनी ही देवियाँ ऐरावत हाथी का और कितनी ही इन्द्र का रूप धारण कर दिव्य नियन्त्रित प्रवेश और निष्क्रमण के द्वारा नृत्य करने लगीं ॥131॥

उस समय इन्द्र के भुजासमूह पर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभित हो रही थीं मानो कल्प-वृक्ष की शाखाओं पर फैली हुई

कल्पलताएँ ही हों ॥132॥

कितनी ही देवियाँ शक्र के हाथ की अंगुलियों पर अपने शुभ चरणों को रखकर लीलापूर्वक सूचीनाट्य (सूई की नोकों पर किया जानेवाला नृत्य ) को करती हुई के समान नाच ने लगीं ॥133॥

कितनी ही देवियाँ इन्द्र की दिव्य हस्तांगुलियों के अग्र भाग पर अपनी-अपनी नाभि को रखकर इस प्रकार परिभ्रमण कर रही थीं, मानो बाँस की लकड़ी पर चढ़कर और उसके अग्र भाग पर अपनी नाभि को रखकर घूम रही हों ॥134॥

कितनी ही देवियाँ इन्द्र की प्रत्येक भुजा पर नृत्य करती हुई तथा मनुष्यों को नेत्रों के कटाक्ष से ठगती हुई संचार कर रही थीं ॥135॥

वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियों को कभी ऊपर आकाश में उछालकर नृत्य करता हुआ दिखाता था, कभी उन्हें क्षण-भर में अदृश्य कर देता था और कभी क्षणभर में दृष्टिगोचर कर देता था ॥136॥

कभी उन्हें अपनी भुजाओं के जाल में गुप्त रूप से इधर-उधर संचार कराता हुआ वह इन्द्र उस समय लोक में महान् इन्द्रजालिक की उपमा को धारण कर रहा था ॥137॥

नृत्य करते हुए इन्द्र के प्रत्येक अंग में जो रमणीक कला-कौशल होता था, वह उन सभी देवियों में विभक्त हुए के समान प्रतीत होता था ॥138॥

इत्यादि विक्रियाजनित विविध दिव्य नृत्यों के द्वारा, बहुत प्रकार के आकारवाले हाव-भाव-विलासों के द्वारा आदर से देवियों के साथ दर्शनीय आनन्द नाटक करके इन्द्र ने माता-पिता और दर्शक आदिकों को परम सुख उत्पन्न किया ॥139-140॥

तदनन्तर मुक्ति-प्राप्त्यर्थ जिनेन्द्रदेव की शुश्रूषा और भक्ति के लिए अनेक देवियों को धायरूप से और भगवान् के वय के अनुरूप वेष आदि के करनेवाले देवकुमारों को इन्द्र ने नियुक्त किया । पुनः शुभचेष्टावाले देवों के साथ महान् पुण्य को उपार्जन करके वे सब देवगण अपनेअपने स्वर्ग को चले गये ॥141-142॥

इस प्रकार पुण्य के परिपाक से तीर्थंकर देव ने इन्द्रों के द्वारा समस्त वैभव से परिपूर्ण सारभूत जन्मकल्याणक के महोत्सव को प्राप्त किया । अतः ऐसा जानकर चतुर पुरुष उत्तम और गुणों के कारणभूत एक धर्म को ही परम यत्न के साथ सदा सेवन करें ॥143॥

धर्म इन्द्र और नरेन्द्र के सुख का जनक है, धर्म सर्व गुणों का निधान है, धर्म विश्वभर के प्राणियों का हितकारक है, अशुभ का संहारक है और शिवलक्ष्मी का कर्ता है। धर्म संसार के दुःखों का अन्त करनेवाला है, धर्म असामान्य पिता, माता और मित्र है। इसलिए हे ज्ञानी जनो, इस धर्म का ही सदा पालन करो। अन्य असत्कल्पनाओं से क्या लाभ है ॥144॥

जो श्रीवीरप्रभु प्राणियों के पितामह हैं, दुःखों के हरण करनेवाले हैं, धर्मतीर्थ के कर्ता हैं, सर्वज्ञ हैं, गुणों के सागर हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, विश्व के अद्वितीय चूड़ामणिरत्न हैं, कल्याण आदि सुखों के भण्डार हैं, उपमा रहित हैं, कर्म-शत्रुओं के विध्वंसक हैं, और तीन लोक के ज्ञानी पुरुषों के द्वारा एवं मेरे द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं, वे मेरे उक्त विभूति के लिए सहायक होवें ॥145॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में भगवान् के जन्माभिषेक का वर्णन करनेवाला नवम अधिकार समाप्त हुआ ॥9॥

## दसवां-अधिकार

वैराग्य प्रकरण

कथा :

त्रिजगत् के प्राणियों के हितकर्ता और अनन्त गुणों के सागर श्रीवर्धमानस्वामी के लिए नमस्कार है ॥1॥

अथानन्तर कितनी ही देवियाँ उस श्रेष्ठ बालक को स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन-विलेपन से भूषित करती थीं, कितनी ही देवियाँ दिव्य जल से स्नान कराती और कितनी ही देवियाँ हर्षपूर्वक नाना प्रकार के खेलों से और मधुर वचनों से उन्हें रमाती थीं ॥2-3॥

कितनी ही देवियाँ अपने कर-कमलों को पसारकर कहती - हे जगत्स्वामिन, इधर आइए, इधर आइए', इस प्रकार प्रीति से कह कर उन्हें अपनी ओर बुलाती और खिलाती थीं ॥4॥

उस समय वे बाल वीर जिन मन्द-मन्द मुसकराते और मणिमयी भूतल पर इधर-उधर घूमते हुए अपनी सुन्दर बालचेष्टाओं के द्वारा माता-

पिता को आनन्दित करते थे ॥5॥
उस समय भगवान् के शैशवकाल की उज्ज्वल कलाएँ समस्त बन्धुजनादिकों के नेत्रों को चन्द्रमा के समान उत्सव करनेवाली और विश्ववन्दित थीं ॥6॥
प्रभु के मुख-चन्द्र पर मुग्ध-स्मित (मन्द मुसकान) रूप निर्मल चन्द्रि का थी, उस से माता-पिता के मन का सन्तोषरूप सागर उमड़ ने लगता था ॥7॥
क्रम से बढ़ते हुए श्रीमान् महावीर प्रभु के मुखरूपी कमल में मन्मन करती हुई सरस्वती प्रकट हुई, सो ऐसा मालूम पड़ता था मानो वचन देवता ही उनके बालपन का अनुकरण करने के लिए उस प्रकार से आश्रय को प्राप्त हुई है ॥8॥
मणिमयी धरातल पर धीरे-धीरे डगमगाते चरण-विन्यास से विचरते हुए भगवान ऐसे शोभित होते थे मानो भूषणरूपी किरणों के साथ बालसूर्य ही घूम रहा हो ॥9॥
नाना प्रकार की क्रीड़ाओं में कुशल देवकुमार हाथी, घोड़े, वानर आदि के सुन्दर रूप धारण कर बड़े हर्ष से बालजिन को खिलाते थे ॥10॥
इन उपर्युक्त तथा इन के अतिरिक्त अन्य नाना प्रकार की बालचेष्टाओं के द्वारा बन्धुओं को प्रमोद उत्पन्न करते और अमृतमयी अन्न-पानादि के सेवनद्वारा क्रम से बढ़ते हुए भगवान् कुमारावस्था को प्राप्त हुए ॥11॥
वीरप्रभु के निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व पूर्वभव से ही प्राप्त था, उस से उनके सर्वतत्त्वों का यथार्थ निश्चय स्वयं हो गया ॥12॥
भगवान् के मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान जन्म से ही प्राप्त थे, फिर ज्यों-ज्यों उनका दिव्य शरीर बढ़ ने लगा, त्यों-त्यों वे तीनों ज्ञान और भी अधिक उत्कर्षता को प्राप्त हुए ॥13॥
उक्त ज्ञानों के प्रकर्ष से समस्त पदार्थों का परिज्ञान, समस्त कलाएँ, सर्वविद्याएँ, सर्वगुण और धार्मिक विचार आदि स्वयं ही भगवान की परिणति को प्राप्त हुए ॥14॥
इस कारण वे बाल प्रभु मनुष्यों और देवों के उत्तम गुरु सहज में ही बन गये । इसीलिए वीरदेव का कोई दूसरा गुरु या अध्यापक नहीं हुआ, यह आश्चर्य की बात है ॥15॥
आठवें वर्ष में वीर जिन ने गृहस्थ धर्म की प्राप्ति के लिए स्वयं अपने योग्य श्रावक के बारह व्रतों को धारण कर लिया ॥16॥
भगवान् का शरीर अतिशय सुन्दर, पसीना-रहित, मल-मूत्रादि से रहित, दूध के समान उज्ज्वल रक्तवाला और सुगन्धित था । वे आदि समचतुरस्रसंस्थान से भूषित थे, वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक थे, उत्कृष्ट सौन्दर्य से युक्त, महासुख से मण्डित, एक हजार आठ शुभ लक्षण-व्यंजनों से अलंकृत और अप्रमाणमहावीर्य से युक्त थे । प्रभु विश्वहितकारक और सब को सुखदायक प्रिय निर्मल वचनों के धारक थे। इस प्रकार इन सहज उत्पन्न हुए दश दिव्य अतिशयों से युक्त थे, तथा सौम्यादि अप्रमाण अन्य गुणों से, कीर्ति-कान्ति से, कलाविज्ञान-चातुर्य से और व्रत-शीलादि भूषणों से भूषित थे ॥17-21॥
प्रभु तपाये हुए सोने के वर्ण जैसी आभावाले दिव्य देह के और बहत्तर वर्ष की आयु के धारक थे । इस प्रकार वे साक्षात् धर्ममूर्ति के समान शोभते थे ॥22॥
अथानन्तर एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में देवगण भगवान् के महावीर्यशाली होने की कथा परस् पर कर रहे थे कि देखो - वीरजिनेश्वर जो अभी कुमारपद से भूषित हैं और क्रीड़ा में आसक्त हैं, फिर भी वे बड़े धीर-वीर, शूरों में अग्रणी, अप्रमाण पराक्रमी, दिव्यरूपधारी, अनेक असाधारण गुणों के भण्डार, और आसन्न भव्य हैं ॥23-25॥
देवों की यह चर्चा सुनकर संगम नाम का देव उन की परीक्षा करने के लिए स्वर्ग से उस महावन में आया, जहाँ पर कि वीरजिन सुन्दर केशों के धारक, समान अवस्थावाले अनेक राजकुमारों के साथ आनन्द से वृक्ष पर चढ़े हुए क्रीड़ा में तत् पर थे। प्रभु के प्रकाशमान आकार को उस देव ने देखा और उन्हें डरा ने के लिए उस ने क्रूर काले साँप का आकार धारण किया और वृक्ष के मूल भाग से लेकर स्कन्ध तक उस से लिपट गया ॥26-28॥
उस भयंकर साँप को वृक्ष पर लिपटता हुआ देखकर उसके भय से अतिविह्वल होकर सभी साथी कुमार डालियों से भूमि पर कूद-कूदकर दूर भाग गये ॥29॥
किन्तु धीर-वीर, निर्भय, निःशंक, निर्मल हृदयवाले वीर कुमार तो लपलपाती सैकड़ों जीभोंवाले, भीषण आकार के धारक उस साँप के

ऊपर चढ़कर माता की शय्या के समान क्रीड़ा करने लगे। अप्रमाणमहाबली प्रभु ने उसे तृण के समान तुच्छ समझा ॥30-31॥
वीरकुमार के अतुल धैर्य को देखकर आश्चर्यचकित हृदयवाला वह देव प्रकट होकर उनके उत्तम गुणों से इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥32॥
"हे देव, आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, आप ही महाधीर वीर हैं, आप ही सर्व कर्मशत्रुओं के नाश करनेवाले हैं और जगत् के सज्जनों के रक्षक हैं ॥33॥
चन्द्रि का के समान अतिनिर्मल महापराक्रमादि गुणों से उत्पन्न हुई आप की कीर्ति भव्य पुरुषों के द्वारा सारी लोकनाली में अनिवार्य रूप से सर्वत्र व्याप्त है ॥34॥
हे देव, संसार में आप की धीरता परम श्रेष्ठ है, आप के नाम का स्मरण करने मात्र से पुरुषों को सर्व **अर्थ**ों की सिद्धि करने वाला धैर्य शीघ्र प्राप्त होता है ॥35॥
अतः हे नाथ, आपको नमस्कार है, अतिदिव्यमूर्ति के धारक आपको नमस्कार है, सिद्धिवधू के स्वामी आपको नमस्कार है और महान वीर प्रभु, आपको मेरा नमस्कार है ॥36॥
इस प्रकार स्तुति करके और जगद्-गुरु वीर प्रभु का 'महावीर' यह तीसरा सार्थक नाम रख करके बार-बार नमस्कार कर वह देव वहाँ से स्वर्ग चला गया ॥3॥
वीरकुमार भी देव-गन्धर्वों के द्वारा गाये गये, सब के कानों को सुखदायी, चन्द्र के समान निर्मल अपने यश को सुनते हुए विचर ने लगे ॥38॥
वे कभी सुन्दर कण्ठवाली किन्नरी देवियों के द्वारा आदरपूर्वक गाये अपने गुणों का वर्णन करनेवाले गीतों को सुनते, कभी देवनर्तकियों के विविध प्रकार के नृत्यों को देखते और कभी अनेक रूप धारण करनेवाले देवों के नेत्र प्रिय नाटक को देखते थे ॥39-40॥
कभी स्वर्ग में उत्पन्न हुए और कुबेर-द्वारा लाये गये सुखकारक दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओं को देखते, कभी देवकुमारों के साथ आनन्द से जलक्रीड़ा करते और कभी अपनी इच्छा से वनक्रीडा को जाते थे ॥41-42॥
इत्यादि प्रकार के अनेक क्रीड़ा-विनोदों के साथ वीर कुमार धर्मीजनों के योग्य परम सुख का निरन्तर अनुभव करने लगे ॥43॥
सौधर्मेन्द्र भी अपने सुख के लिए नाना प्रकार के रमणीक नृत्य और मनोहर गीत-गान अपनी देवियों के द्वारा कराता, स्वर्ग में उत्पन्न हुई दिव्य वस्तुओं के द्वारा भेंट समर्पण करता, और निरन्तर काव्य-वाद्यगोष्ठी और धर्मगोष्ठी के द्वारा उन वीर प्रभु को महान सौख्य पहुँचाता था ॥44-45॥
इस प्रकार वीरकुमार अद्भुत पुण्य से उत्कृष्ट सुख को भोगते हुए क्रम से सांसारिक सुख की कारणभूत परम यौवनावस्था को प्राप्त हुए ॥46॥
युवावस्था के प्राप्त होने पर मुकुट और मन्दारमाला से अलंकृत वीर प्रभु का भ्रमरों के समान काले बालों से युक्त सिर धर्मरूप पर्वत पर स्थित कूट के समान शोभायमान होता था ॥47॥
कपोलों से उत्पन्न हुई कान्ति के द्वारा उनका अष्टमी के चन्द्रतुल्य ललाट भाग्यों के निधान के समान शोभित होता था ॥48॥
सुन्दर भ्रम-विभ्रम से यक्त उनके नेत्रकमलों का वर्णन किया जाये, जिन के निमेष-उन्मेषमात्र से जगत्-जन अत्यन्त सन्तुष्ट होते थे ॥49॥
मणिमयी कुण्डलों की कान्ति से प्रभु के सुन्दर गीतों को सुननेवाले दोनों कान इस प्रकार शोभित होते थे मानो वे ज्योतिषचक्र से ही वेष्टित हों ॥50॥
उनके मुखचन्द्र की परम शोभा का क्या पृथक् वर्णन किया जा सकता है, जिस से कि कैवल्य प्राप्त होने पर जगत्-हितकारी दिव्यध्वनि निकलेगी ॥51॥
उनके नाक, अधर, ओष्ठ, और दाँतों की, तथा कण्ठ आदि की जो स्वाभाविक रमणीयता थी, उसे कहने के लिए कौन बुद्धिमान् समर्थ है ॥52॥
मणियों से निर्मित हार से भूपित उनका विशाल वक्षःस्थल वीरलक्ष्मी के घर के समान भारी शोभा को धारण करता था ॥53॥
वे मुद्रिका, अंगद, केयूर, कंकण आदि आभूषणों से अलंकृत दो भुजाओं को अभीष्ट फल देनेवाले कल्पवृक्षों के समान धारण करते थे ॥

54॥
उनके दोनों हाथों की अँगुलियों के किरणों से देदीप्यमान दशों नख ऐसे शोभायमान होते थे, मानो लोक में क्षमादि धर्म के दश अंगों को कहने के लिए उद्यत हों ॥55॥
वे अपने शरीर के मध्य में आवर्त युक्त गम्भीर सुन्दर नाभि को धारण किये हुए थे, जो ऐसी ज्ञात होती थी, मानो सरस्वती और लक्ष्मी की क्रीडादि के लिए वापि का ही हो ॥56॥
वे सुन्दर मेखला (कांचीदाम) युक्त, शोभायमान रूप से वेष्टित कटिभाग को धारण करते थे, जो ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव के अगम्य ऐसे ब्रह्मनृपति का घर ही हो ॥57॥
वे वीरप्रभु कान्तियुक्त और केले के गर्भभाग से भी कोमल, किन्तु कायोत्सर्ग आदि के करने में समर्थ दो ऊरु और जंघाओं को धारण करते थे ॥58॥
उनके चरण-कमलों की महाकान्ति को किस की उपमा दी सकती है, जिन की कि आराधना देवेन्द्र भी किंकर के समान करते हैं ॥59॥
इस प्रकार नख के अग्रभाग से लेकर केश के अग्रभाग तक की उनके शरीर की परम शोभा को जो स्वभाव से ही प्राप्त हुई थी, कहने के लिए कौन विद्वान् समर्थ है ॥60॥
तीन लोक में स्थित, दिव्य, कान्तियुक्त, पवित्र, सुगन्धित पुद्गल-परमाणुओं से ही विधाता ने प्रभु का अनुपम शरीर रचा था ॥61॥
उनका प्रथम वज्रवृषभ-नाराच-संहनन था, जो कि वज्रमय हड्डियों से घटित, वज्रमय वेष्टनों से वेष्टित और वज्रमय कीलों से कीलित था ॥62॥
उनके शरीर में मद, खेद आदि विकार, रागादि दोष, और त्रिदोष-जनित रोगादि ने कभी स्थान नहीं पाया था ॥63॥
उन की शुभ वाणी जगत्-प्रिय, विश्व को सन्मार्ग का उपदेश देनेवाली और धर्ममाता के समान कल्याणकारिणी थी, कुदेवों के समान उन्मार्ग-प्रवर्तानेवाली नहीं थी ॥64॥
वीरप्रभु के दिव्य शरीर को पाकर ये आगे कहे जानेवाले लक्षण (चिह्न) ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे कि धर्मात्मा को पाकर धर्मादिक गुण शोभित होते हैं ॥65॥
वे लक्षण ये हैं -- श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, श्वेत छत्र, ध्वजा, सिंहासन, मत्स्ययुगल, कलश युगल, समुद्र, कच्छप, चक्र, सरोवर, देव-विमान, नाग-भवन, स्त्री-पुरुष-युगल, महासिंह, धनुष, बाण, गंगा, इन्द्र, सुमेरु, गोपुर, नगर, चन्द्र, सूर्य, उत्तम जाति का अश्व, तालवृन्त, मृदंग, सर्प, माला, वीणा, बाँसुरी, रेशमी वस्त्र, दुकान, दीप्तियुक्त कुण्डल, विचित्र आभूषण, फलित उद्यान, सुपक्व धान्ययुक्त क्षेत्र, वन, रत्न, महाद्वीप, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, सुवर्ण, कल्पलता, चूडामणिरत्न, महानिधि, कामधेनु, उत्तम वृषभ, जम्बू वृक्ष, पक्षिराज (गरुड़), सिद्धार्थ (सर्षप) वृक्ष, प्रासाद, नक्षत्र, तारिका, ग्रह, प्रातिहार्य इत्यादि दिव्य एक सौ आठ लक्षणों से और नौ सौ उत्तम व्यंजनों से, तथा शरीर पर धारण किये गये अनेक प्रकार के आभूषणों से और मालाओं से स्वभावतः सुन्दर भगवान् का दिव्य औदारिक शरीर अत्यन्त शोभायुक्त था, जिस की संसार में कोई उपमा नहीं थी ॥66-74॥
इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है ? इस जगत्त्रय में जो कुछ भी शभ लक्षण, रूप, सम्पदा, प्रियवचन, विवेकादि गुणों का समूह है, वह सब तीर्थंकरप्रकृति के पुण्य-परिपाक से वीरप्रभु को स्वयमेव ही सुख के साधन प्राप्त हुए थे ॥75-76॥
इत्यादि अन्य अनेक रमणीय निर्मल गुणातिशयों से भूषित और नरेन्द्र, विद्याधर एवं देवेन्द्रों से सेवित वीरप्रभु ने धर्म की सिद्धि के लिए मन-वचन-काय की शुद्धि द्वारा श्रावक के व्रतों को नित्य अतिचारों के बिना पालन करते, शुभ ध्यानों का चिन्तवन करते, अपने पुण्य से उपार्जित एवं मनुष्यों और इन्द्रों से समर्पित दिव्य शुभ महान् भोगों को भोगते हुए कुमारकालीन लीला के साथ कुमारकाल के तीस वर्ष एक क्षण के समान पूर्ण किये । इस अवस्था में वे जगन्नाथ सन्मति देव परम मन्दरागी रहे । **अर्थ**ात् उनके हृदय में कभी काम-राग जागृत नहीं हुआ, किन्तु सांसारिक विषयों से उदासीन ही रहे ॥77-80॥
अथानन्तर काललब्धि से प्रेरित महावीर प्रभु किसी दिन चारित्रावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से स्वयं ही अपने कोटिभवों के पूर्व परिभ्रमण का चिन्तवन करके संसार, शरीर और भोग के कारणभूत द्रव्यों में उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हए ॥८१-८२॥
तब उन महाबद्धिशाली प्रभु के चित्त में रत्नत्रय धर्म और तपश्चरण का करनेवाला, तथा मोहशत्रु का नाशक ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ ॥83॥

अहो, तीन जगत् में दुर्लभ मेरे इत ने दिन चारित्र के बिना मूढ पुरुष के समान वृथा ही चले गये ॥84॥
पूर्वकालवर्ती जो वृषभादि तीर्थंकर थे, उनका आयुष्य बहुत था, इसलिए वे सांसारिक सर्व कार्य कर स के थे । अब अल्प आयुवाले हमारे जैसों को सर्व कार्य करना कभी उचित नहीं है ॥85॥
नेमिनाथ आदि धीर-वीर तीर्थंकर धन्य हैं कि जो अपना स्वल्प जीवन जानकर बालकाल में ही शीघ्र मुक्ति प्राप्ति के लिए तपोवन को चले गये ॥86॥
इसलिए इस संसार में हित को चाहनेवाले अल्पायु के धारक पुरुषों को संयम के बिना एक कला भी बिताना योग्य नहीं है ॥87॥
अहो, अल्प आयु के धारक जो मनुष्य तप के बिना जीवन के दिनों को व्यर्थ गंवाते हैं, वे मूढजन यमराज से ग्रसित होकर संसार में दुःख पाते हैं ॥88॥
आश्चर्य है कि तीन ज्ञानरूप नेत्रों का धारक और आत्मज्ञ भी मैं मूढ़ के समान संयम के बिना इत ने काल तक वृथा गृहाश्रम में रह रहा हूँ ॥89॥
इस संसार में तीन ज्ञान की प्राप्ति से क्या साध्य है जबतक कि कर्मादि से अपने स्वरूप को पृथक करके मुक्ति-लक्ष्मी का मुख-कमल नहीं देखा जाये ॥90॥
ज्ञान पा ने का सत्फल उन्हीं पुरुषों को है जो कि निर्मल तप का आचरण करते हैं । दूसरों का ज्ञानाभ्यासादि-विषयक क्लेश निष्फल है ॥91॥
जो नेत्र धारण करके भी कूप में पड़े, उसके नेत्र निरर्थक हैं। उसी प्रकार जो ज्ञानी मोहरूप कूप में पड़े, तो उसका ज्ञान पाना वृथा है ॥92॥
जो पाप अज्ञान से किया जाता है वह ज्ञान से छूट जाता है। किन्तु ज्ञान से (जान करके) किया गया पाप संसार में किस के द्वारा छूट सकेगा? ॥93॥
ऐसा समझकर ज्ञानशालियों को प्राणों के जाने पर भी मोह-जनित निन्द्य कार्यों के द्वारा कभी कोई पाप कार्य नहीं करना चाहिए ॥94॥
क्योंकि मोह से ही दुर्धर राग-द्वेष होते हैं, उन से पुनः अतिघोर पाप होता है तथा पाप से दुर्गति में चिरकाल तक परिभ्रमण करना पड़ता है और उस से सुख-विमुक्त प्राणी पराधीन होकर वचनों के अगोचर अति भयानक दुःखों को पाते हैं ॥95-96॥
ऐसा समझकर ज्ञानी जनों को पहले मोहरूपी शत्रु स्फुरायमान वैराग्यरूप खड्ग से मार देना चाहिए, क्योंकि वह दुष्ट समस्त अनर्थों का करनेवाला है ॥97॥
अहो, वह मोहशत्रु गृहस्थों के द्वारा कभी नहीं मारा जा सकता है, इसलिए पापकारक यह घर का बन्धन दूर से ही छोड़ देना चाहिए ॥98॥
यह गृह-बन्धन बालपन में और उन्मत्त यौवन अवस्था में सर्व अनर्थों का करनेवाला है, अतः धीर-वीर बुद्धिमानों को मुक्ति-प्राप्ति के लिए उसका त्याग कर ही देना चाहिए ॥99॥
वे ही पुरुष जगत् में पूज्य हैं, और वे ही महाधैर्यशाली हैं, जो कि यौवन अवस्था में ही अति दुर्जन कामशत्रु का नाश करते हैं ॥100॥
क्योंकि यौवनरूप भूप के द्वारा प्रेरित हुए पंचेन्द्रियरूपी चोर संसार में परम विकार को प्राप्त होते हैं ॥101॥
यौवनरूपी राजा के मन्द पड़ने पर अपने आश्रय के अभाव से वृद्धावस्थारूपी पाश के द्वारा वेष्टित होकर वे इन्द्रिय-चोर भी मन्दता को प्राप्त हो जाते हैं ॥102॥
इसलिए मैं उसे ही परम दुष्कर तप मानता हूँ जो कि युवावस्थावाले पुरुषों के द्वारा विषयरूप शत्रुओं का दमन किया जाता है ॥103॥
इस प्रकार विचार करके महाप्रज्ञाशाली सन्मति प्रभु अपने उज्ज्वल हृदय में राज्यभोग निःस्पृह (इच्छा रहित) हुए और शिव-साधन करने के लिए सस्पृह (इच्छावाले) हुए ॥104॥
उन्हों ने घर को कारागार के समान जानकर राज्यलक्ष्मी के साथ उसे छोड़ ने और तपोवन जाने के लिए परम उद्यम किया ॥105॥
इस प्रकार शुभ परिणामों से और काललब्धि से तीर्थंकर प्रभु काम-जनित सुख को नहीं भोग करके ही समस्त सुखों के निधानभूत उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हुए । इस प्रकार के वे वीर कुमार मेरे द्वारा स्तुति को प्राप्त होकर मुझे अपनी विभूति देवें ॥106॥
वीर प्रभु वीरजनों के द्वारा संस्तुत और पूजित हैं, वीर पुरुष वीरनाथ के आश्रय को प्राप्त होते हैं, वीर के द्वारा ही इस संसार में समस्त सुख दिये जाते हैं, ऐसे वीर प्रभु के लिए मस्तक से नमस्कार है। वीर से जगत् के जीवों को वीरपद प्राप्त होता है, वीर के गुण भी वीर हैं,

वीर में अपने मन को धारण करनेवाले मुझे हे श्री वीर भगवन्, शत्रु को जीत ने के लिए वीर करो ॥107॥
इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्री वीरवर्धमान चरित्र में भगवान् के कुमारकाल में वैराग्य की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला दसवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥10॥

## ग्यारहवाँ-अधिकार

अनुप्रेक्षा चिन्तन

कथा :

कर्मरूप शत्रुओं के नाश करने में महावीर, अपने आत्मीय कार्य आदि के साधन में सन्मति और जगत्त्रय में वर्धमान ऐसे श्री वीरप्रभु को वन्दन करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर महावीर स्वामी अपने वैराग्य की वृद्धि के लिए जगत-हितकारी अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, त्रिप्रकारात्मक लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म नामवाली, वैराग्य-प्रदायिनी बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगे ॥2-4॥

संसार की अनित्यता का विचार करते हुए वे सोच ने लगे - प्राणियों की आयु नित्य ही प्रतिसमय यम से आक्रान्त हो रही है, यौवन वृद्धावस्था के मुख में प्रवेश कर रहा है, यह शरीर रोगरूपी साँपों का बिल है और ये इन्द्रिय-सुख क्षणभंगुर हैं ॥5॥

इस तीन भुवन में जो कुछ भी वस्तु सुन्दर दिखती है, वह सब कर्म-जनित है और समय आ ने पर नष्ट हो जायेगी, यह अन्यथा नहीं हो सकता ॥6॥

जब शतकोटि भवों से भी अति दुर्लभ मनुष्यों की आयु मृत्यु से क्षणभर में नष्ट हो जाती है, तब अन्य वस्तुओं में स्थिरता की इच्छा करना दुरासामात्र है ॥7॥

क्योंकि गर्भकाल से लेकर यह विश्व का क्षय करनेवाला पापी यमराज प्राणी को प्रति समय अपने समीप ले जा रहा है ॥8॥

जो यौवन सज्जनों के धर्म और सुख का साधन माना जाता है, वह भी व्याधि और मृत्यु आदि से मेघ के समान क्षणभर में क्षय को प्राप्त हो जाता है ॥9॥

यौवन अवस्था में रहते हुए ही कितने मनुष्य रागरूपी अग्नि के ग्रास बन जाते हैं और कितने ही बन्दीगृह में बद्ध होकर के नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं ॥10॥

जिस कुटुम्ब के लिए यह प्राणी नरक आदि दुर्गतियों के साधक निन्द्य कर्म करता है, वह कुटुम्ब भी यम से ग्रस्त है, चंचल है, अतः निःसार कहा गया है ॥11॥

इस भूतल पर जब चक्रवर्तियों के भी राज्यलक्ष्मी और सुखादिक मेघ-छाया के समान अस्थिर हैं तब अन्य वस्तुओं में स्थिरता कहाँ सम्भव है ॥12॥

इस प्रकार इस समस्त जगत् को क्षण-विध्वंसी जानकर ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही नित्य गुणों के भण्डाररूप स्थायी मोक्ष का साधन करते हैं ॥13॥

(यह अनित्यानुप्रेक्षा है-१)

जिस प्रकार निर्जन वन में सिंह की दाढ़ों के बीच में स्थित मृग-शिशु का कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार प्राणियों को रोग और मरण से बचा ने के लिए कोई शरण नहीं है ॥14॥

यमराज के द्वारा ले जाये जानेवाले प्राणी की एक क्षण भी रक्षा करने के लिए सर्व देव, इन्द्र, चक्रवर्ती और विद्याधरादि भी समर्थ नहीं हैं ॥15॥

अहो, मनुष्यों को ले जाने के लिए यमराज के सम्मुख आ जाने पर मणि-मन्त्रादिक और संसार की समस्त औषधिराशियाँ व्यर्थ हो जाती हैं ॥16॥

ज्ञानीजनों ने अरहन्त जिन, सिद्ध परमात्मा, साधुजन और केवलि-भाषित धर्म सज्जनों के रक्षक और सहगामी कहे हैं ॥17॥

संसार में बुद्धिमानों के लिए तप, दान, जिनेन्द्र-पूजन, जप, रत्नत्रय आदि ही शरण देनेवाले और सर्व अनिष्ट और पापों का नाश करनेवाले हैं ॥18॥

संसार के दुःखों से त्रस्त चित्त-जो पण्डितजन उक्त अरहन्त आदि के शरण को प्राप्त होते हैं, वे शीघ्र ही उन के गुणों को प्राप्त होकर नियम से उन के समान हो जाते हैं ॥19॥

मूर्ख चण्डि का और क्षेत्रपाल आदि के शरण जाते हैं, वे रोग-दुःख आदि के समूह से पीड़ित होकर नरकरूप समुद्र में गिरते हैं ॥20॥

ऐसा जानकर ज्ञानीजनों को अपने समस्त दुःखों के अन्त करनेवाले पंचपरमेष्ठी और तप-धर्मादि का शरण ग्रहण करना चाहिए ॥21॥

तथा अनन्त गुणों से परिपूर्ण और अनन्त सुखों का ससुद्र ऐसा मोक्ष रत्नत्रय आदि के द्वारा सिद्ध करना चाहिए, वही आत्मा को शरण देनेवाला है ॥22॥

(अशरणानुप्रेक्षा-२)

यह संसार अभव्य जीवों के लिए आदि, मध्य और अन्त से दूर है, **अर्थ**ात् अनादिअनन्त है और अनन्त दुःखों से भरा हुआ है। किन्तु भव्यजीवों की अपेक्षा वह शान्त है ॥23॥

मूर्खजनों के लिए इस संसार में सुख और दुःख दोनों प्रतिभासित होते हैं। किन्तु ज्ञानियों को तो बुद्धि के बल से केवल दुःखरूप ही प्रतीत होता है ॥24॥

जड़ बुद्धिवाले लोग जिस विषयजनित सुखाभास को सुख मानते हैं, ज्ञानीजन उसे नरकादि दुर्गतियों के कारणभूत पापों का उपार्जन करने से भारी दुःख मानते हैं ॥25॥

दुःखरूपी व्याघ्रादि से सेवित, भयानक और इन्द्रियविषयरूप चौरों से भरी हुई द्रव्य, क्षेत्रादिरूप पाँच प्रकार की संसाररूप गहन अटवी में सभी प्राणी रत्नत्रयधर्म के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावरूप पंच प्रकार के परावर्तनों के द्वारा कर्मशत्रुओं से गला पकड़े हुए के समान भूतकाल में घूमे हैं, वर्तमानकाल में घूम रहे हैं और भविष्यकाल में घूमेंगे ॥26-27॥

इस संसार में अनन्त भवों के भीतर परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियों ने अपनी इन्द्रियों और कर्मों के रूप से जिन पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण न किया हो और छोड़ा न हो, ऐसा कोई पुद्गल परमाणु नहीं है । **अर्थ**ात् सभी पुद्गल परमाणुओं को अनन्त बार शरीर और कर्मरूप से ग्रहण कर के छोड़ा है। यह द्रव्यपरिवर्तन है ॥28॥

इस असंख्यप्रदेशी लोकाकाश में ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं है. जहाँ पर परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियों ने जन्म और मरण न किया हो। यह क्षेत्रपरिवर्तन है ॥29॥

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का ऐसा एक भी समय नहीं बचा है, जिस में सभी प्राणियों ने अनन्त बार जन्म न लिया हो और मरण को न प्राप्त हुए हों। यह कालपरिवर्तन है ॥३०॥

देवलोक के नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानों को छोड़कर शेष चारों गतियों में ऐसी एक भी योनि शेष नहीं है, जि से कि समस्त प्राणियों ने अनन्त बार ग्रहण न किया हो और छोड़ा न हो। यह भवपरिवर्तन है ॥31॥

अहो, ये संसारी जीव मिथ्यात्व, कषायादि सत्तावन प्रत्ययरूप दुष्टों के द्वारा परिभ्रमण करते हुए निरन्तर दुष्कर्मों का उपार्जन करते रहते हैं। यह भावपरिवर्तन है ॥32॥

इस प्रकार जिस सद्-धर्म को नहीं प्राप्त कर प्राणी इस संसार में सदा भ्रमण करते रहते हैं, उस संसार-नाशक सद्-धर्म को भव-भयभीत पुरुष बहुयत्न के साथ सेवन करें ॥33॥

सुख के इच्छुक हे भव्यजनो, दुःखों से रहित और अनन्त सुखों से परिपूर्ण शिवपद को शीघ्र पा ने के लिए रत्नत्रयरूप धर्म का आश्रय करो ॥34॥

( संसारानुप्रेक्षा-३)

संसार में यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही यम के समीप जाता है, अकेला ही भव-कानन में भ्रमण करता है और अकेला ही महादुःख को भोगता है ॥35॥

जब रोगादि से पीड़ित यह प्राणी तीव्र वेदना को पाता है, उस समय देखते हुए भी स्वजन-बन्धुगण कहीं भी उस वेदना का अंशमात्र भी हिस्सा नहीं बाँट सकते हैं ॥36॥

यम के द्वारा ले जाया हुआ यह अकेला प्राणी जब अत्यन्त करुण विलाप करता जाता है, उस समय बन्धुजन एक क्षणभर भी रक्षा करने

के लिए कभी समर्थ नहीं हैं ॥37॥
यह अकेला प्राणी अपने परिवार की वृद्धि के लिए निन्द्य सावद्य हिंसादि पापकार्यों के द्वारा अपनी दुर्गति के कारणभूत जिस पापकर्म का उपार्जन करता है, उस के फल से वह यहाँ पर ही अनेक प्रकार के दुःखों को पाकर परभव में नरकादि दुर्गतियों के महादुःखों को भोगता है, उसके साथ दूसरा कोई जन उस दुःख को नहीं भोगता है ॥38-39॥
कोई एक बुद्धिमान मनुष्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि के द्वारा तीर्थंकरादि की विभूति देनेवाला महान पुण्य उपार्जन करके उसके परिपाक से स्वर्ग आदि सुगतियों में भारी विभूति पाकर अनुपम सुख को भोगता है, उसके समान दूसरा कोई महान पुरुष नहीं है ॥40-41॥
यह अकेला ही जीव तपश्चरण और रत्नत्रय-धारणादि के द्वारा अपने कर्म-शत्रुओं का नाश कर और संसार के पार जाकर अनन्त सुखसम्पन्न मोक्ष को प्राप्त करता है ॥42॥
इस प्रकार संसार में सर्वत्र जीव को अकेला जानकर हे बुद्धिशालियों, आप लोग उस शिवपद के पा ने के लिए नित्य ही अपने एक चैतन्यस्वरूपात्मक आत्मा का ध्यान करें ॥43॥
(एकत्वानुप्रेक्षा 4)
हे आत्मन् , तुम अपनी आत्मा को जन्म-मरणादि में स्पष्टतः सर्व प्राणियों से अन्य समझो, और निश्चय से अपने शरीर, कर्म और कर्म-जनित सुख-दुःखादि से भी भिन्न समझो ॥44॥
इस त्रिभुवन में माता अन्य है, पिता भी अन्य है और ये सभी बन्धुजन अन्य हैं । किन्तु कर्म के विपाक से ये स्त्री-पुत्र आदि के सम्बन्ध होते रहते हैं ॥45॥
मरण के समय जन्मकाल से साथ आया हुआ अपना यह शरीर ही जब साक्षात् पृथक् दिखाई देता है, तब स्पष्ट रूप से भिन्न दिखनेवाले घर आदिक क्या अपने हो सकते हैं ? कभी नहीं ॥46॥
पौद्गलिक कर्म से उत्पन्न हुआ यह द्रव्य मन और अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प जाल से परिपूर्ण यह तेरा भावमन, तथा द्रव्यवचन और भाववचन भी निश्चय से तेरी आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म और कर्मों के कार्य ये अनेक प्रकार के सुख-दुःखादि भी परमार्थतः जीव से भिन्न स्वरूपवाले हैं ॥47-48॥
यह जीव जिन इन्द्रियों के द्वारा इन बाह्य पदार्थों को जानता है, वे इन्द्रियाँ भी पुद्गल कर्म से उत्पन्न हुई हैं, अतः इन्हें भी अपने ज्ञान स्वरूप से भिन्न जानना चाहिए ॥49॥
जीव के भीतर जो राग-द्वेषादि भाव हो रहे हैं और जिन में यह जीव तन्मय हो रहा है, वे भी कर्म-जनित और नवीन कर्मबन्ध-कारक विभाव हैं, अतः पर हैं। वे जीवमय नहीं हैं ॥50॥
इत्यादि रूप से कर्म-जनित जो कुछ भी वस्तु संसार में विद्यमान है, वह सब वास्तव में अपनी आत्मा से सर्वथा भिन्न जानना चाहिए ॥51॥
इस विषय में बहुत कहने से क्या साध्य है, सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि आत्मा के स्वाभाविक तन्मयी उत्तम गुणों को छोड़ कर के संसार में कोई भी वस्तु अपनी नहीं है ॥52॥
इसलिए योगीश्वर शरीरादि से अपने चेतन आत्मा को भिन्न जानकर काय आदि के विनाश के लिए शुद्ध चेतन आत्मा का ध्यान करते हैं ॥53॥
(अन्यत्वानुप्रेक्षा 5)
जो शरीर माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न हुआ है, सात धातुओं से भरा हुआ है, विष्टा आदि अशुचि वस्तुओं के पुंज से परिपूर्ण है, उस शरीर को कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ॥54॥
अहो, जिस शरीर में भूख-प्यास, जरा-रोग आदि अग्नियाँ सदा जलती रहती हैं, उस शरीररूप कुटीर में सज्जनों का निवास क्या प्रशंसनीय है ? कभी नहीं ॥55॥
जिस शरीररूपी बिल में राग, द्वेष, कषाय और कामरूपी सर्प नित्य निवास करते हैं, वहाँ कौन ज्ञानी पुरुष रह ने की इच्छा करेगा ? कोई भी नहीं ॥56॥

यह पापी शरीर केवल स्वयं ही अशुचि और अशुचिमय नहीं है, किन्तु अपने आश्रय में आनेवाले सुगन्धी केशर, कर्पूर आदि द्रव्यों को भी दूषित कर देता है ॥57॥

जैसे भंगी के विष्टापात्र में कुछ भी रमणीय वस्तु नहीं दिखाई देती है, उसी प्रकार चर्म-मण्डित इस सर्वांग में भी हड्डी, मांस, रक्त आदि के सिवाय कोई रम्य वस्तु नहीं दिखाई देती है ॥58॥

खान-पानादि पोषण किया गया और तपश्चरणादि से शोषण किया गया यह शरीर अन्त में अग्नि से जलकर अवश्य ही राख का ढेर हो जायेगा, यदि यह निश्चित है, तब तप के लिए सुखाया गया यह शरीर उत्तम है ॥59॥

क्योंकि पोषण किया गया यह शरीर इस जन्म में रोगादि को और परभव में दुर्गतियों को देता है। किन्तु तप के द्वारा सुखाया गया यह शरीर परभव में स्वर्ग और मुक्ति के उत्तम सुखों को देता है ॥60॥

यदि इस अपवित्र शरीर के द्वारा केवलज्ञानादि पवित्र गुणराशियाँ सिद्ध होती हैं, तब इस कार्य में विचार करने की क्या बात है ॥61॥

ऐसा जानकर इस अनित्य शरीर से निर्मल आत्माओं को नित्य मोक्ष शरीर-जनित सुख छोड़कर सिद्ध करना चाहिए ॥62॥

अतः ज्ञानियों को इस अपवित्र देह से भिन्न, सर्व कर्म-मल से रहित, अपना आत्मा दर्शन-ज्ञान-तपरूप जल के द्वारा पवित्र करना चाहिए ॥63॥

(अशुच्यनुप्रेक्षा-६)

जिस रागवाले आत्मा में रागादिभावों के द्वारा पुद्गलपिण्ड कर्मरूप होकर के आता है, वह अनन्त दुःखों का देनेवाला आस्रव जानना चाहिए ॥64॥

जिस प्रकार छिद्रयुक्त जहाज समुद्र में डूब जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आस्रव से यह प्राणी भी इस अनन्त संसार-सागर में डूबता है ॥65॥

कर्मों के इस आस्रव के कारण अनर्थों का स्थान, दुर्मतों से उत्पन्न हुआ पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है, छह प्रकार की इन्द्रिय-अविरति और छह प्रकार की प्राणिअविरति, पन्द्रह प्रकार का प्रमाद, महापापों की खानिरूप पच्चीस कषाय, और पन्द्रह योग हैं । ये सभी कर्मास्रव के कारण हैं, जो दुःख से दूर किये जाते हैं और दुर्जन हैं ॥66-67॥

मोक्षाभिलाषी जनों को चाहिए कि वे इन कर्मास्रव के कारणों का शत्रुओं के समान सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि तीक्ष्ण शस्त्रों के द्वारा प्रयत्न के साथ विनाश करें ॥68॥

जो पुरुष घोर तप को करते हुए भी कर्मों के आ ने के इन महाद्वारों को रोकने में असमर्थ हैं, उन की कभी निर्वृति (मुक्ति) नहीं हो सकती है ॥69॥

जिन पुरुषों ने ध्यान, अध्ययन और संयम के द्वारा अपने कर्मास्रव को रोक दिया है, उनका मनोरथ सिद्ध हो चु का है। फिर उन्हें शरीर को क्लेश पहुँचा ने से क्या साध्य है ? ॥70॥

जबतक चंचल आत्माओं के योग से कर्मास्रव हो रहा है, तबतक उन को मोक्ष नहीं मिल सकता। किन्तु आस्रव के संग से उन की संसार-परम्परा ही बढ़ती है ॥71॥

ऐसा समझकर योगीजन सब से पहले सुप्रयत्न से सर्व अशुभ आस्रवों को रोक करके रत्नत्रय और शुभध्यान के द्वारा चेतन आत्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सर्व कर्मशत्रुओं के घातक निर्विकल्प परमध्यान को धारण करके आत्मा के मोक्ष के लिए शुभ आस्रव को भी त्याग देते हैं ॥72-73॥

(आस्रवानुप्रेक्षा 7)

मुनिजन योग, चारित्र, गुप्ति आदि के द्वारा जो कर्मास्रव के द्वार का निरोध करते हैं, वह मोक्ष का देनेवाला संवर है ॥74॥

कर्मास्रव को रोकने के कारण इस प्रकार हैं - पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र, उत्तम क्षमादिरूप दश प्रकार का धर्म, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा, क्षुधादि-बाईस महापरीषहों का जीतना, सामायिक आदि पाँच प्रकार का चन्द्रतुल्य निर्मल चारित्र-परिपालन, धर्मशुक्लरूप शुभध्यान और उत्तम ज्ञानाभ्यास आदि । कर्मास्रव के रोकनेवाले और जगत् में सार ये सभी संवर के उत्कृष्ट कारण मुनीश्वरों को प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिए ॥७५-७७॥

जिन योगियाँ के आनेवाले कर्मों का प्रतिदिन परम संवर है और तप से संचित कर्मों की निर्जरा हो रही है, उन को मोक्ष और सद्-गुण स्वयं प्राप्त होते हैं ॥78॥

जो लोग तप के क्लेश को सहन करते हुए भी दुष्कर्मों का संवर करने के लिए असमर्थ हैं, उन की मुक्ति कहाँ सम्भव है और निर्मल सद्-गुण पाना भी कहाँ से सम्भव है ॥79॥

इस प्रकार संवर के गुणों को जानकर मोक्ष के लिए उत्सुक पुरुष सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि सद्योगों द्वारा सदा सर्व प्रकार से कर्मों का संवर करें ॥80॥

( संवरानुप्रेक्षा 8)

पूर्वकाल में उपार्जित कर्मों का तप के द्वारा जो क्षय किया जाता है, वह शिव पद प्राप्त करनेवाली अविपाक निर्जरा योगियों के होती है ॥ 81॥

कर्म की विपाककाल के द्वारा सभी संसारी प्रणियों के जो स्वभावतः कर्म-निर्जरा होती है, वह सविपाक निर्जरा है। यह नवीन कर्मबन्ध कराती है, अतः त्याग ने के योग्य है ॥82॥

तपोयोगों के द्वारा जैसे-जैसे अपने कर्मों की निर्जरा की जाती है, वैसे-वै से ही मुक्तिलक्ष्मी तपस्वी मुनि के पास आती जाती है ॥83॥

तप से जब ही सर्व कर्मों की पूर्ण निर्जरा है, तब ही योगिजनों को मुक्ति का संगम हो जाता है ॥84॥

यह निर्जरा सर्व सुखों की खानि है, मुक्तिरामा की माता है, परम सारभूत है, अनन्त गुणों को देनेवाली है, तीर्थनाथों और गणनाथों के द्वारा सेवन की जाती है, सर्व दुःखों का नाश करती है, माता के समान मनुष्यों की हितकारिणी त्रिजगत्पूज्य है और संसार को नाश करनेवाली है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार इस निर्जरा के गुणों को जानकर भवभय-भीत ज्ञानीजनों को मोक्षप्राप्ति के लिए घोर तपश्चरण और परीषह-सहन के द्वारा सर्व प्रयत्न से इस कर्म-निर्जरा को करना चाहिए ॥85-87॥

जहाँ पर जीवादि छहों द्रव्य अवलोकन किये जाते हैं, वह लोक कहा जाता है। यह लोक अकृत्रिम, शाश्वत और महान है। तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है ॥88॥

इस लोक के सात राजु प्रमाण अधोभाग में समस्त अशुभ दुःखों की खानिरूप नरकमय रत्नप्रभादिक सात भूमियाँ हैं ॥89॥

उन में उनचास (49) पटल हैं और उन में चौरासी लाख खोटे बिल हैं ॥90॥

जो दुष्ट जीव पूर्वभव में महापाप करते हैं, क्रूर कर्मों में संलग्न रहते हैं, निन्दनीय हैं, सप्त व्यसनसेवी हैं और महामिथ्यात्वी कुमतों में आसक्त हैं, ऐसे जीव उन नरक बिलों में उत्पन्न होकर नारक पर्याय को प्राप्त होते हैं और वचनों के अगोचर महादुःखों को सहते हैं । वे परस् पर छेदन-भेदन, विविध प्रकार के ताडन, कदर्थन, शूलारोहण आदि के द्वारा तथा तीव्र भूख-प्यास आदि परीषहों के द्वारा रात-दिन दुःखों को पाते हैं ॥91-93॥

मध्यलोक में जम्बूद्वीप को आदि लेकर असंख्य द्वीप और लवण-समुद्र को आदि लेकर असंख्य समुद्र हैं, पाँच उन्नत मेरुपर्वत हैं, तीस कुलाचल हैं, बीस गजदन्त पर्वत हैं, एक सौ सत्तर विजयागिरि हैं, अस्सी वक्षार-पर्वत हैं। चार इक्ष्वाकार-पर्वत हैं, दश कुरुद्रम हैं, एक मानुषोत्तर पर्वत है। पाँच मेरु आदि ये सब अढ़ाई द्वीप में हैं। ये सभी पर्वत उन्नत जिनालयों और कूटादिकों से विभूषित हैं ॥94-96॥

मनुष्यलोक में एक सौ सत्तर बड़े देश और एक सौ सत्तर महानगरियाँ हैं। चारों गतियों में ले जानेवाली और मुक्ति की मातारूप पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं ॥97॥

समस्त भोगों की जननी तीस भोगभूमियाँ हैं । इस के अतिरिक्त गंगा-सिन्धु आदि महानदियाँ, विभंग नदियाँ, पद्म आदि ह्रद और गंगाप्रपात आदि श्रेष्ठ कुण्ड आदि भी हैं ॥98॥

ह्रदों के सरोवरों में अवस्थित कमल और उन पर रहनेवाली श्री-ह्री आदि देवियाँ भी इसी मनुष्यलोक में रहती हैं, सो यह सब वर्णन आगम में दक्ष चतुर पुरुषों को जानना चाहिए। इसी मध्यलोक में आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है, जहाँ पर अंजनगिरि आदि पर्वतों पर अति उत्कृष्ट बावन श्री जिनालय हैं, जो सर्वदेवों के द्वारा नमस्कृत है। मैं भी उन को सदा नमस्कार करता हूँ ॥99-100॥

इस मध्यलोक के ऊपर चन्द्र-सूर्य-ग्रह-तारा और नक्षत्र ये पाँच प्रकार के असंख्यात ज्योतिष्क देव रहते हैं, वे सभी असंख्यात वर्षों की आयु के धारक ऋद्धि और सुखादि से सम्पन्न हैं ॥101॥

इन सभी ज्योतिष्क देवों के विमानों में जिनालय हैं और उन में स्वर्ण-रत्नमयी जिनप्रतिमाएँ हैं। इन सब को मैं पूजा-भक्ति के साथ नमस्कार करता हूँ ॥102॥

मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक में सात राजु के भीतर सौधर्मादिक सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयिक और नौ अनुदिशादि विमान हैं, वे सभी सुख के आकार हैं ॥103॥

स्वर्गलोक के उक्त कल्प और कल्पातीत विमानों के तिरसठ पटल हैं। उनके सर्व विमानों की संख्या चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस जिनदेवों ने कही है। ये सभी सांसारिक सुखों को देनेवाले हैं ॥104-105॥

जो चतुर पुरुष पूर्वभव में रत्नत्रय धर्मयुक्त तपश्चरण करते हैं, महान धर्म के विधायक हैं, अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरुओं के भक्त हैं, इन्द्रिय-विजयी और उत्तम सदाचारी हैं, वे देवगति को प्राप्त होकर वहाँ पर वचनों के परे नाना प्रकार के महान सखों को दिव्य स्त्रियों के साथ अप्सराओं के नृत्य देखकर, उनके दिव्य गीतादि सुनकर और उनके साथ अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए भोगते हैं ॥106-108॥

लोक के अग्रभाग पर देदीप्यमान रत्नमयी सिद्धशिला है, जो मनुष्य क्षेत्र प्रमाण पैंतालीस लाख योजन विस्तृत गोलाकार है और बारह योजन मोटी है ॥109॥

उस सिद्धशिला के ऊपर अनन्त परम सुख में लीन अनन्त सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं, वे सभी ज्ञानशरीरी हैं। उस सिद्धगति को पा ने के लिए मैं उन की वन्दना करता हूँ ॥110॥

इस प्रकार सुख और दुःख इन दोनों से युक्त तीनों लोकों का स्वरूप जानकर और सब से राग छोड़कर लोक के अग्र भाग पर अवस्थित अनन्त सुख से युक्त परम शिवालय की सुखार्थी जन रत्नत्रय और तपोयोग से शीघ्र ही प्रयत्न पूर्वक आराधना करें ॥111-112॥

(लोकानुप्रेक्षा 10)

संसार में चारों गतियों के भीतर निरन्तर परिभ्रमण करते हुए कर्मों के करनेवाले प्राणियों को बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, जिस प्रकार कि दरिद्रियों को निधि की प्राप्ति अति कठिन है ॥113॥

सब से पहले तो संसार-समुद्र में पड़े हुए जीवों को मनुष्यभव पाना चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ है, उस से भी अधिक कठिन आर्य खण्ड का पाना है और उस से भी अधिक कठिन उत्तम कुल की प्राप्ति है । उत्तम कुल से भी अधिक कठिन दीर्घ आयु पाना है, उस से भी अधिक कठिन पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता है। उस पंचेन्द्रियपरिपूर्णता से भी बहुत दुर्लभ निर्मल बुद्धि का पाना है, जैसे कि रत्नों की खानि का पाना बहुत दुर्लभ है ॥114-116॥

इन सब से भी अत्यधिक दुर्लभ देव शास्त्र गुरुओं का समागम और धर्मकारिणी सामग्री का पाना है, जैसे कि दीन प्राणियों को कल्पलता का पाना दुर्लभ है ॥117॥

उक्त धर्म-सामग्री से भी अधिक कठिन दर्शनविशद्धि, निर्मल ज्ञान, चारित्र, तप और समाधिमरण आदि की प्राप्ति है। किन्तु जो सच्चारित्रधारक सन्त पुरुष हैं, उन्हें यह सब मिलना सुलभ है ॥118॥

इत्यादि समस्त सामग्री को पाकरके जो ज्ञानी पुरुष मोह का नाश कर मुक्ति का साधन करते हैं, वे ही बोधि की प्राप्ति को सफल करते हैं ॥119॥

उक्त सर्व सामग्री पाकरके भी जो धर्म और मोक्षादि की साधना में प्रमाद करते हैं, वे जहाज से गिरे हुए मनुष्य के समान संसार-समुद्र में डूबते हैं ॥120॥

ऐसा जानकर चतुर पुरुषों को मुक्ति के लिए धर्मादि के साध ने में भव-भव में उत्तम मरण की प्राप्ति में महान् यत्न करना चाहिए ॥121॥

(बोधिदुर्लभभावना 11)

जो संसार-समुद्र में गिर ने से जीवों का उद्धार करके शिवालय में अथवा तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि के पदों में शीघ्र स्थापित करे, वही उत्तम धर्म है ॥122॥

वह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन उत्तम दश रूप धर्म के इच्छुक जनों को महाधर्म के ये उत्तम बीज धारण करना चाहिए ॥123-124॥

क्योंकि इन बीजों के द्वारा ही इस लोक में मोक्ष-दाता, दुष्कर्म-जनित दुःखों का नाशक और सर्व सुखों का कारणभूत महान् धर्म उत्पन्न

होता है ॥125॥
तथा रत्नत्रय के आचरण से, मूलगुणों और उत्तरगुणों के समुदाय से तथा तप से मुक्तिसुख का करनेवाला मुनियों का धर्म होता है ॥126॥
धर्म के द्वारा तीन लोक में स्थित सभी उत्तम सम्पदाएँ सरलता से प्राप्त होती हैं और वे धर्मात्मा के पास प्रीति से अपनी स्त्रियों के समान स्वयं समीप आती हैं ॥127॥
धर्मरूपी मन्त्र से आकृष्ट हुई मुक्तिरूपी स्त्री जब धर्मात्मा पुरुष को निश्चय से स्वयं ही आकर आलिंगन देती है, तब अन्य देवांगनाओं की तो कथा ही क्या है ॥128॥
लोक में जो कुछ दुर्लभ और बहुमूल्य सुखसाधन हैं, वे सब धर्म से पुरुषों को पद-पद पर प्राप्त होते हैं ॥129॥
लक्षण धर्म ही मित्र, पिता, माता, साथ जानेवाला और हित करनेवाला है। धर्म ही कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और सब रत्नों का निधान है ॥130॥
जो लोग इस लोक में प्रमाद का परिहार करके निरन्तर धर्म को करते हैं, वे धन्य हैं और वे ही तीनों लोकों में सज्जनों के पूज्य हैं ॥131॥
अहो, जो मूढजन धर्म के बिना दिन गंवाते हैं, ज्ञानीजनों ने उन्हें गृह के भार को ढो ने से सींगरहित बैल कहा है ॥132॥
ऐसा जानकर बुद्धिमानों को धर्म के बिना प्रमाद से काल की एक कला भी व्यर्थ नहीं खोनी चाहिए, क्योंकि यह संसार क्षणभंगुर है ॥133॥
(धर्मभावना 12)
इस प्रकार विकार-रहित, तीव्र वैराग्य-कारक, सकल गुणों की निधान भूत, रागादि पापों से विहीन, तीर्थंकर और मुनिजनों के द्वारा सेव्य ये बारह अनुप्रेक्षाएँ रागभाव के विनाश के लिए ज्ञानीजन सदा अपने हृदय में धारण करें ॥134॥
ये अति निर्मल बारह भावनाएँ मुक्तिलक्ष्मी की माता हैं, अनन्त गुणों की भण्डार हैं, संसार की नाशक है, सिद्धान्तसूत्र से उत्पन्न हुई हैं। इन को जो यतीश्वर प्रतिदिन ध्याते हैं, उन को कौन-सी सम्पदाएँ नहीं प्राप्त होती हैं। उन को तो परम स्वर्ग और मुक्ति आदि विभूतियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं ॥135॥
जो उत्तम पुण्य के उदय से मनुष्यों और देवों में उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की लक्ष्मी को भोगकर और तीर्थंकर होकर बालकाल में भी तीन जगत् के गुरु हो गये और कर्मों का नाश करनेवाले, एवं शिवपद देनेवाले ऐसे संसार शरीर और भोगादि में परम वैराग्य को प्राप्त हुए, वे श्री वीर जिनेन्द्र मेरे स्तुत और नमस्करणीय हैं और बालकाल में वे दीक्षा की प्राप्ति के लिए सहायक होवें ॥136॥
इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्री वीरवर्धमान चरित में भगवान् की अनुप्रेक्षा चिन्तन का वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥11॥

## बारहवाँ-अधिकार

दीक्षा कल्याणक
कथा :
महान संवेग से भूषित, मुक्तिरमा के सुख में आसक्त, काम-जनित सुख में विरक्त ऐसे वीर-शिरोमणि श्री वीर-जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥1॥
अथानन्तर सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट नामवाले, ब्रह्मलोक निवासी, लौकान्तिक नामधारी, सौम्यमूर्ति, पूर्वभव में सम्पूर्ण श्रुत और वैराग्यभावना के अभ्यासी, सर्वपूर्वो के वेत्ता, जन्मजात ब्रह्मचारी, एकभवावतारी, निर्मल चित्तधारी, इन्द्र और देवों के द्वारा वन्द्य, एवं अभिनिष्क्रमण कल्याणक में तीर्थंकरों को सम्बोधन करनेवाले देवर्षि जब अपने अवधिज्ञान से भगवान् महावीर के चित्त को विरक्त जाना, तब वे स्वर्ग से उतरकर इस भूतल पर जगद्गुरु के समीप आये और कर्म-शत्रुओं के घात करने के लिए उद्यत्त श्री महावीर प्रभु को मस्तक से नमस्कार कर तथा स्वग में उत्पन्न हुए महान् द्रव्यों से परम भक्ति के साथ पूजकर विरक्ति-वर्धक वाक्यवाली **अर्थ**पूर्ण स्तुतियों के द्वारा अत्यन्त प्रमोद के साथ उन महाबुद्धिशाली देवर्षियों ने इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥2-8॥
हे देव, आप तीनों लोकों के नाथ हैं, गुरुओं के महागुरु हैं, ज्ञानियों के महागुरु हैं, प्रबोध देनेवालों के महाप्रबोधक है, अतः आप हमारे

द्वारा प्रबोध ने के योग्य नहीं हैं, आप तो स्वयंबुद्ध हैं, समस्त तत्त्वार्थ के वेत्ता हैं, और हमारे-जैसे लोगों के तथा समस्त भव्यजीवों के प्रबोधक हैं, इस में कोई सन्देह नहीं है ॥9-10॥

जैसे प्रबोधित ( प्रज्वलित ) प्रदीप घटपटादि पदार्थो को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आप भी समस्त जीव-अजीवादि पदार्थों को संसार में प्रकाशित करेंगे ॥11॥

किन्तु हे देव, आपको सम्बोधन करने का यह हमारा नियोग है, इसलिए वह आज स्तुति के छल से हमें वाचाल कर रहा है ॥12॥

यतः आप तीन ज्ञानरूपी नेत्रों के धारक हैं, और हेय-उपादेय आदि सर्वतत्त्वों के ज्ञायक हैं, अतः आपको शिक्षा देने के लिए कौन समर्थ है ? क्या दीपक सूर्य को प्रकाश दिखा सकता है ॥13॥

हे देव, मोह-शत्रु के विजय का उद्योग करने के इच्छुक आप ने यह जगत् के सन्तजनों के लिए उत्तम बन्धु-कर्तव्य पालन करने का विचार किया है ॥14॥

हे प्रभो, आप से अति दुर्लभ धर्मपोत को पाकरके कितने ही भव्य जीव इस दुस्तर संसार-सागर के पार उतरेंगे, कितने ही जीव आप के धर्मोपदेश से रत्नत्रय को पाकर उसके फल से अति उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि को जायेंगे ॥15-16॥

कितने ही जीव आप की वचन-किरणों से मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार-पुंज का विनाश कर और समस्त तत्त्वार्थ को जाकर शिवरमा का मुख देखेंगे॥१७॥ संसार में सुधीजनों को आप से समस्त अभीष्ट **अर्थ** की सिद्धि होगी और हे स्वामिन् , वे स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख को प्राप्त करेंगे, इस में कोई सन्देह नहीं है ॥18॥

हे प्रभो, मोहरूपी कीचड़ में निमग्न पुरुषों को धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर आप निश्चय से उन्हें हस्तावलम्बन देंगे ॥19॥

आप के वाक्यरूपी मेघ से अद्भुत वैराग्यरूपी वज्र पाकरके पण्डित लोग महान मोहरूपी पर्वत के सैकड़ों खण्ड करके चूर्ण कर देंगे ॥20॥

आप के तत्त्वोपदेहा से पापीजन अपने पापों को और कामीजन अपने काम-शत्रु को मारेंगे, इस में कोई संशय नहीं है ॥21॥

हे नाथ, कितने ही आप के भक्तजन आप के चरण-कमलों की सेवा करके और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि आदि कारणों को स्वीकार करके आप के समान होंगे ॥22॥ हे प्रभो, जगत् का अकल्याण करनेवाले मोह और इन्द्रिय शत्रुओं का समूह आपको संवेगरूप खड्ग धारण किये हुए देखकर अपने मरण आदि की शं का से कम्पित हो रहा है ॥23॥

क्योंकि हे सुभटोत्तम भगवन् , आप अपने और दूसरों के दुःसह परीषह भटरूप दुर्जय शत्रुओं को क्रीडामात्र से जीत ने के लिए समर्थ हैं । 24॥

अतएव हे धीर-वीर प्रभो, मोह और इन्द्रिय शत्रुओं के जीत ने के लिए, घातिकर्मो के नाश करने के लिए तथा संसार के भव्य जीवों के उपकार करने के लिए आप उद्योग कीजिए॥२५॥

हे भगवन्, यतः आप के सम्मुख यह उत्तम अवसर तप करने के लिए, कर्मों को नाश करने के लिए और भव्यजीवों को शिवालय ले जाने के लिए उपस्थित हुआ है, अनः हे स्वामिन् , आप के लिए नमस्कार है, आप गुणों के समुद्र हैं, अतः आपको नमस्कार है, हे जगत्-हितकारिन , मुक्तिकान्ता की प्राप्ति के लिए आप उद्यत हुए हैं, अतः आपको नमस्कार है ॥26-27॥ आप अपने शरीर में और इन्द्रिय-भोगों के सुखादि में निःस्पृह हैं, अतः आप के लिए नमस्कार है। आप मुक्तिस्त्री के सुख साध ने में सस्पृह हैं, इसलिए आपको नमस्कार है ॥28॥ आप अद्भुत वीर्यशाली हैं, कुमारकाल से ही ब्रह्मचारी हैं, लौकिक साम्राज्य लक्ष्मी से विरक्त हैं और शाश्वत मोक्षलक्ष्मी में अनुरक्त हैं, अतः आपको नमस्कार है ॥29॥

हे गुरुओं के गुरु, आपको नमस्कार है, हे योगियों के पूज्य, आपको नमस्कार है, हे समस्त विश्व के मित्र, आपको नमस्कार है और हे स्वयं बोधि को प्राप्त हुए भगवन् , आपको नमस्कार है ॥30॥

हे महादातः, इस स्तवन के फलस्वरूप आप इस जन्म में और परजन्मजन्मान्तरों में भी तप और चारित्र की सिद्धि के लिए अपने गुणों के साथ हे नाथ, हमें भी बालकाल में मोहरूपी शत्रु को विनाश करनेवाली सम्पूर्ण शक्ति दीजिए ॥31-32॥

इस प्रकार वे देवर्षि लौकान्तिक देव तीन लोक के ज्ञानियों से पजित जगन्नाथ वीर प्रभु की स्तुति करके, अपनी इष्ट प्रार्थना करके, अपना नियोग पूरा करके, नमस्कार, स्तुति और पूजन से परम पुण्य उपार्जन करके और भगवान् के चरण-कमलों को बार-बार नमस्कार करके स्वर्गलोक चले गये ॥33-34॥ ___ उन लौकान्तिक देवों के जाते ही चारों जाति के सभी देवगण घण्टानाद आदि चिह्नों से भगवान का

संयमोत्सव जानकर अपनी-अपनी देवियों के साथ अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर भक्ति के साथ सैकड़ों महोत्सवों को करते हुए उस कुण्डपुर नगर को आये और उसके वनों को और सर्व मार्गी को अवरुद्ध कर वे देव सैनिक अपनी देवियों और अपने वाहनों के साथ हर्पित हो आकाश में ठहर गये ॥35-37॥

सर्वप्रथम उन सब देवों ने मुक्ति के भर्तार उन वीर प्रभु को सिंहासन पर विराजमान करके क्षीरसागर के जल से भरे हुए महाउन्नत कलशों के द्वारा परम उत्सवसे, गीत नृत्य-वादित्र आदिसे, तथा जय-जयनाद के कोलाहल पूर्ण शब्दों के साथ उनका अभिषेक किया ॥38-39॥

पुनः त्रिजगत् के भूषणस्वरूप उन वीर प्रभु को उन्हों ने दिव्य वस्त्र, आभूषण, और मलयाचल पर उत्पन्न हुई पुष्पमालाओं से आभूषित किया ॥40॥

तत्पश्चात् उन वीर प्रभु ने महामोह से व्याप्त चित्तवाली अपनी माताको, दक्ष पिता को और अन्य बन्धु जनों को वैराग्य-उत्पादक मधुर वचनों के द्वारा और सैकड़ों प्रकार के उपदेशी वाक्यों से अलग-अलग सम्बोधित करते हुए महाकष्ट से उन्हें अपनी दीक्षा के लिए समझाया ॥41-42॥

तत्पश्चात् देवेन्द्र-रचित, चन्द्रप्रभा नाम की देदीप्यमान दिव्य पालकी पर संयमरूपी लक्ष्मी के सुख प्राप्त करने के लिए उत्सुक, और इन्द्र के द्वारा दिया गया है हाथ का सहारा जिन को ऐसे श्री वीर जिनदेव राज्यलक्ष्मी के साथ सब बन्धुजनों को छोड़कर दीक्षा में प्रतिज्ञाबद्ध के समान चढ़े ॥43.44॥

उस समय समस्त आभूषणों की विभूति से युक्त और देवों से आवृत वे जगत् के नाथ महावीर प्रभु उस पालकी पर विराजमान होकर ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो तपोलक्ष्मी को वर ने के लिए जानेवाले उत्तम वर ही हों ॥45॥

सर्व प्रथम उस पालकी को राजाओं ने सात पद तक उठाया, तत्पश्चात् सात पद तक विद्याधरों ने उठाया और उसके पश्चात् धर्मानुराग के रस से परिपूरित वे सभी देवगण उस पालकी को अपने कन्धों पर आरोपण करके बड़ी विभूति के साथ शीघ्र आकाश में उड़कर ले चले ॥46-47॥

अहो, उस प्रभु के महा. माहात्म्य का क्या अलग वर्णन किया जा सकता है, जिस की कि पालकी को उठानेवाले लोकनायक इन्द्रादिक हों॥४८॥

उस समय देवों ने आकाश से फूलों की वर्षा की और वायुकुमार देवों ने गंगा के जलकणों से युक्त सुरभित समीर प्रवाहित की ॥49॥

उस समय देव वन्दीजनों ने भगवान् के अभिनिष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी मंगल पाठ पढ़े, और देवों ने अनेक प्रयाणभेरियों को बजाया ॥50॥

'जगत्पति के मोहादि शत्रुओं को जीत ने के उद्योग का यह समय है' इस प्रकार से इन्द्र की आज्ञा से उस समय देवों ने उच्च स्वर से घोषणा की ॥51॥

उस समय स्वामी के आगे हर्षित हुए सुरासुरों ने 'हे ईश, तुम्हारी जय हो, नन्दो, व?,' इत्यादि शब्दों को बोलते हुए आकाश को अवरुद्ध कर महान् कोलाहल किया ॥52॥

उस समय देवेन्द्रों के कोटिकोटि बाजे आकाश को व्याप्त करते हुए बज ने लगे और नाना प्रकार के हाव-भावों के साथ देव नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं। किन्नरियाँ अति मधुर स्वर से प्रभु के मोहशत्रु के विजय को प्रकट करनेवाले अनेक प्रकार के सुखद यशोगीत गा ने लगीं ॥53-54॥

उस समय प्रमोद के भार से भरे हुए देवगण इधर से उधर दौड़ रहे थे, और कोटि-कोटि ध्वजा-छत्रादि से आकाश को आच्छादित करते हुए चल रहे थे, ॥55॥

प्रभु के आगे कमलों को हाथ में लिये हुए लक्ष्मीदेवी मंगल द्रव्यों को धारण करनेवाली दिक्कमारियों के साथ-साथ आगे चल रही थी॥५६॥

देवेन्द्रों के द्वारा जिन के ऊपर चँवर ढोरे जा रहे हैं और मस्तक पर श्वेत छत्र लगाया गया है, भीतरी जो सर्व ओर से देवेन्द्रों के द्वारा समावृत है, जो स्वर्ग से लाये गये मालाओं और वस्त्राभूषणों से मण्डित हैं और इस प्रकार जिन का माहात्म्य सर्व ओर प्रकट हो रहा है, ऐसे वे वीर भगवान जब नगर से वन को जा रहे थे, तब पुरवासियों ने यह कहते हुए उनका अभिनन्दन किया-हे जगद्-गुरो, आप शत्रुओं को जीतें, सिद्धि प्राप्ति के लिए कर्तव्य कार्य को करें, आप का मार्ग सुखमय हो, आप कोटि-कोटि कल्याणों को प्राप्त हो ॥57-59॥

साम्राज्य सुख और स्त्रीभोग को भोगे बिना ही तपोवन को जाते हुए वीर भगवान को देखकर कितने ही विचक्षण पुरुष परस् पर में इस प्रकार से वार्तालाप करने लगे-अहो, देखो, यह महान् आश्चर्य की बात है कि यह जिनराज कुमारावस्था में ही कामरूपी शत्रु को मारकर तपोवन को जा रहे हैं ॥60-61॥

उन की इस बात को सुनकर दूसरे लोग कहने लगे-अरे, इस लोक में मोह, इन्द्रिय-भोग और कामशत्रु को मार ने के लिए यह वीर प्रभु ही समर्थ है, और दूसरा कदाचित् भी समर्थ नहीं है ॥62॥

उन की यह बात सुनकर कितने ही सूक्ष्म बुद्धिशाली पुरुष बोले-अरे, बाहरी और । शत्र को नाश करनेवाले वैराग्य का यह सब माहात्म्य है ॥63॥

जिस से कि ऐसे स्वर्गीय भोग, और त्रिजगत् की सर्व सम्पदा को भी छोड़ ने के लिए और पंचेन्द्रियरूपी चोरों को मार ने के लिए ये समर्थ हो रहे हैं ॥64॥

यह परम वैराग्य का ही प्रभाव है कि ये चक्रवर्ती की सम्पदा को विरक्त होकर तृण के समान छोड़ रहे हैं। अन्यथा रागी और दरिद्रता से युक्त पुरुष तो अपनी जीर्ण पर्णकुटीर को भी छोड़ ने के लिए समर्थ नहीं होता है ॥65॥

उन की यह बात सुनकर दूसरे लोग कहने लगे-अहो, तुम्हारा कहना सत्य है, क्योंकि वैराग्य के बिना इन का ऐसा निःस्पृह मन कै से हो सकता है॥६६॥

इत्यादि वचनालापों के द्वारा कितने ही लोग उनका स्तबन कर रहे थे, कितने ही पुरवासी लोग उन्हें प्रणाम कर रहे थे और कितने ही लोग अति कौतुक से उन्हें देख रहे थे ॥67। इस प्रकार लोगों के द्वारा पद-पद पर अनेक प्रकार के वचनालापों से प्रशंसा किये जानेवाले वे तीन जगत् के नाथ नगर के अन्त में पहुँचे ॥6॥

__इस प्रकार अपने पुत्र वीर कुमार के घर से चले जाने पर जिन-माता त्रिशला आन्तरिक शोक से आहत होकर दावाग्नि से जली हुई वेलि के समान होती हुई और पुत्र-वियोग की अग्नि से पीड़ित सिद्धार्थ पिता भी आर्तचित्त होकर बन्धुजनों के साथ दुःख से रोते और भारी विलाप करते हुए पुत्र के पीछे-पीछे घर से निकले ॥69-70॥

हाय पुत्र, आज तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? हे मुक्ति में अनुरक्त, हे मेरे हृदय के प्यारे. अब मैं तुम्हें अपने नेत्रों से कब देखूगी ।71॥

जब मैं तेरे वियोग को क्षणमात्र भी सहन करने को समर्थ नहीं हूँ, तब तेरे बिना मैं चिरकाल तक कै से जीवित रह सकूँगी ॥72॥

हे पुत्र, तुम अति कोमल शरीरवाले हो, फिर इन दुर्जय परीपद और अनेक प्रकार के घोर उपसर्गों को कै से जीतोगे ? इन दुर्दमनीय इन्द्रियरूपी हाथियोंको, त्रैलोक्यविजयी इस कामदेवको, और इन कषायरूपी शत्रुओं को किस धैर्य से घात करोगे ॥73-75॥

हाय पुत्र, तुम अभी बालक हो, फिर इस दुष्कर भयकारी वन में और क्रूर मांस-भक्षी निहादि से भरे हुए गुफा आदि में कै से रहोगे ॥75॥

इस प्रकार से विलाप करती और भगवान के पीछे-पीछे गिरती-पड़ती जाती हुई उस त्रिशला माता को उसके महत्तर पुरुषों ने आकर और आगे जाने से रोककर दिव्य वाणी से इस प्रकार कहा-हे देवि, क्या तुम इस जगद्-गुरु के इस चरित्र को नहीं जानती हो ? तेरा यह पुत्र तीन लोक का स्वामी है और अद्भुत पराक्रमी है ॥76-77॥ यह तीर्थंकर हैं, यह आत्मवेत्ता पहले संसारसागर में पतन से अपना उद्धार करके पीछे बहुत- से भव्य जीवों का निश्चय से उद्धार करंगे ॥78॥

जैसे दुर्जय सिंह कभी भी पाशों से बँधा हुआ नहीं रह सकता है, उसी प्रकार हे देवि, तुम्हारा यह पुत्र भी मोह आदि के बन्धनों से बँधा हुआ घर में कै से रह सकता है **अर्थ**ात् नहीं रह सकता है ॥72॥

इन का संसार अति निकट आ गया है, यह जगत् के उद्धार करने में समर्थ तुम्हारा पुत्र दीन जन के समान इस अशुभ घर में कै से प्रीति कर सकता है ॥80॥

यह तुम्हारा पुत्र तीन ज्ञानरूप नेत्रों का धारक है, संसार का ज्ञाता है, संसार से विरक्त चित्तवाला है। फिर यह किस कारण से मूढजन के समान इस मोहरूप अन्धकूप में गिरेगा ॥81॥

ऐसा जानकर हे महाचतुर माता, पाप का आकर ( खानि ) इस शोक को छोड़ो और घर जाकर तथा इस तीन जगत् को अनित्य जानकर धर्म का आचरण करो ॥82॥

क्योंकि इष्ट जनों के वियोग से मूर्ख लोग ही शोक को करते हैं। किन्तु जो चतुर पुरुष होते हैं, वे संवेग से सर्व अनिष्ठों के विघातक धर्म का

पालन करते हैं ॥83॥

इत्यादि प्रकार के उद्बोधक और श्रवणीय महत्तरों के वचनों को सुनकर प्रबुद्ध बुद्धि वह देवी विवेकरूपी किरणों से अपने मन के शोकरूपी अन्धकार को शीघ्र दूर कर अपने हृदय में धर्म को धारण कर संवेग से व्याप्त शरीरवाली वह माता बन्धुजनों और सेवकों के साथ अपने राजमन्दिर को वापस लौट आयी ॥84-85॥

तदनन्तर यथोक्त मांगलिक आयोजनों से मनुष्यों के नेत्रगोचर आकाश में न अतिदूर, न अतिसमीप जाते हुए वीर जिनेन्द्र संयम की प्राप्ति के लिए देवों के साथ ज्ञातृखण्ड नामक महावन में पहुँचे, जो कि उत्तम छायावाला, फल-युक्त, रमणीय और ध्यान-अध्ययन की वृद्धि करनेवाला था ॥86-87॥

उस वन में देवों के द्वारा पहले ही निर्माण किये गये एक गोल चन्द्रकान्तमयी पवित्र शिलापट्ट पर वीर भगवान् पालकी से उतरकर जा विराजे । वह शिलापट्ट वृक्षों के समूह की छाया से शीतल था, घि से हुए चन्दन के रस से जिस पर छींटे दिये गये थे, सांथिया आदि मंगल-चिह्नों से जो मण्डित था, इन्द्राणी के हाथों रत्नों के चूर्ण से जिस पर नन्द्यावर्त आदि बनाये गये थे, जिस के ऊपर चित्र-विचित्र वस्त्रों का मण्डप शोभायमान था और जो ध्वजा-पंक्तियों से आकाश को व्याप्त कर रहा था, जिस के सर्व ओर दिशाओं में धूप का सुगन्धित धुआँ फैल रहा था और जिस के चारों ओर मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥88-90॥

वीर कार्य करने में जिन का मन संलग्न है, जो शरीरादिक में आकांक्षा-रहित हैं और मोक्ष के साधन में आकांक्षा-युक्त हैं, ऐसे श्री वीरप्रभु जन-संक्षोभ ( कोलाहल ) के शान्त हो जाने पर उस शिलापट्ट के ऊपर उत्तर दिशा की ओर मुख करके विराजमान हुए। उस समय वे शत्रु-मित्रादि सर्व प्राणियों पर परम समता भाव की भावना कर रहे थे ॥91-92॥

तभी उन्हों ने क्षेत्र-वास्तु आदि दशों प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रहों को तथा अति दाख से छोड़े जानेवाले मिथः आदि चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों को एवं वस्त्र, आभूषण और माला आदि की शरीरादि में निःस्पृह और स्वात्मीय सुख में सस्पृह होते हुए मोह के नाश करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया ॥93-94॥

तत्पश्चात् पद्मासन से बैठकर तथा सिद्धों को नमस्कार कर मोह-पाश के समान अपने केश-समूह को पाँच मुट्ठियों से उखाड़कर फेक दिया और मन-वचन-काय के द्वारा सर्व सावधों ( हिंसादि पापों ) का परित्याग कर सर्व गुणों के आद्यस्वरूप सारभूत अट्ठाईस परम मूल गुणोंको, आतापन आदि योगों से उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के उत्तर गुणोंको, पंच महाव्रतोंको, पंच समितियों को और तीनों गुप्तियों को वीर जिनराज ने स्वीकार करके सर्वत्र समताभाव को प्राप्त होकर सर्व दोषों से रहित और सर्व गुणों का आकर ऐसा सामायिक नाम का सारभूत संयम अंगीकार किया ॥95-98॥

इस प्रकार मार्गशीर्षमास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन अपराह्नकाल में उत्तरा और हस्त नक्षत्र के मध्यभाग में चन्द्रमा के आश्रित होने पर उत्तम मुहूर्त में वीरप्रभु ने अकेले ही मुक्तिकान्ता की परम सखी और अतिदुर्लभ ऐसी जैनी दीक्षा को मुक्ति-प्राप्ति के लिए धारण किया ॥99-100॥

भगवान् के मस्तक पर चिरकाल तक निवास करने से केशों को अति पवित्र मानकर देवेन्द्र ने उन्हें स्वयं उठाकर हर्ष से उन की पूजा कर और प्रकाशमान रत्नों की पिटारी में रखकर तथा उसे दिव्य वस्त्र से ढककर देवों के साथ रमणीक महोत्सव करते हुए उस रत्नपिटारी को पवित्र क्षीरसागर के स्वभावतः पवित्र जल में परम विभूति से बहु सम्मान्य पुण्य की प्राप्ति के लिए निक्षेपण किया ॥101-103॥

अहो, यदि जिनेश्वर के आश्रय से ये काले अचेतन बालों का समूह पूजा को प्राप्त हुआ, तो सचेतन पुरुषों को उन से क्या इष्ट साधन नहीं होगा? **अर्थ**ात जिनेश्वर के आश्रय से मनुष्यों को सभी इष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होंगी ॥104॥ जिस प्रकार इस लोक में यक्ष देव जिनदेव में चरण-कमलों के आश्रय से सम्मान को पाते हैं, उसी प्रकार अर्हन्त देव का आश्रय लेनेवाले नीचजन भी दुर्लभ पूजा को प्राप्त करते हैं ॥ 105॥

उस समय सन्तप्त सुवर्ण कान्तिवाले शरीर के धारक यथा जातरूपवाले वीर भगवान् नैसर्गिक कान्ति और दीप्ति आदि के द्वारा तेजोराशि के समान शोभित हुए ॥106॥

तव परम सन्तोष को प्राप्त हुए देवेन्द्रों ने हर्ष से उनके गुण-ग्रामों द्वारा श्री वीर परमेष्टी की इस प्रकार उच्च स्वर से स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥107॥ हे देव, इस संसार में तुम ही परमात्मा हो, तुम ही तीनों जगत् के महान गुरु हो, तुम ही गुणों के सागर हो, जगन्नाथ हो,

शत्रुओं के जीतनेवाले हो और अति निर्मल हो ॥108॥

हे देव, आप के जो गणनातीत ( असंख्यात) गुण हैं, वे अद्भत हैं, संसार में वे असाधारण हैं, उन की स्तुति करने के लिए श्री गणधर देवादि भी अशक्य हैं, तो फिर अल्प बुद्धि से युक्त हमारे-जैसे लोगों के द्वारा उन की कै से स्तुति की जा सकती है, यह समझकर हमारा मन आप की स्तुति करने में झूला के समान झों के खा रहा है ॥109-110॥

तथापि हे ईश, आप के ऊपर हमारी जो एक निश्चल भक्ति है, वही हमें आप की स्तुति करने के लिए हठात् वाचालित कर रही है ॥111॥

हे योगीश, बाह्य और आन्तरिक मरण के विनाश से आप की यह निर्मल गुणों की राशि आज मेघ-रहित सूर्य को किरणों के समान प्रकाशमान हो रही है ॥112॥

हे भगवन , आदि और अन्त में दुःखों से मिश्रित, चंचल विषय-जनित सुख को छोड़कर स्वात्मज उत्कृष्ट सुख की इच्छा करनेवाले आप के निःस्पृहपना कहाँ सम्भव है ॥113॥

अत्यन्त दर्गन्धियुक्त स्त्रियों के खोटे शरीर में राग को छोड़कर मुक्तिरमणी में महाराग को करनेवाले आप के राग-रहित ( वीतराग ) कै से माना जाये ॥114॥

हेय और उपादेय को स्पष्ट जानकर हेय को छोड़कर उपादेय निज आनन्द को स्वीकार करनेवाले आप के हे नाथ, समभावना कहाँ है ॥ 115॥ रत्न नामधारी पत्थरों को छोड़कर सम्यग्दर्शनादि अमूल्य महामणियों को ग्रहण करने वाले आप के हे देव, लोभ-मुक्ति कै से मानी जाये ॥116॥

क्षण- भंगुर, और पाप-वर्धक इस लौकिक राज्य को छोड़कर नित्य और अनुपम तीन जगत् के साम्राज्य की इच्छा करनेवाले आप का मन निःस्पृह कै से माना जा सकता है ॥117॥

हे जगत्प्रभो, लौकिक चंचल लक्ष्मी को छोड़कर सर्वोत्कृष्ट लोकाग्रनिवासिनी मुक्ति लक्ष्मी को चाहनेवाले आप के संसार में आशारहितपना कै से सम्भव है ॥118॥

कामदेवरूपी शत्र को ब्रह्मचर्यरूप बाणों के द्वारा मार देने से रति और प्रीति को विधवा बनानेवाले आप के हृदय में हे देव, दया कहाँ है ॥ 119॥

ध्यानरूपी महावाणों के द्वारा समस्त कर्मशत्रओं की सन्तान का मोह-भूपति के साथ विनाश करनेवाले आप के हृदय में हे नाथ, करुणा कहाँ है ॥120॥ अपने थोड़े- से बन्धुओं को छोड़कर अपने गणों के द्वारा सारे जगत के जीवों के साथ परम बन्धता को करनेवाले आप के हे देव. बन्धवियुक्तता कै से सम्भव है ॥121॥

हे दक्ष, सर्पफणा के सदृश विषयुक्त भोगों को छोड़ करके शुक्लध्यानरूपी अमृतपान को करते हुए आप के प्रोषधव्रत कै से सम्भव है ॥ 122॥

पुण्यधारा के समान जगत के सन्तापों को शान्त करनेवाली, पवित्र और विद्वत्पूजित आप की यह महादीक्षा हम सब लोगों को पवित्र करे ॥ 123॥

तीनों लोकों को पवित्र करने में समर्थ ऐसी शुद्ध दीक्षा को मन-वचन-काय की शुद्धि से धारण करनेवाले और मुक्ति के इच्छुक आप के लिए नमस्कार है ॥124॥

शारीरिक सुखादि में निःस्पृह और शिवमार्ग में सस्पृह, तपःश्री से संयुक्त और द्विविध परिग्रह के त्यागी हे भगवन् , आपको नमस्कार है ॥ 125॥

अनमोल सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय आभूषणों से भूषित हे ईश, निभूषण आत्मस्वरूपवाले तुम्हारे लिए हमारा नमस्कार है ॥ 126॥

समस्त प्रकार के वस्त्रों के त्यागी और दिशारूप अम्बर ( वस्त्र ) के धारक, तथा महान ऐश्वर्य के साधन में उद्यत चित्तवाले आप के लिए नमस्कार है ॥127॥

सर्वसंग से विमुक्त, गुण सम्पदा से युक्त, मुक्ति के महाकान्त हे जिनेश्वर,आप के लिए नमस्कार है ॥128॥

अतीन्द्रिय सुख से युक्त चित्तवाले, विरागी, उपवासी और शुक्लध्यानामृतभोजी आप के लिए हे नाथ, नमस्कार है ॥129॥

हे पूज्य, आज के दीक्षित, चार ज्ञानरूप नेत्र के धारक, स्वयंबुद्ध, तीर्थ के स्वामी और उत्तम बालब्रह्मचारी, समस्त इन्द्रियसुखों से विमुख, चैतन्य आत्मा के सम्मुख, निश्चिन्त और मुक्ति प्राप्ति में चिन्ता करनेवाले, आप के लिए नमस्कार है ॥130-131॥

कर्म शत्रुओं की सन्तान का घात करनेवाले, गुणों के सागर, उत्तमक्षमादि दश लक्षण धर्म के धारण करनेवाले, आपको नमस्कार है ॥132॥

हे पूज्य, हे जगढ़ाशाप्रपूरक, इस स्तवन के द्वारा हम आप से किसी सांसारिक लक्ष्मी की प्रार्थना नहीं करते हैं। किन्तु हे देव, बालप ने में भी तपोदीक्षाविधायिनी अपनी इस शक्ति को अपने गुणों के साथ मुक्ति के लिए भव-भव में हमें दीजिए ॥133-234॥ ___ इस प्रकार वे देवों के स्वामी वीर प्रभु को स्तुति करके, पूजा करके और बार-बार नमस्कार करके नमन, पूजन और स्तवनादि के द्वारा बहुत प्रकार का पुण्य उपार्जन करके कर्तव्य काय को पूर्ण करनेवाले, धर्म में संलग्न चित्तवाले, और भगवान के दीक्षा-कल्याणक की कथा में निरत वे सभी इन्द्र देवों के साथ अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥135-136॥

अथानन्तर वे वीर प्रभु निश्चल अंग होकर, कर्मशत्रुओं का विनाशक, योग-निरोधक ध्यान को धारण करके पाषाण में उत्कीर्ण मूर्ति के समान ध्यानस्थ हो गये ॥137॥

उसी समय ही उस ध्यानयोग के द्वारा वीर प्रभु के उत्कृष्ट चतुर्थ मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हुआ जो कि निश्चय से केवलज्ञान की प्राप्ति का सूचक है ॥138॥

। इस प्रकार विकारों से रहित जिस वीर प्रभु ने बालकाल में ही विरक्त होकर मनुष्य और देवगति में उत्पन्न हुई राज्य और भोग आदि की लक्ष्मी को निश्चय से तृण के समान छोड़कर शीघ्र ही दीक्षा को ग्रहण किया उस वीरनाथ की मैं अनुपम गुणों के कीर्तन द्वारा स्तुति करता हूँ॥१३९॥

वीर प्रभु वीर जनों में अग्रणी हैं, गुणों के निधान हैं, ऐसे वीरनाथ को वीर पुरुष ही आश्रित होते हैं, वीर के द्वारा शीघ्र ही उत्तम सुख प्राप्त होता है, ऐसे वीर प्रभु के लिए भक्ति से मेरा नमस्कार है। इस संसार में वीरनाथ से भिन्न और कोई पुरुष नहीं है, उस वीर के गुण भी वीर ही हैं, ऐसे वीर जिनेन्द्र में मैं अपना प्रतिदिन ध्यान लगाता हूँ, हे वीर प्रभो, मुझे वीर करो ॥140॥ इति श्री भट्टारक सकलकीतिविरचित श्री वीरवर्धमान चरित में भगवान् की दीक्षा कल्याणक का वर्णन करनेवाला बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥12॥

## तेरहवाँ-अधिकार

केवलज्ञान की उत्पत्ति

कथा :

सर्व प्रकार के परिप्रह से रहित, बाधाओं से रहित, मुक्तिकान्ता के सुख पा ने के लिए उत्सुक और ध्यानावस्थित श्री महावीर को मैं वीर-जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए वन्दन, करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर यह महावीर स्वामी छहमासी उपवास आदि तपों के करने में अतीव समर्थ थे, तो भी अन्य मुनियों को उत्तम चर्यामार्ग बतला ने के लिए पारणा के दिन धृति और धैर्य से बलशाली, शरीर-भोगादि में अत्यन्त निःस्पृह उन योगीन्द्र महावीर ने शरीर स्थिति में बुद्धि की **अर्थ** ात् गोचरी के लिए उद्यत हुए ॥2-3॥

तब प्रयत्न के साथ उत्तम ईर्यापथ पर दृष्टि रखकर 'यह निधन है, और यह धनी है' ऐसा मन में जरा भी चिन्तवन नहीं करते, संसार, शरीर और भोग इन तीनों में संवेग भाते, उत्तम दानियों को सन्तोष करते, कृत, कारित, उद्दिष्ट आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार का स्वयं अन्वेषण करते, न अति मन्द और न अति शीघ्र पादविन्यास रखते वे दयाई चित्त महावीर प्रभु क्रम से विचरते हुए कूल नामक रमणीक पुर में पहुँचे ॥4-6॥

वहाँ पर कूल नामक धर्मबुद्धि राजा ने सर्व पात्रों में श्रेष्ठ वीर जिन को देखकर दुष्प्राप्य निधान को पा ने के समान हृदय में परम आनन्द मानकर उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर और शीघ्र पंच अंगों को भूमि पर रखते हुए नमस्कार करके 'हे भगवन, तिष्ठ तिष्ठ' ऐसा कहकर अतिहर्षित होते हुए उन्हें पडिगाहा ॥7-8॥

तत्पश्चात् उस राजा ने भगवान को प्रासुक, श्रेष्ठ उच्चस्थान पर बैठाकर शुद्ध जल से उनके चरण कमलों को प्रक्षालन करके उस जल को पवित्र मानकर उसे मस्तक पर लगाया और भक्तिभार से आठ द्रव्यों के द्वारा उन की पूजा की उन्हें नमस्कार किया ॥9-10॥

पुनः उस ने 'हे भगवन् , आप के पदार्पण से मैं पवित्र हो गया हूँ,' मेरा यह गार्हस्थ्य जीवन सफल हो गया है, पात्र के लाभ से मैं धन्य हूँ, इस प्रकार विचार करते हुए अपनी मनःशुद्धि की ॥11॥

पुनः उस ने 'हे देव, मैं धन्य हूँ, हे नाथ, आज आप ने मझे पवित्र कर दिया और आप के आगमन से यह घर पवित्र हो गया ऐसा कहकर उस ने अपनी वचनशुद्धि की ॥12॥

आज मेरा शरीर आप के चरण-स्पर्श से पवित्र हो गया, पात्रदान से मेरे ये दोनों श्रेष्ठ हाथ सफल हो रहे हैं, ऐसा मानकर उस राजा ने कायशुद्धि की ॥13॥

पुनः उस ने यह कहते हुए आहारशुद्धि प्रकट की कि यह भोजन कृत आदि दोषों से रहित है, प्रासुक अन्न से निष्पन्न हुआ है, सार, योग्य और निर्मल है ॥14॥

इस प्रकार उत्तम पुण्य के उपार्जन के कारणभूत इन नव प्रकार के भक्तिभेदों के द्वारा राजा ने उस समय महान् पुण्य का उपार्जन किया ॥ 15॥

मेरे भाग्य से आज यहाँ पर यह अत्यन्त दुर्लभ सम्पूर्ण पात्र दान का सुअवसर प्राप्त हुआ है, जो कि अन्यत्र कदाचित सम्भव नहीं, ऐसा विचार कर उस राजा ने दान देने में परम श्रद्धा प्रकट की ॥16॥

अपनी शक्ति को प्रकट करके वह पात्रदान में उद्यत हुआ । मुक्ति के लिए दान देने के भाव से उस ने लौकिक लक्ष्मी, रत्नवृष्टि और कीर्ति आदि की इच्छा को छोड़ दिया ॥17॥ उस समय धर्म-सिद्धि के लिए अन्य समस्त कार्यों को छोड़कर शुश्रूषा, आज्ञा-पालन, पुण्य-राग आदि के द्वारा वह उत्तम राजा भगवान् की भक्ति में तत् पर हुआ ॥18॥

यह आहार प्रासुक है, यह उत्तम दान-वेला है, इस विधि से मुझे दान देना चाहिए, इस प्रकार के आहारदान देने के ज्ञान को वह राजा प्राप्त हुआ ॥19॥ संयमी साधु अनेक उपवास-जनित क्लेश को कै से सहन करते हैं? इस प्रकार विचार कर उस राजा ने परम क्षमा के साथ कृपा को धारण किया ॥20॥

इस प्रकार गृहस्थों के महाफल-कारक इन उत्तम सात दातार के गुणों को उस विद्वान् राजा ने अंगीकार किया ॥21॥

तत्पश्चात् उस राजा ने वीर प्रभु-जैसे उत्तम सुपात्र के लिए दाताजनों के हितार्थ मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक विधि से भक्ति के साथ उत्तम, प्रासुक, मधुर, सरस, निर्दोष, तप की वृद्धि करनेवाला और क्षुधा-तृषा का विनाशक क्षीरान का उत्कृष्ट दान दिया ॥22-23॥

उस समय उस दान से सन्तुष्ट हुए देवों ने पुण्ययोग से राजा के अंगण में अन्धकार-नाशक अनमोल करोड़ों मणियों की स्थूल, अखण्ड. सघन. धारा-समहोंसे. फलों की सगन्धि से मिश्रित जलवर्षा के साथ आकाश से भारी रत्नवर्षा की ॥24-25॥

उस समय दाता के महापुण्य यश की घोषणा करते हुए अनेक दुन्दुभियों का शब्द आकाश में व्याप्त हो गया ॥26॥

अहो, दाता को संसार-समुद्र से तारनेवाले यह जिनेन्द्र परम पात्र हैं, और यह महान् दाता धन्य है, कि जिस के घर जिनराज पधारे हैं ॥ 27॥

यह परमदान पुरुषों को स्वर्ग और मोक्ष का कारण है, इस प्रकार देवों ने जय-जयकार की घोषणा के साथ सद् वचन कहे ॥28॥

अहो, जैसे इस भूतल पर पात्रदान से अनमोल रत्नों की कोटियाँ प्राप्त होती हैं और उत्तम निर्मल कीर्ति आदि प्राप्त होती है, उसी प्रकार परलोक में भी स्वर्ग और भोगभूमि आदि में निश्चय से अनेक अनमोल महाभोगादि सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥29-30॥

उस समय रत्नों की राशियों से सारे राजांगण को पूरित देखकर कितने ही निपुण पुरुष परस् पर में इस प्रकार कहने लगे ॥31॥

अहो, दान का उत्कृष्ट फल यहीं पर ही देखो कि आज यह राजभवन रत्नों की वर्षा से परिपूर्ण हो रहा है ॥32॥

इस बात को सुनकर अन्य ज्ञानीजन बोलेअरे, यह कितना-सा दान का फल है ? दान से तो स्वर्ग और मोक्ष के परम सुखादिक प्राप्त होते हैं ॥33॥ उनके ये वचन सुनकर और दान के प्रत्यक्ष फल को देखकर कितने ही पुरुषों ने स्वर्गलक्ष्मी के भोगों को देनेवाले पात्रदान में अपनी बुद्धि को किया। **अर्थ**ात् पात्रदान देने का निश्चय किया ॥34॥

उस समय श्रीवर्धमान तीर्थश रागादि को दूर से ही छोड़कर वीतराग हृदय से अवस्थित रहते हुए शरीर की स्थिति के लिए पाणिपात्र द्वारा आहार को ग्रहण कर और दान के फल से राजा को और उसके घर को पवित्र करके वन को चले गये ॥35-36॥

इस उत्तम दान से राजा ने भी अपना जन्म, अपना गृहाश्रम और महापुण्यकारी अपना धन सफल माना ॥37॥

उसके हान की अनुमोदना से अन्य बहुत से दानियों ने दाता और पात्र के स्तवन, गुण-गान आदि के द्वारा राजा के समान ही पुण्य का उपार्जन किया ॥38॥

अथानन्तर वीर जिनेश नाना ग्राम, पुर, अटवी और अनेक देशों में वायु के समान निर्ममत्व होकर प्रयत्न के साथ ( जीव रक्षा करते ) और नित्य विहार करते हुए विचर ने लगे ॥39॥

वे वीर जिन ध्यानादि की सिद्धि के लिए भयंकर गिरि-गुफा, दुर्ग, श्मशान आदि में और निर्जन वन-प्रदेशों में सिंह के समान ए का की रात्रि में निवास करते थे ॥40॥

वे जिनदेव वेलातेला को आदि लेकर छह मास तक के उपवासों को करने लगे। कभी पारणा के दिन अवमोदर्य ( ऊनोदर ) तप करते, कभी अलाभ परीषह को जीत ने के लिए चतुष्पथ आदि की प्रतिज्ञा करके अद्भुत वृत्तिपरिसंख्यान तप को करते, कभी निर्विकृति आदि की प्रतिज्ञा करके रसपरित्याग तप को करते और कभी ध्यान के लिए वनादि निर्जन प्रदेशों में विविक्तशयनासन तप को करते थे ॥ 41-43॥

वे वीरजिन वर्षाकाल में झंझावात आदि से व्याप्त वृक्ष के मूल में धैर्यरूप कम्बल से वेष्टित होकर निवास करते, कभी शीतकाल में चौराहों पर और नदी के किनारे ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा शीत पुंज को ध्वस्त करते हुए निवास करते थे, जिस शीतकाल में कि प्रचण्ड शीत के द्वारा वृक्षों के समूह जल जाते थे ॥44-45॥

उष्णकाल में वीर प्रभु सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सन्तप्त पर्वत के शिखर पर अवस्थित शिलातल पर ध्यानामृतरूप जल से सिंचित रहकर ठहरते थे॥४६॥

इस प्रकार शारीरिक सुख को दूर करने के लिए वीर-जिनेन्द्र कायक्लेश तप को धारण करते थे। इन उपयुक्त छहों प्रकार के सुदुःसह बाह्य तपों को वीर प्रभु ने किया ॥47॥

वीर जिनेन्द्र सदा प्रमाद-रहित होकर इन्द्रियों को जीतते थे, अतः प्रायश्चित्त ले ने की उन्हें कभी आवश्यकता नहीं थी। वे मन को सर्व प्रकार के संकल्प-विकल्पों से रहित करके और कायोत्सर्ग करके सर्वकर्मरूप वन को जला ने के लिए अग्नि के समान अपनी आत्मा का सर्वत्र ध्यान करते थे। इस प्रकार कर्म शत्रु के विघात के लिए परम आनन्द का कारणभूत सर्व प्रकार का अभ्यन्तर तप आत्मध्यान के योग से और समस्त आस्रवों के निरोध से उनके सदा होता रहता था ॥48-50। इस प्रकार वीर भगवान् ने अपने वीर्य को प्रकट करके प्रयत्नपूर्वक बारहों ही उत्तम तपों को चिरकाल तक तपा ॥5॥

उत्तम क्षमागुण के द्वारा वे वीर भगवान् पृथिवी के समान सदा अकम्प रहते थे। और प्रसन्न स्वभाव के द्वारा वे सदा स्वच्छ जल के समान निर्मल चित्त रहते थे ॥52॥

दुष्कर्म रूप वन को जला ने में वे जलती हुई अग्नि के समान थे, कषाय और इन्द्रिय-शत्रुओं को घात करने में वे दुर्जय शत्रु के तुल्य थे ॥ 53॥

वे भगवान् धर्मबुद्धि से सदा परमधर्म का आचरण करते थे और इस लोक तथा परलोक में सुख के सागर ऐसे क्षमादि दश लक्षणधर्म को धारण करते थे ॥54॥

वे अतुल पराक्रमी वीर प्रभु अपनी शक्ति से क्षुधा-तृषादि-जनित सर्वघोर परीषहों को तथा वन में होनेवाले सभी उपद्रवों को सहन करते थे ॥55॥

वे दप्रभु भावनाओं के साथ, अतीचार-रहित पाँचों ही महाव्रतों को परम केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए पालन करते थे ॥56॥

वे कर्म-पाश की विनाशक पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठों प्रवचन-माताओं का सदा ही हर्ष से आश्रय ले रहे थे ॥57 । वे महाबुद्धिमान् वीर भगवान् समस्त उत्तर गुणों के साथ सर्व मूलगुणों को अप्रमादी होकर पालन करते थे और स्वप्न में भी कभी मलों ( अतीचारों) को पास नहीं आ ने देते थे ॥58॥

इत्यादि परम आचार से अलंकृत वीर जिनेन्द्र पृथ्वी पर विहार करते हुए उज्जयिनी के अतिमुक्तक नाम के श्मशान में आये ॥59॥

उस रौद्र श्मशान में वीर जिनेश शिव-प्राप्ति के लिए काय का त्याग कर और प्रतिमायोग को धारण कर पर्वत के समान अचल होकर ध्यानस्थ हो गये ॥60॥

परम आत्मध्यान में संलीन, मेरु शिखर के समान स्थिर जिनराज को देखकर अधोगामी और पापबुद्धिवालों-स्थाणु नामक अन्तिम रुद्र ने दुष्टता के कारण उनके धैर्य के सामर्थ्य की परीक्षा के लिए पाप के उदय से उसी क्षण उनके ऊपर उपसर्ग करने का विचार किया ॥ 61-62॥
तब वह अपनी विद्या से अनेक प्रकार के विशाल वेताल रूपों को बनाकर जिनदेव को ध्यान से चला ने के लिए उद्यत हुआ ॥63॥
उन भयानक रूपादि के द्वारा, तर्जना करनेसे, खोटी दृष्टि से देखनेसे, अट्टहासोंसे, घोर ध्वनि करनेसे, विविध प्रकार से लययुक्त नृत्योंसे, फाड़े हुए मुखोंसे, तीक्ष्ण शस्त्र और मांस को लिये हुए हाथों से उस रात्रि में उस ने जगद्-गुरु के ध्यान को नष्ट करनेवाला अति दुष्कर उपसर्ग किया ॥64-65॥
उस उपद्रब के समय वीर जिनेन्द्र मेरु शिखर के समान अचल रहे और उसके उन करोड़ों उपद्रवों के द्वारा ध्यान से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए ॥66॥
तब उस पापी शठ रुद्र ने श्री जिनराज को अविचल जानकर अपनी विक्रिया से बनाये हुए बड़े-बड़े फणावाले साँपोंसे, सिंहोंसे, हाथियोंसे, प्रचण्ड वायु से और जलती हुई ज्वालाओंसे, इसी प्रकार के अन्य भयंकर रूपों से और दुष्ट वाक्यों से कायरों को भयभीत करनेवाला महाघोर उपसर्ग श्री वर्धमान जिनेन्द्र के ऊपर किया ॥67-68॥
तो भी वीर जिनदेन अपने ध्यानावस्थित स्वरूप से रंचमात्र भी चल-विचल नहीं हुए। किन्तु निज आत्मा के ध्यान का आलम्बन करके सुमेरु के समान अचल ब ने रहे ॥69॥
तब पाप-उपार्जन करने में अति पण्डित वह ढाष्ट रुद्र धीरता युक्त महावीर को जानकर अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों को करने लगा ॥70॥
उस ने अपनी विक्रिया से भीलों की विकराल सेना बनायी, जिन के हाथों में भयानक शस्त्र थे, जो दुःसह और अनेक प्रकार के भयावह आकारोंकों धारण किये हुए थे, और कायरजनों को डरानेवाले थे। उनके द्वारा उस रुद्र ने भगवान के ऊपर घोर उपद्रव कराये। किन्तु उनके द्वारा सर्व ओर से वेष्टित भी जगत्पति वीरनाथ मन से जरा भी क्लेश को नहीं प्राप्त हुए किन्तु सुमेरु के समान स्थिर ब ने रहे। ७१-७२॥
आचार्य कहते है कि अहो, संसार में देवयोग से कचित् कदाचित् पर्वतमाला भले ही चलायमान हो जाये. किन्तु योगियों का चित्त घोर उपद्रवों के द्वारा ध्यान से कभी विचलित नहीं होता है ॥73॥
इस लोक में वे पुरुष ही धन्य हैं, जिन का ध्यान में स्थित मन सैकड़ों-हजारों उपसर्गों के द्वारा भी रंचमात्र विकार को नहीं प्राप्त होता है ॥ 74॥
तब वह रुद्र महावीर को अत्यन्त अचलाकार जान करके लज्जा को प्राप्त होता हुआ इस प्रकार से उन की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ ॥75॥
हे देव, आप ही इस लोक में परम वीर्यशाली हैं, जगद्-गुरु हैं, वीर पुरुषों में अग्रणी हैं, महान् वीर हैं, महाध्यानी हैं, महान तपस्वी हैं, महातेजस्वी हैं, जगत् के नाथ हैं, समस्त परीषहों के विजेता हैं, वायु के समान निःसंग हैं, धीर-वीर हैं और कुलाचल के समान अचल हैं ॥ 76-77। आप क्षमा से पृथ्वी के समान हैं, दक्ष हैं, सागर के समान गम्भीर हैं, स्वच्छ जल के समान प्रसन्न आत्मा हैं, और कर्मरूप वन को जला ने के लिए अग्नि के समान हैं ॥7॥
आप तीनों लोकों में अपने गुणों से बढ़ रहे है, अतः आप ही यथाथे में वधेमान है, उत्तम बुद्धि को धारण करते हैं, अतः आप 'सन्मति' इस सार्थक नामवाले हैं, आप ही परमात्मा हैं और महाबली हैं ॥78-79॥
हे पूज्य स्वामिन् , अविचल देह के धारण करनेवाले आप के लिए मेरा नमस्कार है, नित्य प्रतिमायोगशाली आप परमात्मा के लिए मेरा नमस्कार है ॥80॥
इस प्रकार वर्धमान जिन की स्तुति करके और बार-बार उनके चरण-कमलों को नमस्कार करके 'महतिमहावीर' इस नाम को रखकर मत्सर-रहित होकर अपनी उमा कान्ता के साथ आनन्द-निर्भर हो नृत्य करके चारित्र से चलायमान हुआ वह रुद्र अपने स्थान को चला गया ॥81-82॥

आचार्य कहते हैं कि अहो, दुर्जन पुरुष भी महापुरुषों के योग-जनित महान् साहस को देख करके जब सन्तुष्ट होते हैं, तब भूतल पर सज्जनों की तो कथा ही क्या है ? **अर्थ**ात् वे तो और भी अधिक सन्तोष को प्राप्त होते हैं ॥8॥

अथानन्तर चेटक राजा की वनक्रीड़ा में आसक्त, चन्दना नाम की सती पुत्री को देखकर कोई कामातुर और पाप-परायण विद्याधर किसी उपाय से उसे शीघ्र ले उड़ा और आकाश मार्ग से जाते हुए उस ने अपनी भार्या के भय से पीछे किसी महाअटवी में उसे छोड़ दिया ॥ 84-85॥

तब वह महासती अपने पापकर्मोदय को जानकर पंचनमस्कार मन्त्र को जपती हुई उसी अटवी में धर्मध्यान में तत् पर होकर रह ने लगी ॥ 86॥

वहाँ पर किसी भीलों के राजा ने उसे देखकर धन-प्राप्ति की इच्छा से ले जाकर वृषभसेन नाम के वैश्यपति को सौंप दी ॥87॥ सभदा नाम की उस सेठ की स्त्री ने उस की रूप-सम्पदा को देखकर 'यह मेरी सौत बनेगी' ऐसी शं का को मन में धारण किया ॥88॥

तब उस ने उसके रूपसौन्दर्य की हानि के लिए ( उसके केश मुँड़ा दिये और ) साँकल से बाँधकर ( उसे एक कालकोठरी में बन्द कर दिया।) तथा आरनाल ( कांजी ) से मिश्रित कोदों का भात मिट्टी के सिकोरे में रखकर उसे नित्य खा ने को देने लगी। ऐसी अवस्था में भी उस सती ने अपनी धर्मभावना को नहीं छोड़ा ॥89-90॥

किसी एक दिन उन महावीर प्रभु ने राग से रहित होकर शरीर-स्थिति के लिए वत्सदेश की इस कौशाम्बीपुरी में प्रवेश किया ॥91॥

उन उत्तमपात्र महावीर प्रभु को देखकर चन्दना के भाव दान देने के हुए। पुण्योदय से उसके बन्धन तत्काल टूट गये। सिर काले भौंरों के समान केशभारसे, और शरीर माला-आभूषणों से युक्त हो गया। तब उस ने साम ने जाकर और उन्हें नमस्कार कर सन्मति प्रभु को पडिगाह लिया ॥92-93॥

उसके शील के माहात्म्य से कोदों का भात शालि चावलों का हो गया और वह मिट्टी का सिकोरा विशाल सुवर्णपात्र बन गया ॥94॥

आचार्य कहते हैं कि अहो, यह पुण्य कर्म पुरुषों को समस्त अघटित और दूरवर्ती भी अभीष्ट मनोरथों को स्वयमेव घटित कर देता है, इस में कोई संशय नहीं है ॥95॥

तब उस चन्दना सती ने परम भक्ति के साथ नव प्रकार के पुण्यों से युक्त होकर **अर्थ**ात् नवधा भक्तिपूर्वक विधि से हर्षित होते हुए श्री महावीर प्रभु को वह उत्तम अन्नदान दिया ॥96॥

इस महान दान के प्रभाव से उसी समय उपार्जित पुण्य के द्वारा वह पंचाश्चर्यों को प्राप्त हुई और तभी बन्धुओं के साथ उसका संयोग भी हो गया। अहो, पुण्य से क्या नहीं प्राप्त होता है ॥97॥

उस चन्दना का सुदान के प्रभाव से चन्द्रमा के समान निर्मल यश जगत् में व्याप्त हो गया और इष्ट बन्धुजनों और इष्ट वस्तुओं का भी संगम हो गया ॥98॥

अथानन्तर वर्धमान भगवान् भी महीतल पर विहार करते हुए मौन धारण कर छद्मस्थभाव के साथ क्रम से बारह वर्ष बिताकर जृम्भि का ग्राम के बाहर स्थित मनोहर वन के मध्य में ऋजुकूलानदी के किनारे महारत्नशिलातल पर शालवृक्ष के नीचे प्रतिमायोग को धारण कर, बेला का नियम लेकर ज्ञान की सिद्धि के लिए ध्यानावस्थित हुए ॥99-101॥

उस समय अट्ठारह हजार शीलों के समूहरूप कवच को धारण कर, चौरासी लाख उत्तम सद्-गुणरूप भूषणों से भूषित होकर, महाव्रतादि अनुप्रेक्षाभावनारूप वस्त्र से मण्डित होकर, संवेगरूपी गजेन्द्र पर आरूढ़ होकर, चारित्ररूपी रणभूमि में अवस्थित होकर, रत्नत्रयरूप महाबाणों को और तपरूप धनुष को हाथ में लेकर, ज्ञान-दर्शन के द्वारा सन्धान को साधकर, गुप्ति आदि सेना से वेष्टित होकर, इसी प्रकार की अन्य सर्व सामग्री से अलंकृत हो वे महासुभट महावीर प्रभु अति रौद्र कर्म-शत्रुओं को शीघ्र विनाश करने के लिए उद्यत हुए ॥ 102-105॥ उस समय उन्हों ने सर्वप्रथम मोक्षप्राप्ति के लिए सिद्धों के गुणों के इच्छुक होकर कर्म-शत्रुओं के हनन करनेवाले निष्कल परमात्मा सिद्धों के क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त महावीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ उत्तम महागुणों का ध्यान करना प्रारम्भ किया। जो जीव सिद्धों के उक्त गुणों को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उन्हें नित्य ही उक्त गुणों का ध्यान करना चाहिए ॥106-108॥

पुनः महाबुद्धिशाली महावीर ने निर्मल चित्त से आज्ञाविचय आदि परम उत्कृष्ट धर्मध्यान के भेदों का चिन्तन करना प्रारम्भ किया ॥109॥

उस समय उनके आद्य अनन्तानुबन्धी चार कषाय, दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियाँ, तिर्यगायु, देवायु और नरकायु ये दश प्रकृतिरूप कर्मशत्रु डर करके ही मानो बिना प्रयत्न के स्वयं ही शीघ्र विनाश को प्राप्त हो गये। जब कि वीरजिन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान में विराजमान थे ॥110-111॥

उक्त दश कर्मप्रकृतियों के जीत ने से विजय को प्राप्त वे महावीर भगवान् उत्तम सुभट के समान अत्यन्त पवित्र शुक्लध्यानरूप महान आयुध को धारण कर शेष कर्मशत्रुओं को हनन करने के लिए उद्यत होते हुए मोक्ष-महल में पहुँच ने के लिए नसैनी स्वरूप क्षपकश्रेणी पर शीघ्र चढ़े ॥112-113॥

क्षपकश्रेणी पर चढ़ते ही वीर जिन ने स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन अरिसंचयस्वरूप सोलह अशुभ दुष्ट प्रकृतियों को अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थान के प्रथम भाग में स्थित रहते हुए उत्तम सुभट के समान प्रथम शुक्लध्यानरूपी खड्ग के द्वारा एक साथ ही स्वयं नाश कर दिया ॥114-117॥

पुनः उन्हों ने इसी नवम गुणस्थान के द्वितीय भाग में चारित्र की घात करनेवाली दूसरी अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और तीसरी प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इन आठ कषायों को विनष्ट किया। पुनः तीसरे भाग में नपुंसकवेदको, चौथे भाग में स्त्रीवेदको, पाँचवें भाग में हास्यादि छह नोकपायोंको, छठे भाग में पुरुषवेदको, सातवें भाग में संज्वलन क्रोधको, आठव भाग में संज्वलन मान को और नवे भाग में संज्वलन माया को उन समर्थ आत्मस्वरूप के धारक वीर प्रभ ने उसी प्रथम शक्लध्यानरूप : द्वारा विनष्ट किया ॥118-120॥

तत्पश्चात् कर्म शत्रुओं की उक्त सन्तान के विनाश करने से बलवान् वीरजिन ने परम विजयभूमि के समान दशम गुणस्थान को प्राप्त होकर सूक्ष्म साम्पराय संयमी होते हुए संज्वलन सूक्ष्म लोभ का भी विनाश कर चौथे संयम के द्वारा वे क्षीणकषायी हो गये ॥121-122॥

इस प्रकार अद्भुत पराक्रमशाली वीरजिन कर्मों के स्वामी प्रबल मोह महाशत्रु का उस की सेना के साथ विनाश कर शूराप्रणी के समान शोभा को प्राप्त हुए ॥123॥

इस के पश्चात् वे जिनराज क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान में चढ़कर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य को प्राप्त करने के लिए उद्यत हुए ॥ 124॥

तब उन्हों ने इस बारहवे गुणस्थान के चरम समय में निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियों का द्वितीय शुक्लध्यान से क्षय किया ॥125॥

पुनः ज्ञान के ऊपर वस्त्र के समान आवरण डालनेवाली पाँचों ज्ञानावरण प्रकृतियोंको, चक्षुदर्शनावरणादि शेष चार दर्शनावरण प्रकृतियों को और पाँचों अन्तरायों को इन चौदह कर्मप्रकृतियों को बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा तीन जगत् के गुरु महावीर प्रभु ने एक साथ विनष्ट किया और इस प्रकार तिरेसठ कर्मप्रकृतियों का विनाश करके लोकालोक के तत्त्वों का प्रकाशक, अनन्त महिमा से युक्त, और मुक्तिरूप साम्राज्य की प्राप्ति का कारण अनन्त केवलज्ञान वैशाख मास की शुक्लपक्ष की दशमी के अपराह्न काल में हस्त और उत्तरा नक्षत्र के मध्य में शुभचन्द्रयोग के समय शुभलग्न योगादि के होने पर उन्हों ने प्राप्त किया ॥126-130॥

उसी समय मोक्ष को देनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात संयम, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदशन, उत्तम अनन्त दान लाभ भोग उपभोग और अनन्तवीर्य इन उपमारहित नव केवललब्धियों को जिनों में अग्रणी वीरप्रभ ने स्वीकार किया ॥131-132॥। इस प्रकार चारित्र के प्रभाव से भगवान के कर्मशत्रुओं के जीत लेने पर आकाश में उसी समय देवसमूह के द्वारा जय-जयकार शब्द व्याप्त हो गया। तथा देवदुन्दुभियों के शब्दों से आकाश व्याप्त हो गया। भगवान् की दर्शन-यात्रार्थ आनेवाले भुवनपति-देवों के विमानों से आकाश आच्छादित हो गया ॥133॥

केवललक्ष्मी के प्रभाव से आकाश से सघन पुष्पवृष्टि होने लगी और देवेन्द्रों ने आकर उन श्रीपति महावीर जिनेन्द्र को अनुपम परम भक्ति से नमस्कार किया । उस समय आठों ही दिशाएँ मल-विकार से रहित (निर्मल) हो गयीं और आकाश भी निर्मल हो गया ॥134॥

उस समय मृदु शीतल समीर मन्द-मन्द बह ने लगी और सभी देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। तभी यक्षराज ने आकर अनन्त गुणों के निधान श्रीवर्धमान जिनेन्द्र की भक्ति से शीघ्र समवसरण विभूति की रचना की ॥135॥ इस प्रकार यहाँ पर जिन्हों ने खोटे धातिया कर्मशत्रुओं को मार करके अनुपम, अनन्त क्षायिक गुण-समूह के साथ कैवल्यराज्य-लक्ष्मी को प्राप्त किया, जो संसार के समस्त सज्जनों को अतुल आनन्द के विस्तारनेवाले हैं, भव्य जनों में अद्वितीय चूडामणिरत्न के समान हैं, तीनों लोकों के तार ने में एक मात्र कुशल हैं, ऐसे

श्रीवीरजिनेन्द्र की मैं उन की विभूति पा ने के लिए स्तुति करता हूँ ॥136॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीतिविरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला तेरहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥ 13॥

## चौदहवाँ-अधिकार

समवशरण रचना

कथा :

इत्या तीन जगत् के नाथ, अज्ञानरूप अन्धकार के नाशक, केवलज्ञानरूप सूर्य से समस्त पदार्थों के दर्शक श्रीवीर भगवान की मैं वन्दना करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर वीरप्रभु के केवलज्ञान की उत्पत्ति के प्रभाव से देवलोक में समुद्र की गर्जना को भी जीतनेवाला, घण्टाओं से स्वयं उत्पन्न हुआ अद्भुत मधुर नाद हुआ ॥2॥

देवगज अपनी सुंडों में कमलों को लेकर और उन्हें आधी ऊपर उठाकर चलते हुए पर्वत के समान स्वर्ग में सानन्द नाच ने लगे ॥3॥

देवलोक के कल्पवृक्षों ने पुष्पांजलि के समान पुष्पवृष्टि की। सर्व दिशाएँ रज-रहित हो गयीं और आकाश निर्मल हो गया ॥4॥

भगवान् की केवलोत्पत्ति के उत्सव में इन्द्रों के गर्व को सह ने में असमर्थ होकर मानो देवेन्द्रों के सिंहासन सहसा काँप ने लगे ॥5॥

सुरेन्द्रों के मुकुट स्वयं ही नम्रीभूत हो गये । इस प्रकार स्वर्ग में भगवान् के केवलोत्पत्ति के सूचक आश्चर्य हुए ॥6॥

इन तथा इसी प्रकार के अन्य चिह्नों से भगवान् के केवलज्ञान के उदय को जानकर इन्द्रगण अपने-अपने आसनों से उठकर हर्पित होते हुए धर्मोत्सुक भगवद्-भक्ति से नम्रीभूत हो गये ॥7। उस समय ज्योतिष्क लोक में महान् अद्भुत सिंहनाद हुआ । तथा स्वर्ग के समान सिंहासनों का कम्पन आदि सर्व आश्चर्य हुए ॥8॥

भवनवासी देवों के भवनों में शंखों की महाध्वनि हुई और मुकुट नम्रीभूत होना तथा आसनों का कँपना आदि शेष समस्त आश्चर्य हुए ॥9॥

व्यन्तरों के निलयों में भेरियों का भारी शब्द स्वयं होने लगा और भगवान् के केवलज्ञान की प्राप्ति के सूचक शेष सर्व आश्चर्य हुए ॥10॥

इन सब आश्चर्यों से सर्व देव और इन्द्रगणों ने वीरप्रभु के केवलज्ञानरूप नेत्र को प्राप्त हुआ जानकर ज्ञानकल्याणक मनाने का विचार किया ॥11॥

तब आदि सौधर्मकल्प का स्वामी शकेन्द्र प्रस्थान-भेरियों को उच्च स्वर से बजवाकर सर्व देवों से आवृत हो भगवान् के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकला ॥12॥

तब बलाहक नामक आभियोग्य जाति के देव ने जम्बूद्वीपप्रमाण एक लाख योजन विस्तृत, रमणीक, मुक्तामालाओं से शोभित, किंकिणी (छोटी घण्टियों ) के शब्दों से मुखरित, तेज से सर्व दिशाओं के मुखों को व्याप्त करनेवाला, सर्वमनोरथों का पूरक ऐसा नानारत्नमयी बलाहकाकार दिव्य विमान बनाया ॥13-14॥

उसी समय नागदत्त नाम के आभियोग्य देवों के स्वामी ने एक विशाल ऐरावत हाथी को बनाया, जो उन्नतवंश का था, विशाल कायवाला था, जिस का मस्तक गोलाकार और उन्नत था, जो सात्त्विक प्रकृति का था, बलशाली था, दिव्य व्यंजन और लक्षणों से युक्त था, तिर्यग्लोक जैसे लम्बे, मोटे, विशाल अनेक करों ( शुण्डादण्डों) को धारण करनेवाला था, गोल शरीरवाला, महाउत्तुंग, इच्छानुसार गमन करनेवाला, इच्छानुसार अनेक रूप बनानेवाला था। जिस का सुगन्धित दीर्घ श्वासोच्छ्वास था, दीर्घ ओठ थे, दुन्दुभि के समान शब्द करनेवाला था, रमणीक था, जिस के दोनों कानों पर चामर शोभित हो रहे थे, जिस के दोनों ओर महाघण्टा लटक रहे थे, जिस के गले में सुन्दर माला अंकित थी, नक्षत्रमाला की शोभा से युक्त था, सुवर्णमयी सिंहासन से शोभित था, जम्बूद्वीप प्रमाण विस्तृत था, देदीप्यमान था, अपने श्वेत वर्ण से समस्त दिशाओं के मुखों को श्वेत कर रहा था, मद झर ने से जिस का सर्व अंग लिप्त था, जो चलते हुए पर्वत के समान ज्ञात होता था, ऐसा विक्रियाऋद्धिमय ऐरावत नामक ओजस्वी नागेन्द्र को उस ने अपनी विक्रिया ऋद्धि से बनाया ॥15-20॥

उस ऐरावत गज के बत्तीस मुख थे, एक-एक मुख में आठ-आठ दन्त थे, एक-एक दन्त के प्रति जल से पूर्ण एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनी में बत्तीस बत्तीस कमल खिल रहे थे, प्रत्येक कमल में बत्तीस रमणीक पत्र थे, उन विस्तृत पत्रों पर दिव्यरूप धारिणी मनोहर, लय के साथ स्मितमुख और ललित भ्रुकुटिवाली, मृदङ्ग, गीत, ताल आदि के साथ,

विक्रियामय अंगों से रस-पूरित बत्तीस-बत्तीस देव-नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं ॥21-24॥
इत्यादि वर्णन से युक्त उस गजराज पर इन्द्राणी के साथ बैठा अपने शरीर के भूषणों की किरणों से और विभूति से तेजों के निधान के समान श्रीवर्धमानस्वामी के केवलज्ञान की पूजा के हेतु जाता हुआ वह अतिपुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥ 25-26॥
प्रतीन्द्र भी अपने वाहन पर आरूढ़ होकर अपने परिवार से संयुक्त हो महाविभूति और महाभक्ति से सौधर्मेन्द्र के साथ निकला ॥27॥
जो आज्ञा और ऐश्वर्य के सिवाय शेष सब गुणों में इन्द्र के समान हैं, ऐसे चौरासी हजार सामानिक देव भी हर्ष से निकले ॥28॥
पुरोहित, मन्त्री और अमात्यों के समान तैंतीस त्रायस्त्रिंश देव भी पुण्य-प्राप्ति के लिए इन्द्र के समीप आये ॥29॥
बारह हजार देवों से युक्त आभ्यन्तर परिषद्, चौदह हजार देवों से संयुक्त मध्यम परिषद् और सोलह हजार देवों सहित बाह्य परिषद् ने आकर उस सुरेन्द्र सौधर्मेन्द्र को घेर लिया। **अर्थ**ात् तीनों सभाओं के उक्त संख्यावाले सभी देव ज्ञानकल्याणक की पूजा करने के लिए सौधर्मेन्द्र के समीप आये ॥30-31॥
शिरोरक्षक के समान तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव उसी समय सौधर्मेन्द्र के समीप आये ॥32॥
दुर्गपाल के समान लोकान्त तक स्वर्ग की पालना करनेवाले लोकपाल देव भी अपने परिवार के साथ सर्व दिशाओं को मण्डित करते हुए उस को चारों ओर से घेरकर आ खड़े हुए ॥33॥
इन्द्र की प्रथम वृषभसेना के चौरासी लाख दिव्यरूप के धारक उत्तम बैल इन्द्र के आगे चलने लगे ॥34॥ इन से द ने बैल वृषभों की दूसरी सेना में थे, उन से दू ने बैल वृषभों की तीसरी सेना में थे। इस प्रकार सातवीं वृषभ सेना तक दूने-दू ने प्रमाणवाले, नाना वर्णों के धारक सुन्दर बैल इन्द्र के आगे चलने लगे ॥35-36॥
बैलों की सातों सेनाओं की संख्या के समान ही प्रमाणवाली घोड़ों की सात सेनाएँ उनके पीछे-पीछे चलीं। उनके पीछे मणिमयी दीप्रियुक्त रथ, पर्वत के समान विशाल गज, उद्यम के साथ चलनेवाले शीघ्रगामी पैदल सैनिक, दिव्य कण्ठवाले और श्रीजिनोत्सव के गीत गानेवाले गन्धर्व, और जिनेन्द्र सम्बन्धी गीत-वाद्यों के साथ नाचती हुई देव-नर्तकियाँ ये सब क्रम से अपनी-अपनी उक्त संख्यावाली सात-सात कक्षाओं के साथ आगे-आगे चलने लगे ॥37-39॥
पुरवासी लोगों के सदृश असंख्यात प्रकीर्णक देव, दास के समान कार्य करनेवाले आभियोग्य जाति के देव और प्रजा से बाहर रहनेवाले बहुत- से किल्विपिक देव भक्ति से सौधर्मेन्द्र के साथ उस महोत्सव में आगे-आगे चल रहे थे ॥40-41। धर्मबुद्धिवाला ऐशानेन्द्र भी भक्ति के साथ अपनी विभूति से युक्त होकर अश्ववाहन पर आरूढ़ हो सौधर्मेन्द्र के साथ निकला ॥42॥
मृगराज (सिंह) के वाहन पर चढ़कर सनत्कुमारेन्द्र और दिव्य वृषभ पर चढ़कर माहेन्द्र भी सर्व सामग्री के साथ निकला ॥43॥
कान्ति युक्त सारस पर आरूढ होकर देवों से घिरा हुआ ब्रह्मेन्द्र, हंसवाहन पर आरूढ़ होकर महर्द्धिक लान्तवेन्द्र, दीप्त शरीरवाले गरुड़ पर आरूढ़ और देवों से घिरा हुआ शुक्रेन्द्र भी अपने सामानिकादि देवों से तथा देवियों से युक्त होकर भगवान् की पूजा के लिए निकले ॥ 44-45॥
अपने आभियोग्य देव से निर्मित मयूर वाहन पर चढ़कर शतारेन्द्र भी अपने देव और देवी-परिवार के साथ निकला ॥46॥
आनतेन्द्र आदि शेष चार कल्पों के स्वामी इन्द्र भी अपने-अपने देवपरिवारों के साथ पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर भगवान के ज्ञानकल्याणक के लिए निकले ॥47॥ इस प्रकार बारह कल्पों के इन्द्र अपने बारहों प्रतीन्द्रों से संयुक्त होकर अपनी-अपनी विभूति के साथ अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर भेरी आदि के महानादों से समस्त दिशाओं को परित करते, अपने भूषणों की कान्तिपूज से आकाश में इन्द्रधनष की शोभा को विस्तारते, कोटिकोटि ध्वजा और छत्रों से नभोभाग को आच्छादित करते, जय-जीव आदि शब्द-समूहों से दिशाओं को बधिर करते स्वर्ग से धीरे-धीरे उतरकर गीत नृत्य वादित्र आदि के साथ सैकड़ों उत्सवों को करते हुए ज्योतिषी देवों के पटल को प्राप्त हुए ॥48-51॥
तब ज्योतिष्क पटल के सभी असंख्यात चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागण अपनी-अपनी विभूति से मण्डित होकर धर्मानुराग के रस से व्याप्त हो, अपनी-अपनी देवियों से युक्त हो जिनकल्याण की सिद्धि के लिए उक्त कल्पवासी देवों के साथ भूतल की ओर चले ॥52-53॥
उसी समय असुरकुमारादि दश जाति के भवनवासी देवों के 1 चमर, 2 वैरोचन, 3 भूतेश, 4 धरणानन्द, 5 वेणुदेव, 6 वेणुधारी, 7 पूर्ण, 8

अवशिष्ट, 9 जलप्रभ, 10 जलकान्ति, 11 हरिषेण, 12 हरिकान्त, 13 अग्निशिखी, 14 अग्निवाहन, 15 अमितगति, 16 अमितवाहन, 17 घोष, 18 महाघोष, 19 वेलंजन, और 20 प्रभंजन ये बीस इन्द्र और बीस ही उनके प्रतीन्द्र अपनी-अपनी विभूति, वाहनास तथा अपनी-अपनी देवियों से संयुक्त होकर भूमि को भेदन कर भगवान की पूजा के लिए इस महीतल पर आये ॥54-58॥

उसी समय किन्नर आदि आठों जाति के व्यन्तर देवों के 1 किन्नर, 2 किम्पुरुष, 3 सत्पुरुष, 4 महापुरुष, 5 अतिकाय, ६.महाकाय, 7 गीतरति, 8 रतिकीर्ति (गीतयश ), 9 मणिभद्र, 10 पूर्णभद्र, 11 भीम, 12 महाभीम, 13 सरूप, 14 प्रतिरूप, 15 काल और 16 महाकाल ये सोलह अद्भुतरूपधारी इन्द्र अपने सोलहों प्रतीन्द्रों के साथ अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ होकर अपनी-अपनी परम सामग्री से भूषित और अपने-अपने देव-देवी परिवार से आवृत होकर भूभाग को भेदन करके ज्ञानकल्याणक करने के लिए इस भूतल पर आये ॥ 59-63॥

ये चारों देवनिकायों के स्वामी, अपनी इन्द्राणियों और देवों से भूषित, निमेष-रहित उत्तम नेत्रों के धारक, परम आनन्दशाली, कर-कमलों को जोड़े, जय, नन्द आदि मांगलिक शब्दों को बोलते श्रीवीर प्रभु को देखने के लिए उत्सुक अतएव शीघ्र गमन करते हुए यहाँ पर आये ॥ 64-65॥

और उन्हों ने समस्त ऋद्धियों से परिपूर्ण, रत्न किरणों से दिङ्मुख को व्याप्त करनेवाले, देदीप्यमान ऐसे भगवान् के समवशरण मण्डल को दूर से देखा ॥66॥

कुबेर आदि महाशिल्पियों के द्वारा निर्मित जगद्गुरु के उस समवशरण की रचना को कहने के लिए गणधरदेव को छोड़कर और कौन समर्थ हो सकता है ॥67। तो भी भव्य जीवों के धर्म-प्रेम की सिद्धि के लिए अपनी शक्ति के अनुसार उस समवशरण का कुछ वर्णन करता हूँ ॥ 68। वह समवशरण गोलाकार एक योजन विस्तारवाला था, उसका प्रथमपीठ उत्तम इन्द्रनीलमणियों से रचा गया था, अतः वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥69॥

हे भव्यो, वह बीस हजार मणिमयी सोपानों ( सीढ़ियों) से विराजित था और भूतल से अढ़ाई कोश ऊपर आकाश में अवस्थित था ॥70॥

उसके किनारे के भूभाग के सर्व ओर अतिदीप्तिमान , रत्नधूलि से निर्मित विशाल धूलिशाल नाम का पहला परकोटा था ॥71॥

वह कहीं पर विद्रुम (मूंगा ) की सुन्दर कान्तिवाला था, कहीं सुवर्ण आभावाला था, कहीं अंजन पुंज के समान काली आभावाला था और कहीं पर शुक ( तोता) के पंखों के समान हरे रंगवाला था ॥72॥

कहीं पर नाना प्रकार के रत्न और सुवर्णोत्पन्न धूलि के तेज-पुंज से आकाश में इन्द्रधनुषों की शोभा को विस्तारता अथवा हँसता हुआ शोभित हो रहा था ॥73॥

उस की चारों दिशाओं में दीप्ति-युक्त सुवर्णस्तम्भों के अग्र भाग पर मकराकृति मणिमालावाले , चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे ॥74॥

उसके भीतर कुछ दूर चलकर वीथियों की मध्यभमि में पजन-सामग्री से पवित्रित चार वेदियाँ थीं ॥75॥

वे चार गोपुरद्वारों से संयुक्त, तीन प्राकारों ( कोटों ) से वेष्टित, सुवर्णमयी सोलह सीढ़ियों से भूषित, देदीप्यमान और मन को हरण करनेवाली थीं ॥76। उन वेदियों के मध्यभाग में जिनेन्द्रदेव की प्रतिमासहित, मणियों की कान्ति और पूजनसामग्री से युक्त चार ऊँचे पीठ (सिंहासन ) शोभायमान थे॥७७। उन पीठों के मध्य में चार और छोटे पीठ थे जो उत्तम शोभासे, मणियों की कान्ति से और दिव्य तीन मेखला-(कटिनी-) युक्त शोभित हो रहे थे ॥78॥ उनके मध्य में चमचमाते सुवर्ण से निर्मित, मध्यभाग में जिनप्रतिमा से युक्त, शिखर पर तीन छत्रों से शोभित, ध्वजा, घण्टा आदि से युक्त, उन्नत, मिथ्यादृष्टियों के मान-खण्डन से सार्थक नामवाले चारों दिशाओं की वेदियों पर चार मानस्तम्भ थे, जिन के समीप देव-देवांगनाएँ गीत-नृत्य करती हुई चामर ढोर रही थीं ॥79-88॥ उन मानस्तम्भों के समीपवाली भूमि पर चारों दिशा में मणिमयी सीढ़ियों से मनोहर, जलभरी और कमलों से युक्त ऐसी चार वापियाँ थीं ॥8॥

उन वापियों के नन्दा, नन्दोत्तरा आदि नाम थे, वे अपने जल-तरंगरूपी हाथों से नाचती हुई सी, और कमलों पर भौरों की गुंजार से गाती हुई के समान अत्यन्त शोभित हो रही थीं ॥82॥

उन वापियों के किनारों पर जल से भरे हुए कुण्ड विद्यमान थे, जो भगवान् की वन्दना-यात्रा के लिए आनेवाले भव्य जीवों के पाद-प्रक्षालन के लिए बनाये गये थे ॥83॥

वहाँ से थोड़ी दूर आगे चलकर वीथी (गली) थी और वीथी-धरा को घेरकर अवस्थित, जल से भरी, कमलों के समूहों और भौरों से व्याप्त

खाई थी ॥84॥

वह खाई पवन के आघात से उत्पन्न हुई तरंगों से और तरंग-जनित शब्दों से भगवान के ज्ञानकल्याणक के महोत्सव में नृत्य करती और गाती हुई सी शोभित हो रही थी ॥85॥

उसके भीतर के भूभाग को उत्तम लताओं का वन घेरे हुए था और वह लतावन अनेक प्रकार की वेलों, गुल्मों और वृक्षों में लगे हुए सर्व ऋतुओं के फूलों से संयुक्त था ॥86॥

वहाँ पर रमणीक अनेक क्रीड़ा करने के पर्वत थे, जो उत्तम शय्याओंसे, लतामण्डपों से और पुष्प-समूह से व्याप्त थे और जो देवांगनाओं के क्रीड़ा-कौतूहल एवं विश्राम के लिए बनाये गये थे ॥8। उन पर्वतों पर लताभवनों के भीतर देवेन्द्रों के विश्राम के लिए शीतल और मनोहर चन्द्रकान्तमयी शिलाएँ रखी हुई थीं ॥88॥

उन पर्वतो पर अशोक आदि के ऊँचे महावृक्षों से और उनके पुष्पों पर भौरों की गुंजारों से युक्त फलशाली, अतीव सुन्दर प्रियवन शोभायमान था ॥89॥

उसके आगे कुछ दूर चलकर महीतल को घेरे हुए, सुवर्णमयी महान् उन्नत प्रथम प्राकार था ॥90॥

उस प्राकार के ऊपर, नीचे और मध्यभाग में मोती लगे हुए थे, जिन के द्वारा शोभायुक्त वह मनोहर प्राकार ताराओं की परम्परा की शं का को धारण कर रहा था ॥9॥

वह प्राकार कहीं पर विद्रम की कान्ति से यक्त था, कहीं पर नवीन मेघ की छवि को धारण कर रहा था, कहीं पर इन्द्रगोप जैसी लाल शोभा से युक्त था और कहीं पर इन्द्रनीलमणि की नीली कान्ति को धारण कर रहा था ॥92॥

कहीं पर नाना प्रकार के रत्नों की किरणों से महान इन्द्रधनुष की शोभा को विस्तार रहा था और कहीं पर अनेक वर्णवाले रत्नों की किरणों से युक्त होकर बिजली की शोभा दिखा रहा था ॥23॥

वह समस्त प्राकार हाथी, व्याघ्र, सिंह, हंस आदि प्राणियों, मनुष्यों और मयूरों के जोड़ोंसे, तथा वेलों के समूहों से हँसते हुए के समान शोभायमान था ॥94॥

इस प्राकार की चारों दिशाओं में तीन भूमियों ( खण्डों) वाले विशाल रजतमयी चार गोपुर शोभित थे, जो अपने तेज से हँसते हुए के समान प्रतीत हो रहे थे ॥95॥

वे गोपुर पद्मरागमयी, ऊँचे आकाश को उल्लंघन करनेवाले शिखरों से ऐसे शोभित हो रहे थे मानो महामेरु के उन्नत शिखर ही हों ॥१६॥

उन शिखरों पर कितने ही गन्धर्व देव तीर्थश्वर के गुणों को गा रहे थे, कितने ही उन गुणों को सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही तीर्थंकर देव की आराधना कर रहे थे ॥97। प्रत्येक गोपुर पर भृङ्गार, कला, दर्पण आदि आठों जाति के मंगलद्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ की संख्या में विराजमान थे ॥98॥

प्रत्येक गोपुर द्वार पर नाना प्रकार के रत्नों की कान्ति से गगनांगण को चित्र-विचित्र करनेवाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥99॥

उन तोरणों में लगे हुए आभूषण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो स्वभाव से ही प्रकाशमान प्रभु के शरीर में रह ने के लिए अवकाश को न पाकर वे अब तोरणों को व्याप्त करके अवस्थित हैं ॥100। उन द्वारों के समीप रखी हुई शंख आदि नवों निधियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो जिनेन्द्रदेव के द्वारा वैराग्य से तिरस्कृत होकर द्वार पर ही ठहरकर भगवान की सेवा कर रही हैं ॥101। इन गोपुर द्वारों के भीतर एक-एक महावीथी थी, जिस के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएँ थीं। इस प्रकार चारों दिशाओं में दोदो महानाट्यशालाएँ थीं ॥102॥

तीन भ मियों ( खण्डों) से युक्त, ऊँचे वे नाट्यमण्डप ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो सज्जनों को मुक्ति का रत्नत्रयस्वरूप त्रिधात्मक मार्ग कहने के लिए उद्यत है ॥103॥

उन नाट्यमण्डपों के विशाल स्तम्भ सुवर्णमयी थे, उन की भित्तियाँ निर्मल स्फटिक मणिमयी थीं। उन मण्डपों के भीतर उत्तम अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं ॥104॥

कितनी ही देवियाँ वीगा के साथ प्रभु के विजय का गान कर रही थीं और कितने ही दिव्य कण्ठवाले गन्धर्व भगवान् के कैवल्यप्राप्ति से उत्पन्न हुए गुणों को गा रहे थे ॥105॥

उन वीथियों की दोनों दिशाओं में दो-दो धूपघट थे, जिन के धूप की सुगन्धी को विस्तारनेवाले धुएँ के द्वारा गगनांगण सुगन्धित हो रहा था ॥

106। उसके आगे कुछ दूर चलकर वीथियों के मध्य में चार वनवीथियाँ थीं, जो सर्व ऋतु के फल-फूलों से युक्त दूसरे नन्दनादि वनों के समान मालूम पड़ती थीं ॥107॥ उन बनवीथियों में अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षों के वन थे, जो कि अति उन्नत वृक्षसमूहों से शोभित हो रहे थे ॥108॥

उन वनों के मध्यभाग में जल से भरी हुई वापियाँ थीं और कहीं पर तिकोन और चतुष्कोनवाली पुष्करिणियाँ थीं ॥109॥

उन वनों में कहीं पर सुन्दर भवन थे, कहीं पर सुन्दर क्रीडामण्डप थे, कहीं पर दर्शनीय प्रेक्षागृह थे और कहीं पर उन्नत शोभायुक्त चित्रशालाएँ थीं ॥110॥

कहीं पर एक खण्डवाले और कहीं पर दो खण्डवाले देदीप्यमान प्रासादों की पंक्तियाँ थीं, कहीं पर क्रीडास्थल थे और कहीं पर कृत्रिम पर्वत थे ॥111॥

वहाँ अशोक वन के बीच में अशोक नाम का चैत्यवृक्ष था, जिस का पीठ रम्य, सुवर्णमयी तीन मेखलाओंवाला था और वह चैत्यवृक्ष बहुत ऊँचा था ॥112॥

चैत्यवृक्ष तीन शालों ( कोटों) से वेष्टित था, प्रत्येक शाल में चार-चार गोपुर द्वार थे। वह चैत्यवृक्ष तीन छत्रों से युक्त था और उसके शिखर पर शब्द करता हुआ अतिसुन्दर घण्टा अवस्थित था ॥113॥

वह चैत्यवृक्ष ध्वजा, चामर आदि मंगल द्रव्यों से और श्री जिनदेव की प्रतिमा आदि से युक्त था, देवगण जहाँ पर पूजन कर रहे थे और वह जम्बूवृक्ष के समान उन्नत था ॥114॥ इस चैत्यवृक्ष के ऊपर चारों दिशाओं में दीप्तियुक्त श्री जिनमर्तियाँ थीं, जहाँ पर आकर अपने पुण्योपार्जन के लिए देवेन्द्र महान् द्रव्यों से उन की पूजा कर रहे थे ॥115। इसी प्रकार शेष वनों में भी देवों से पूजित, छत्रचामर और अहत्प्रतिमाओं से युक्त रमणीय सप्तपर्णादि चैत्यवृक्ष थे ॥116॥

माला, शुक, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, हाथी और चक्र इन दश चिह्नों की धारक दिव्य रूपवाली ऊँची ध्वजाएँ फहराती हुई ऐसी ज्ञात होती थीं मानो मोह-शत्रु को जीत ले ने से उपार्जित प्रभु के तीन लोक के ऐश्वर्य को एकत्रित करने के लिए उद्यत हुई हो ॥ 117-118॥

एक-एक दिशा में प्रत्येक चिह्नवाली एक सौ आठ रमणीय ध्वजाएँ जानना चाहिए। वे ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो आकाशरूप समुद्र की तरंगें ही हों ॥119॥

उन ध्वजाओं के पवन से हिलते और चारों ओर घूमते हुए वस्त्र ऐसे मालूम होते थे मानो जिनराज के पूजन के लिए जगत् के जनों को बुला ही रहे. हों ॥120॥

उन दश चिह्नवाली ध्वजाओंमें- से माला चिह्नवाली ध्वजाओं में रमणीक फूलों की मालाएँ लटक रही थीं। वस्त्र-चिह्नवाली ध्वजाओं में सूक्ष्म चिक ने वस्त्र लटक रहे थे ॥12॥ इसी प्रकार मयूर आदि चिह्नवाली ध्वजाओं में देव-शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर मूर्तिवाले मयूर आदि शोभित हो रहे थे ॥122॥

वे ध्वजाएँ एक-एक दिशा में एक हजार अस्सी ( 1080) थीं और चारों दिशाओं की मिलाकर चार हजार तीन सौ बीस (4320) थीं ॥ 123॥

उस से आगे चलकर भीतरी भूभाग में चाँदी से बना हुआ, लक्ष्मीयुक्त दूसरा महान् शाल ( कोट ) था, जिस का वर्णन प्रथम शाल के समान ही जानना चाहिए ॥124॥

इस शाल में भी पूर्वशाल के समान ही रजतमयी गोपुर द्वार थे और वहाँ पर आभूषणों से युक्त बड़े-बड़े तोरण थे ॥125॥

यहाँ पर भी पूर्व के समान नवनिधियाँ, अष्टप्रकार के मंगलद्रव्य, दो-दो नाट्यशालाएँ और दो-दो धूपघट महावीथी के दोनों ओर थे॥१२६॥

उन दोनों नाट्यशालाओं में गीत-नृत्य आदि तथा शेष समस्त विधि भी प्रथम शाल के समान जानना चाहिए ॥127। इस से आगे वीथी के अन्तराल में नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा से शोभित कल्पवृक्षों का एक देदीप्यमान वन था । जिस में दिव्य माला, वस्त्र, आभूपण आदि की सम्पदा से युक्त ऊंचे, फळवाले, और उत्तम छायावाल रमणीक कल्पवृक्ष शोभायमान हो रहे थे ॥128-129॥

उन्हें देखकर ऐसा ज्ञात होता था मानो देवकुरु और उत्तरकस ही अपने दश जाति के कल्पवृक्षों के साथ भगवान् की सेवा करने के लिए यहाँ पर आये हैं ॥130॥

उन कल्पवृक्षों के फल आभूषणों के समान, पत्ते वस्त्रों के समान, और शाखाओं के अग्रभाग पर लटकती हुई देदीप्यमान मालाएँ वट-वृक्ष की जटाओं के समान प्रतीत होती थीं ॥131॥

इन कल्पवृक्षोंमें- से ज्योतिरंग कल्पवृक्षों के नीचे ज्योतिष्क देव, दीपांग कल्पवृक्षों के नीचे कल्पवासी देव, और मालांग कल्पवृक्षों के नीचे भवनवासी इन्द्र क्रीड़ा करते हुए विश्राम कर रहे थे ॥132॥

इन कल्पवृक्षों के वन के मध्य में दिव्य सिद्धार्थ वृक्ष थे, जो कि सिद्ध प्रतिमाओं से अधिष्ठित और छत्र-चामरादि विभूति से विराजित थे ॥ 133॥

पूर्व में जो चैत्यवृक्षों का वर्णन किया गया है वह इन सिद्धार्थ वृक्षों में भी समझना चाहिए। किन्तु ये कल्पवृक्ष संकल्पित सभी उत्तम भोगों को देनेवाले थे ॥134॥ इन कल्पवृक्षों के वनों के चारों ओर एक रमणीक वनवेदि का थी जो कि सुवर्ण-निर्मित, रत्नों से जड़ी हुई और अति प्रभायुक्त थी॥१३५॥

उस वनवेदि का में मोतियों की लटकती हुई मालाओं के पुंज से और लटकते हुए घण्टा-समूह से युक्त रजतमयी चार उत्तम गोपुर द्वार थे ॥ 136॥

वे सब संगीत, वादित्र और नृत्योंसे, पुष्पमाला आदि अष्टमंगलद्रव्योंसे, ऊँचे शिखरों से तथा देदीप्यमान रत्नों के आभूषणवाले तोरणों से शोभित थे ॥137। उस से आगे वीथी के अन्तराल में सोने के स्तम्भों के अग्रभाग पर फहराती हुई अनेक प्रकार की ध्वजा पंक्तियाँ वहाँ की श्रेष्ठ भूमि को अलंकृत कर रही थीं ॥138॥

मणिमयी पीठों पर अवस्थित वे ध्वजस्तम्भ अपनी उन्नत शोभा से ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो स्वामी की कर्म-शत्रु की जीत को पुरुषों से कहने के लिए ही उद्यत हो रहे हैं ॥139॥

उन ध्वजास्तम्भों की मोटाई अठासी ( 88 ) अंगुल और स्तम्भों का पारस्परिक अन्तराल पचीस (25) धनुष गणधरों ने बताया है। समवशरण में स्थित सर्व मानस्तम्भ, ध्वजास्तम्भ, सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण-सहित प्राकार और वनवेदिकाएँ तीर्थ करके शरीर की ऊँचाई से बारह गुनी ऊँचाईवाली कही गयी हैं। इन का आयाम और विस्तार ज्ञानियों को इन के योग्य जान लेना चाहिए ॥140-142॥

समवशरण में स्थित वनोंकी, सर्व भवनों की तथा पर्वतों की ऊँचाई भी इतनी ही द्वादशांग श्रुत-सागर के पारगामी गणधर देवों ने कही है ॥ 143॥

पर्वत अपनी ऊँचाई से आठ गुणित विस्तीर्ण हैं, और स्तूपों की मोटाई उन की ऊँचाई से निश्चयतः कुछ अधिक है ॥144॥

विश्वतत्त्वों के ज्ञाता, देव-पूजित गणधरदेव वनवेदिकादि की चौड़ाई ऊँचाई से चौथाई कहते हैं ॥145॥

इस वन के मध्य में कहीं नदियाँ, कहीं वापियाँ, कहीं सिकता-(बालुका-) मण्डल, और कहीं पर सभागृह आदि थे ॥146॥

इन वनवीथी को घेरे हुए सुवर्णमयी, उन्नत और चार गोपुर द्वारों से भूषित वनवेदि का थी ॥147। इस के तोरणद्वार, मांगलिक द्रव्य, आभूषण सम्पदा, और गीत-नृत्य वादित्रादि की शोभा पूर्वोक्त वर्णन के समान ही जाननी चाहिए ॥148॥

इस के पश्चात् इस प्रतोली को उल्लंघन करके उस से आगे सर्व ओर एक और वीथी थी जो देव-शिल्पियों से निर्मित नाना प्रकार के प्रासाद-( भवन )-पंक्तियों से शोभित हो रही थी ॥149॥ उन प्रासादों के सुवर्णमयी महास्तम्भ थे, उनका वज्रमय अधिष्ठान बन्धन था, चन्द्रकान्तमणिमयी शिलावाली उन की दिव्य भित्तियाँ थीं और वे नाना प्रकार की मणियों से जड़ी हुई थीं ॥150॥

उस प्रासाद-पंक्ति में कितने ही भवन दो खण्डवाले, कितने ही तीन खण्डवाले और कितने चार खण्डवाले थे। कितने ही चन्द्रशाला (छत ) से युक्त थे और कितने ही वलभी (छज्जा और गेलेरी) से शोभित थे॥१५॥ देदीप्यमान, ऊँचे कूटानों से शोभित, अपने तेजकान्तिरूपी समुद्र के मध्य में अवस्थित वे प्रासाद ऐसे शोभा दे रहे थे, मानो चन्द्र की चन्द्रि का से ही निर्मित हुए हों ॥152॥

वे प्रासाद कूटागार, सभागृह, प्रेक्षणशाला, शय्या और आसनों से युक्त एवं उत्तुंग थे। उनके सोपान अपनी धवलिमा से आकाश को धवलित कर रहे थे ॥153॥

उन में गन्धर्व, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पन्नगदेव, तथा विद्याधर किन्नरों के साथ सदा क्रीड़ा कर रहे थे ॥154॥

उन में से कितने ही गीत-गायनोंसे, कितने ही वादित्र बजानेसे, कितने ही नृत्यों से और कितने ही धर्मगोष्ठी आदि के द्वारा जिनभगवान् की आराधना कर रहे थे ॥155॥

उन वीथियों के मध्य भूभाग में पद्मराग मणिमयी, नौ ऊँचे स्तूप थे जो सिद्ध और अरहन्तदेव की प्रतिमाओं के समूह से युक्त थे ॥156॥
इन स्तूपों के अन्तराल में नभोभाग को चित्र-विचित्रित करनेवाली मणिमयी तोरणमालिकाएँ इन्द्रधनुष के समान शोभित हो रही थीं ॥157॥

वे अर्हन्त-सिद्धों की प्रतिमासमूहसे, ध्वजा-छत्रादि सर्व सम्पदा से और अपने तेज से धर्ममूर्तियों के समान शोभायमान हो रही थीं ॥158॥

वहाँ पर जाकर भव्य जीव उन उत्तम प्रतिमाओं का अभिषेक कर, पूजन कर, प्रदक्षिणा देकर और स्तुति करके उत्तम धर्म का उपार्जन कर रहे थे ॥159॥

इस स्तूप और प्रासादों की पंक्ति से व्याप्त वीथीवाली भूमि का उल्लंघन कर उस से कुछ आगे अपनी स्फुरायमान शुभ्र ज्योत्स्ना से दिग्भाग को आलोकित करनेवाला, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमणिमयी एक शाल (प्राकार ) था। इस शाल के पद्मरागमणिमयी, ऊँचे दिव्य गोपुरद्वार शोभित हो रहे थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो भव्य जीवों का धर्मानुराग ही एकत्रित हो गया है ॥160-161॥

यहाँ पर भी पूर्व के समान ही मंगलद्रव्यसम्पदा, आभूषणयुक्त तोरण, नवों निधियाँ और गीत-वादित्र-नर्तन आदि सब साज-बाज थे ॥162॥

प्रत्येक गोपुर द्वार पर चामर, तालवृन्त, दर्पण, ध्वजा, और छत्रों के साथ प्रकाशमान सुप्रतिष्ठिक, श्रृंगार और कलश ये अष्ट मंगलद्रव्य शोभित हो रहे थे ॥163॥ उक्त तीनों ही शालों के द्वारों पर गदा आदि को हाथों में लिये हुए व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव क्रम से द्वारपाल बनकर खड़े हुए थे ॥164॥

वहाँ पर उक्त स्वच्छ स्फटिक मणिमयी शाल से लेकर पीठ-पर्यन्त लम्बी, चारों महावीथियों के अन्तराल के आश्रित सोलह भित्तियाँ थीं ॥165॥

उन स्फटिकमणिमयी भित्तियों के शिखर पर रत्नमयी स्तम्भों से उठाया हुआ, निर्मल रत्न-निर्मित, उत्तुंग श्रीमण्डप था ॥166॥

यह सत्यार्थ में श्रीमण्डप ही था, क्योंकि यह तीन जगत् की सर्वोत्कृष्ट श्री (लक्ष्मी) से भरपूर था और जहाँ पर आकर भव्यजीव अर्हन्तदेव की दिव्यध्वनि से स्वर्ग और मोक्ष की श्री को प्राप्त करते थे ॥167। उस श्रीमण्डप के मध्य में ऊँची प्रथम पीठि का अति शोभित हो रही थी, जो कि वैडूर्यरत्नों से निर्माण की गयी थी और अपने तेज से सर्व दिशाओं के मुखों को व्याप्त कर रही थी ॥16॥

उस प्रथम पीठि का के सर्व ओर सोलह अन्तराल-युक्त सोलह सोपानमार्ग थे। जिन में से चार सोपानमार्ग तो चारों दिशाओं में थे और बारह सोपानमार्ग बारह कोठों के प्रवेशद्वारों की ओर फैले हुए थे ॥169॥

इस प्रथम पीठि का को आठों मंगलद्रव्य अलंकृत कर रहे थे और यक्षदेव अपने मस्तकों पर धर्मचक्रों को धारण किये हुए खड़े थे। वे धर्मचक्र एक-एक हजार आरेवाले थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो अपनी किरणरूप वचन-समूह से जगत् के सज्जनों को धर्म का स्वरूप ही कह रहे हों, अथवा जिनदेव के आश्रय से हँस ही रहे हों ॥170-171॥

इस प्रथम पीठ के ऊपर हिरण्यमयी अति उन्नत द्वितीय पीठ था, जो अपनी कान्ति से चन्द्रमण्डल को जीत रहा था ॥172॥

इस दूसरे पीठ के उपरितल पर चक्र, गजराज, वृषभ, कमल, दिव्यांशुक, सिंह, गरुड़ और माला की आठ मनोहर ऊँची ध्वजाएँ आठों दिशाओं में शोभायमान हो रही थीं, जो अपने प्रदीप आकारों से सिद्धों के आठ गुणों के सदृश प्रतीत हो रही थीं ॥173-174॥

इस द्वितीय पीठ के ऊपर अपनी स्फुरायमान रत्नकिरणों के द्वारा अन्धकार के समूह को विध्वस्त करनेवाला, सर्वरत्नमयी तेजस्वी तृतीय पीठ था ॥175॥ यह परम पीठ अपनी उज्ज्वल किरणों के द्वारा और अनेक मांगलिक सम्पदा से देवों के तेजों को जीतकर हँसता हुआ शोभित हो रहा था ॥176॥

इस तीसरे पीठ के ऊपर कुबेरराज ने जगत् में सारभूत उत्कृष्ट गन्धकुटी नाम की पृथ्वी को रचा था जो कि अद्भुत तेजोमूर्ति के समान थी ॥17॥

वह दिव्य सुगन्धीवाले धूपोंसे, और नाना प्रकार के पुष्पों की वर्षा से गगनांगण को सगन्धित करती हुई अपना 'गन्धकटी' यह नाम सार्थक कर रही थी ॥178॥

यक्षराज ने उस गन्धकुटी की दिव्य रचना नाना प्रकार के आभरण-विन्यासोंसे, उपमा-रहित मुक्ताजालोसे, सुवर्ण-जालोंसे, स्थूल, स्फुरायमान और अन्धकार-विनाशक रत्नों से की थी, उस की शोभा का वर्णन करने के लिए श्री गणधरदेव के बिना और कौन बुद्धिमान्

समर्थ है ॥179-180॥ उस गन्धकुटी के मध्य में यक्षराज ने अनमोल उत्कृष्ट मणियों से भूषित, अपनी प्रभा से सूर्य की प्रभा को जीतनेवाला, स्वर्णमयी दिव्य सिंहासन बनाया था ॥181॥

उस सिंहासन को कोटिसूर्य की प्रभा से अधिक प्रभावाले और तीन लोक के भव्यजीवों से वेष्टित श्री महावीर प्रभु अलंकृत कर रहे थे ॥182॥

उस पर अनन्त महिमाशाली, विश्व के सर्वप्राणियों के उद्धार करने में समर्थ, और अपनी महिमा से सिंहासन के तलभाग को चार अंगुलों से नहीं स्पर्श करते हुए भगवान् अन्तरिक्ष में विराजमान थे ॥183॥

इस प्रकार विद्वज्जनों से नमस्कृत, विश्व के एकमात्र चूडामणि, जिनश्रेष्ठ श्रीवीरप्रभु ने देवों द्वारा रचित बाहरी अतुल उत्कृष्ट समवशरण विभूतिको, तथा अनुपम अनन्त गुणों के साथ केवल विभूति को प्राप्त किया, उन लोक के अनुपम पितामह श्री वर्धमान जिनेन्द्र की मैं गुणगणों के द्वारा स्तुति करता हूँ ॥184॥

जो श्री वीरनाथ तीनों लोकों के तार ने में कुशल हैं, कर्म-शत्रुओं के विध्वंसक हैं, दिव्य सभागणों से परिवत हैं, धर्मोपदेश देने के लिए उद्यत हैं, जो तीन जगत् के जीवों के अकारण बन्धु हैं, और अनन्त चतुष्टय को जिन्हों ने प्राप्त किया है और जो महान हैं, ऐसे श्री महावीर प्रभु को मैं उन की विभूति पा ने के लिए अपना मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥185॥

जो अनुपम गुणों के निधान हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्र के धारक हैं, त्रिभुवन के स्वामियों द्वारा सेवित हैं, समस्त विश्व के एकमात्र बन्धु हैं, सर्व दोषों के नाशक हैं, इस भूतल पर धर्मतीर्थ के कर्ता हैं, ऐसे श्री वीरनाथ की मैं शिव के गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥186॥

इति श्री भट्टारक सकलकीति-विरचित श्री वीरवर्धमानचरित में देवों का आगमन और भगवान् के समवशरण-रचना का वर्णन करनेवाला चौदहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥14॥

## पंद्रहवाँ-अधिकार

गौतम स्वामी का आना

कथा :

केवलज्ञानरूप साम्राज्यपद के भोक्ता, भव्य जीवों से वेष्टित, और धर्मतीर्थ के प्रवर्तक श्रीमान महावीर स्वामी के लिए नमस्कार है ॥1॥

जिस गन्धकुटी में भगवान् विराजमान थे उस स्थान के सर्व भूभाग को व्याप्त कर देवरूपी मेव पुष्पों की वर्षा कर रहे थे ॥2॥

गगनमण्डल से आती हुई वह दिव्य पुष्पवृष्टि अपनी सुगन्धि से आकृष्ट हुए भ्रमरों की गुंजार से जगत् के नाथ वीर जिनेश्वर के गुणों को गाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥3॥

जिनदेव के समीप में अति उन्नत दीप्तिमान अशोकवृक्ष था, जो कि जगत् के जीवों के शोक को दूर करने से अपने नाम को सार्थक कर रहा था |4॥ वह महान् अशोकवृक्ष मणिमयी विचित्र पुष्पोंसे, मरकतमणि-जैसे वर्णवाले उत्तम पत्तोंसे, तथा हिलती हुई शाखाओं से भव्य जीवों को बुलातासा प्रतीत होता था ॥5॥

प्रभु के शिर पर दीप्त कान्तिवाला, मुक्तामालाओं से भूषित, दिव्य नाना रत्न-समूह से जटित दण्डवाला, और अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कान्ति को जीतनेवाला छत्रत्रय सज्जनों को भगवान् के तीन लोक के स्वामीप ने की सूचना देते हुए के समान शोभित हो रहा था ॥6-7॥

क्षीरसागर की तरंगों के सदृश शुभ्र वर्णवाले, यक्षों के हस्तों द्वारा चौसठ चामरों से वीज्यमान, तीन लोक के भव्य जीवों के मध्य में स्थित, और लक्ष्मी से अलंकृत शरीरवाले, उत्तम रूपवाले जगद्-गुरु श्री वर्धमान स्वामी मुक्तिरमा के उत्तम वर के समान शोभित हो रहे थे ॥8-9॥

मेघों को गर्जना को जीतनेवाली, देवों के हाथों से बजायी जाती हुई साढ़े बारह करोड़ उत्तम देव-दुन्दुभियाँ अनेक कर्म-शत्रुओं की तर्जना करती हुई और जगत् के सज्जनों को उत्तम जिनोत्सव की सूचना करती हुई नाना प्रकार के शब्दों को कर रही थीं ॥10-11॥

भगवान् के दिव्य औदारिक शरीर से उत्पन्न हुआ देदीप्यमान कोटि सूर्य से भी अधिक प्रभावाला रम्य भामण्डल शोभित हो रहा था ॥12॥

वह भामण्डल सर्वबाधाओं से रहित, अनुपम, सर्व प्राणियों के नेत्रों को प्रिय, यशों का पुंज अथवा तेजों का निधान-सा ही प्रतीत हो रहा था ॥13॥

वीरजिनेन्द्र के श्रीमुख से निकलनेवाली, विश्वहित-कारिणी, सर्व तत्त्व और धर्म को प्रकट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्रतिदिन प्रकट होती थी ॥

14॥

जैसे मेघों से बरसा हुआ एक रूपवाला, जलसमूह वृक्षादिकों के पात्र-योग से विविध प्रकार के फलों का उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार भगवान की एक रूपवाली भी अनक्षरी दिव्यध्वनि नाना भाषामयी और व्यक्त अक्षरवाली होकर अनेक देशों में उत्पन्न हुए मनुष्यों, पशुओं और देवों के समस्त सन्देहों का नाश करनेवाली और धर्म का स्वरूप कथन करनेवाली थी ॥15-17॥

तीन रत्नपीठों के अग्रभाग पर स्थित अनुपम सिंहासन पर विराजमान ऐसे तीन जगत् के नाथ वीरजिनेन्द्र धर्मराजा के समान शोभित हो रहे थे ॥18। इस प्रकार इन अमूल्य उत्कृष्ट आठ महाप्रातिहार्यों से अलंकृत भगवान महावीर समवशरण-सभा में अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥19॥

इस समवशरण-सभा में बारह कोठे थे। उनमें- से भगवान की पूर्वदिशा से लेकर प्रथम शुभ प्रकोष्ठ में गणधरादि मुनीश्वरों का समूह शिवपद की प्राप्ति के लिए विराजमान था ॥20॥

दूसरे कोठे में इन्द्राणी आदि कल्पवासिनी देवियाँ विराजमान थीं। तीसरे कोठे में सर्व आर्यिकाएँ श्राविकाओं के साथ हर्ष से बैठी हुई थीं ॥ 21॥

चौथे कोठे में ज्योतिषी देवों की देवियाँ बैठी थीं। पाँचवें कोठे में व्यन्तर देवों की देवियाँ और छठे कोठे में भवनवासी देवों की पद्मावती आदि देवियाँ बैठी थीं ॥22॥

सातवें कोठे में धरणेन्द्र आदि सभी भवनवासी देव बैठे थे। आठवें कोठे में अपने इन्द्रों के साथ व्यन्तर देव बैठे थे। नवें कोठे में चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देव बैठे थे ॥23॥

. दशवे कोठे में कल्पवासी देव बैठे थे। ग्यारहवें कोठे में विद्याधर आदि मनुष्य बैठे थे और बारहवें कोठे में सर्प, सिंह, मृगादि तिर्यंच बैठे थे। इस प्रकार बारह कोठों में बारह गणवाले जीव भक्ति से हाथों की अंजलि बाँधे हुए, संसारताप की अग्नि से पीड़ित होने से उस की शान्ति के लिए भगवान् के वचनामृत का पान करने के इच्छुक होकर त्रिजगद-गरु को घेरकर बैठे हुए थे॥२४-२६॥

उक्त बारह गणों से वेष्टित, अत्यन्त सुन्दर, जगद्-भर्ता श्री वर्धमान भगवान सर्वधर्मीजनों के मध्य में उन्नत धर्ममूर्ति के समान शोभायमान हो रहे थे ।॥27॥

अथानन्तर धर्मरूप रस के पान करने के उत्कट अभिलाषी वे सौधर्मादि इन्द्र अपने अपने देव-परिवार के साथ मस्तक पर कर-कमलों को रखे और जय-जय आदि घोषणा करते हुए समवशरण में प्रविष्ट हुए। उन्हों ने सज्जनों को शरण देनेवाले उस समवशरण मण्डल की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। पुनः जगद्-गुरु श्री वीरजिनेन्द्र के दर्शनों के इच्छुक उन देवेन्द्रादिकों ने परम भक्ति के साथ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष और स्तूपों में विराजमान जिनेन्द्र और सिद्ध भगवन्तों के विम्ब-समूह की महान् द्रव्यों से पूजा की। पुनः समवशरण की देवों द्वारा रचित अनुपम दिव्य रचना को देखते हुए वे हर्ष के साथ उस सभा में प्रविष्ट हुए ॥28-31॥

वहाँ पर उत्तुग स्थान पर रखे हुए उन्नत सिंहासन पर विराजमान, अति उत्तम कोटि-कोटि गुणों से उत्तुंग कायवाले, चार मुखों के धारक, चामरों से वीज्यमान महावीर भगवान को विस्फारित नेत्रवाले इन्द्रादिकों ने परम विभूति के साथ देखा ॥32-33॥

तब भक्तिभार से नम्रीभूत होकर उन सब ने अति भक्ति के साथ भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर भमि-भाग पर अपनी जानओं (घुटनों) को रखकर कर्मों के नाश करने के लिए तीन लोक के जीवों से सेवित जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों को इन्द्रों ने समस्त देवों के साथ मस्तक से नमस्कार किया ॥34-35॥

शची आदि सभी देवियों ने अपनी-अपनी अप्सराओं के साथ त्रिजगदीश्वर को अति हर्ष से पंचांग नमस्कार किया ॥36॥

उनके नमस्कार करते समय इन्द्रों के रत्नमयी मुकुटों की किरणों से चित्र-विचित्र शोभा को धारण करते हुए जिनेन्द्रदेव के चरण-कमल अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥37॥

जिन के शरीर की छाया नहीं पड़ती है, ऐसे वे देवों के स्वामी इन्द्रादिक भगवान् के गुण-ग्राम से अनुरंजित होकर उत्कृष्ट दिव्य सामग्री के द्वारा वीरजिनेन्द्र की पूजा करने के लिए उद्यत हुए ॥38॥

उन्हों ने चमकते हुए सुवर्ण-निर्मित शृंगार नालों से स्वच्छ जल की धारा अपने पापों की विशुद्धि के लिए भगवान के चरणों के आगे छोड़ी ॥ 39॥

पुनः महाभक्ति से उन इन्द्रों ने भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान के रमणीक पीठ के आगे दिव्य गन्धविलेपन से पूजा की ॥ 40॥

पुनः अपनी स्वच्छता से आकाश को धवल करनेवाले मुक्ताफलमयी दिव्य अक्षतों से उन्हों ने अक्षय सुख पा ने के लिए भगवान् के आगे पाँच उन्नत पुंज बनाये ॥41॥

पुनः कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए दिव्य कोटि-कोटि पुष्पमालादि से सर्व **अर्थ**ों को सिद्ध करनेवाली भगवान् की महापूजा की ॥42॥

पुनः उन देवों ने रत्नों के थालों में रखे हुए अमृत पिण्डमयी नैवेद्य को अपने सुख की प्राप्ति के लिए भक्ति के साथ प्रभु के चरण-कमलों में चढ़ाया ॥43॥

पुनः स्फुरायमान रत्नमयी, विश्व के प्रकाश करने में कारणभूत दीपों के द्वारा अपने चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति के लिए उन इन्द्रों ने जगत् के नाथ वीरजिनेन्द्र के चरण-कमलों को प्रकाशित किया ॥44॥

तत्पश्चात् उन इन्द्रों ने कालागुरु आदि उत्तम द्रव्यों से निर्मित, सुगन्धित श्रेष्ठ धूप-समूह से जिनदेव के चरण-कमलों को धूपित किया ॥45॥

तदनन्तर कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए, नेत्र-प्रिय, श्रेष्ठ अनेक महाफलों से उन्हों ने मुक्तिरूप महाफल की सिद्धि के लिए जिनेन्द्र के चरण-कमलों की पूजा की ॥46॥

इस प्रकार अष्टद्रव्यों से पूजा करने के अन्त में उन इन्द्रों ने कोटि-कोटि कुसुमांजलियों से जगद्-गुरु के सर्व ओर हर्षित होकर पुष्पवृष्टि की ॥47॥

तत्पश्चात् इन्द्राणी ने प्रभु के आगे पाँच जाति के रत्नों के चूर्णों द्वारा अपने हाथ से भक्ति के साथ अनेक प्रकार के उत्तम सांथिया आदि को लिखा ॥48॥

तदनन्तर पूजा करने से अति सन्तुष्ट हुए उन देवों के नायक इन्द्रों ने कुछ नम्रीभूत होकर महाभक्ति से अपने हाथों को जोड़कर तीर्थंकर प्रभु को नमस्कार कर दिव्य वचनों से जिनेन्द्रदेव के अन्त-रहित (अनन्त ) गुणों के द्वारा उन गुणों की प्राप्ति के लिए इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥49-50॥

हे देव, तुम सारे जगत् के नाथ हो, तुम गुरुजनों के महागुरु हो, पूज्यों के महापूज्य हो, वन्दनीय देवेन्द्रों के भी तुम वन्दनीय हो, ॥51॥

तुम योगियों में महायोगी हो, व्रतियों में महाव्रती हो, ध्यानियों में महाध्यानी हो, और बुद्धिमानों में तुम महाबुद्धिमान हो ॥52॥

ज्ञानियों में तुम महाज्ञानी हो, यतियों में तुम जितेन्द्रिय हो, स्वामियों के तुम परम स्वामी हो और जिनों में तुम उत्तम जिन हो ॥53॥। ध्यान करने योग्य पुरुषों के तुम सदा ध्येय हो, स्तुति करने योग्य पुरुषों के तुम स्तुत्य हो, दाताओं में तुम महादाता हो और हे प्रभो, गुणीजनों में तुम महागुणी हो ॥54॥

धर्मीजनों में तुम परमधर्मी हो, हितकारकों में तुम महान् हितकारक हो, भव-भीरुजनों के तुम त्राता ( रक्षक ) हो और अपने तथा अन्य जीवों के कर्मों के नाश करनेवाले हो ॥55॥

अशरणों को आप शरण देनेवाले हैं, शिवमार्ग में सार्थवाह हैं, अबन्धुओं के आप अकारण बन्धु हैं और जगत् के हितकर्ता हैं ॥56॥

लोभीजनों में आप महालोभी हैं, क्योंकि विश्व के अग्रभाग पर स्थित मुक्तिसाम्राज्य की आकांक्षा से युक्त हैं । रागियों में आप महारागी हैं, क्योंकि मुक्ति स्त्री के संगम का चिन्तन करते हैं ॥57॥

सग्रन्थों ( परिग्रहीजनों ) में आप महासग्रन्थ हैं, क्योंकि आप ने सम्यग्दर्शनादि रत्नों का संग्रह किया है । घातकजनों में आप महाघातक हैं, क्योंकि आप ने कर्मरूपी महाशत्रुओं का घात किया है ॥58॥

विजेताजनों में आप महाविजेता हैं, क्योंकि आप ने कषाय और इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है। अपने शरीरादि में इच्छारहित हो करके भी आप विश्व के अग्रभाग पर स्थित मुक्ति लक्ष्मी के वांछक है ॥59॥ चतुर्निकायवाली देवियों के समूह के मध्य में स्थित हो करके भी आप परम ब्रह्मचारी हैं तथा एक मुखवाले हो करके भी आप चार मुखवाले दिखाई देते हैं ॥60॥

हे जगद्गुरो, आप विश्वातिशायिनी लक्ष्मी से अलंकृत हैं, आप महान् निर्ग्रन्थराज हैं, आप के समान संसार में कोई दूसरा नहीं है और आप गण के अग्रणी हैं ॥6॥

हे देव, आज हम लोग धन्य हैं, आज हमारा जीवन सफल हुआ है, और हे प्रभो, आज आप के दर्शनार्थ यात्रा में आ ने से हमारे चरण

कृतार्थ हो गये हैं ॥62॥

हे गुरो, आप का पूजन करने से आज हमारे हाथ सफल हो गये हैं और आप के चरणकमलों को देखने से हमारे नेत्र भी सफल हुए हैं ॥63॥

आप के चरण-कमलों को प्रणाम करने से हमारे ये शिर सार्थक हो गये हैं और आप के चरणों की सेवा से हमारे ये शरीर आज पवित्र हुए हैं ॥64॥

हे देव, आप के गुणों को कहने से हमारी वाणी आज सफल हुई है और हे नाथ, आप के गुणों का चिन्तवन करने से हमारे मन आज निर्मल हो गये हैं ॥65॥

हे देव, आप की जो अनन्त महागुणराशि है, उस की सम्यक् प्रकार से स्तुति करने के लिए गौतमादि गणधरदेव भी अशक्य हैं, तब हम-जैसे अल्पज्ञानियों के द्वारा आप की परम गुणराशि कै से स्तवनीय हो सकती है। ऐसा समझकर हे नाथ, आप की स्तुति में हम ने अधिक श्रम नहीं किया है ॥66-67॥

इसलिए हे देव, आपको नमस्कार है, अनन्त गुणशाली, आपको नमस्कार है, विश्व के शिरोमणि, आप के लिए नमस्कार है और सन्तजनों के गुरु, आप के लिए हमारा नमस्कार है ॥68॥

हे परमात्मन् , आप के लिए नमस्कार है, हे लोकोत्तम, आप के लिए नमस्कार है, हे केवलज्ञान साम्राज्य से विभूषित भगवन् , आप के लिए हमारा नमस्कार है ॥69॥

हे अनन्तदर्शिन् , आप के लिए नमस्कार है, हे अनन्त सुखात्मन् , आप के लिए नमस्कार है, हे अनन्तवीर्यशालिन् , आप के लिए नमस्कार है, और तीन लोक के सन्तों के मित्र आप के लिए हमारा नमस्कार है ॥70॥

संसार का मंगल करनेवाले श्री वर्धमान स्वामी के लिए नमस्कार है, हे सन्मते आप के लिए हमारा नमस्कार है, हे महावीर, आप के लिए नमस्कार है ॥71॥

हे जगत्त्रयी नाथ, आप के लिए नमस्कार है, हे स्वामियों के स्वामिन , आप के लिए नमस्कार है, हे अतिशय सम्पन्न आप के लिए नमस्कार है, और हे दिव्य देह के धारक, आप के लिए हमारा नमस्कार है ॥72॥

हे धर्मात्मन् , आप के लिए नमस्कार है, हे सद्धर्ममर्ते, आप के लिए नमस्कार है, हे धर्मोपदेशदातः, आप के लिए नमस्कार है, और हे धर्मचक्र के प्रवर्तन करनेवाले भगवन् , आप के लिए हमारा नमस्कार है ॥73॥

हे जगन्नाथ, इस प्रकार स्तुति करने, नमस्कार और भक्ति आदि के करने से उपार्जित पुण्य के द्वारा आप के प्रसाद से आप की यह सकल गुणराशि आप के पद की सिद्धि के लिए शीघ्र ही हमें प्राप्त हो, हमारे कर्मशत्रुओं का नाश हो और हमें समाधिमरण,बोधिलाभ आदि की प्राप्ति हो ॥74-75॥। इस प्रकार वे चतुर्निकाय के इन्द्र अपने-अपने देवों के साथ जगन्नाथ श्री वीरप्रभु की स्तुति करके बार-बार नमस्कार करके और भक्ति के साथ इष्ट प्रार्थना करके धर्मोपदेश सुनने के लिए अपने-अपने कोठों में जिनेन्द्र की ओर मुख करके जा बैठे तथा अन्य भव्य जीव और देवियाँ भी अपनी हित की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार अपने-अपने कोठों में जिनेन्द्र के सम्मुख जा बैठे ॥76-77। इसी अवसर में सम्यक् धर्म को सुनने के लिए उत्सुक और अपने-अपने कोठों में बैठे हुए बारह गणों को शीघ्र देखकर, तथा तीन प्रहरकाल बीत जाने पर भी इन अर्हन्तदेव की दिव्यध्वनि किस कारण से नहीं निकल रही है, इस प्रकार से इन्द्र ने अपने हृदय में चिन्तवन किया ॥78-79॥ तब अपने अवधिज्ञान से बुद्धिमान इन्द्र ने गणधरपद का आचरण करने में असमर्थ मनिवृन्द को जानकर इस प्रकार विचार किया ॥8॥ अहो, इन मुनीश्वरों के मध्य में ऐसा कोई भी मुनीन्द्र नहीं है, जो कि अर्हन्मुख कमल-विनिर्गत सर्व तत्त्वार्थसंचय को एक बार सुनकर द्वादशांग श्रुत की सम्पूर्ण रचना को शीघ्र कर स के और गणधर के पद के योग्य हो॥८१-८२॥

ऐसा विचार कर गौतमगोत्र से विभूषित गौतमविप्र को उत्तम एवं गणधर पद के योग्य जानकर किस उपाय से वह द्विजोत्तम गौतम यहाँ पर आयेगा, इस प्रकार प्रसन्नबुद्धि सौधर्मेन्द्र ने गम्भीरतापूर्वक चिन्तवन किया ॥83-84॥

कुछ देर तक चिन्तवन करने के पश्चात् वह मन ही मन बोला-अहो, उसके ला ने के लिए मैं ने यह उपाय जान लिया है कि विद्या आदि के गर्व से युक्त उस से कुछ दुर्घट ( अति कठिन ) काव्यादि के **अर्थ** को शीघ्र उस ब्राह्मण के आगे जाकर पूछु ? उस काव्य के अर्थ को नहीं जान ने से वह वाद (शास्त्रार्थ ) का इच्छुक होकर स्वयं ही यहाँ पर आ जायेगा ॥85-86॥

हृदय में ऐसा विचारकर वह बुद्धिमान सौधर्मेन्द्र लकड़ी हाथ में लिये हुए वृद्ध ब्राह्मण का वेष बना करके उस गौतम के निकट गया ॥87॥
विद्या के मद से उद्धत गौतम को देखकर उस ने उन से कहा-हे विप्रोत्तम, आप विद्वान् हैं, अतः मेरे इस एक काव्य का **अर्थ** विचार करें ॥ 88॥
मेरे गुरु श्री वर्धमान स्वामी हैं, वे इस समय मौन धारण करके विराज रहे हैं और मेरे साथ नहीं बोल रहे हैं। अतः काव्य के **अर्थ** को जान ने की इच्छावाला होकर मैं आप के पास यहाँ आया हूँ ॥89॥
काव्य का **अर्थ** जान ले ने से यहाँ मेरी बहुत अच्छी आजीवि का हो जायेगी, भव्य जनों का उपकार भी होगा और आप की ख्याति भी होगी ॥10॥
उस की इस बात को सुनकर गौतम विप्र बोला-हे वृद्ध, यदि तेरे काव्य को मैं शीघ्र सत्य **अर्थ**-व्याख्या कर दूँ, तो तुम क्या करोगे ॥91॥
तब इन्द्र ने यह कहा-हे विप्र, यदि तुम निश्चित यथार्थरूप से शीघ्र मेरे काव्य की स्पष्ट अर्थ-व्याख्या कर दोगे, तब मैं तुम्हारा शिष्य हो जाऊँगा। और यदि ठीक अर्थ-व्याख्या नहीं कर स के तो तुम क्या करोगे? यह सुनकरके गौतम बोला-रे वृद्ध, तू मेरे निश्चित वचन सुन-'यदि मैं तेरे काव्य के अर्थ की स्पष्ट व्याख्या न कर सकूँ, तो जगत्प्रसिद्ध मैं गौतम अपने इन पाँच सौ शिष्यों के तथा अपने इन दोनों भाइयों के साथ शीघ्र ही वेदादि के मत को छोड़कर अभी तत्काल ही तेरे गुरु का शिष्य हो जाऊँगा; इस में कोई संशय नहीं है ॥92-95॥
मेरी इस प्रतिज्ञा में इस नगर का पालक यह काश्यप नामक द्विज साक्षी है और ये समस्त लोग भी साक्षी हैं ॥26॥
गौतम की यह बात सुनकर वे सब उपस्थित लोग बोले-अहो, क्वचित्-कदाचित् दैववश सुमेरु चल जावे, किन्तु इस के सद्वचन सन्मति अर्हन्त के समान कभी नहीं चल सकते हैं ॥97। इस प्रकार उन दोनों में परस् पर प्रतिज्ञा-बद्ध वचनालाप होने पर उस इन्द्र ने दिव्य वाणी से यह काव्य कहा ॥9॥
"त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगतिगणाः सत्पदार्था नवैव, विश्वं पञ्चास्तिकाया व्रतसमितिचिदः सप्ततत्त्वानि धर्माः। इस काव्य को सुनकर आश्चर्ययुक्त हो और उसके **अर्थ** को जान ने में असमर्थ होकर वह गौतम मान-भंग के भय से मन में इस प्रकार विचारनेलगा ॥10॥
अहो. यह का व्य बहुत कठिन है, इस का जरा-सा भी **अर्थ** ज्ञात नहीं होता है। इस काव्य में सर्वप्रथम जो 'काल्यं' पद है, सो उस से दिन में होनेवाले तीन काल अभीष्ट हैं, अथवा वर्ष सम्बन्धी तीन काल अभीष्ट हैं ? ॥101॥
यदि भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी तीन काल अभीष्ट हैं, तो जो इन तीनों कालों में उत्पन्न हुई वस्तुओं को जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही उसके आगम का ज्ञाता हो सकता है, मुझ सरीखा कोई जन कभी उसका ज्ञाता नहीं हो सकता ॥102॥
काव्य में जो षड्द्रव्यों का उल्लेख है, सो वे छह द्रव्य कौन से कहे जाते हैं, और वे किस शास्त्र में निरूपण किये गये हैं ? समस्त गतियाँ कौन-सी हैं, और उनका क्या लक्षण है ? संसार में अरे, जिन नौ पदार्थों का नाम भी नहीं सुना है, उन्हें जान ने के लिए कौन योग्य हैं ? विश्व कि से कहते हैं, सब को या तीन लोकको, यह भी मैं नहीं जानता हूँ ॥103-104॥ इस काव्य में पठित पाँच अस्तिकाय कौन- से हैं, इस भूतल में कौन- से पाँच व्रत हैं, और कौन-सी पाँच समितियाँ हैं ? ज्ञान किस के द्वारा कहा गया है और उसका क्या फल है ॥105॥
सात तत्त्व कौन- से हैं, दश धर्म कौन- से हैं, और उनका कैसा स्वरूप है ? सिद्धि और कार्य-निष्पत्ति का मार्ग भी संसार में अनेक प्रकार का है ॥106॥
विधि का क्या स्वरूप है और उसका क्या फल उत्पन्न होता है ? छह जीवनिकाय कौन- से हैं ? छह लेश्याएँ तो कभी कहीं पर सुनी भी नहीं हैं ॥107॥
काव्योक्त इन सब का लक्षण मैं ने पहले कभी जरा-सा भी नहीं सना है और न हमार वेदमें, शास्त्रों में अथवा स्मृति आदि में इन का कुछ निरूपण ही किया गया है ॥108॥
अहो, मैं समझता है कि इस काव्य में सिद्धान्तसमद्र का सारा कठिन रहस्य भरा हआ है. और उसे ही यह बुड्ढा ब्राह्मण मुझ से पूछ रहा है ॥109॥ मेरा मन यह मानता है कि यह काव्य गूढ़ **अर्थ**वाला है, उसे सर्वज्ञ के अथवा उनके उत्तमज्ञानी शिष्य के बिना अन्य कोई भी मनुष्य अर्थ-व्याख्यान करने के लिए समर्थ नहीं है ॥110॥
अब यदि मैं इस के साथ विवाद करता हूँ तो साधारण ब्राह्मण के साथ बात करने से मेरा मान भंग होगा? अतः इस के त्रिजगत्स्वामी गुरु के समीप शीघ्र जाकर संसार में चमत्कार करनेवाले विवाद को करूँगा। उस उत्तम विवाद से मेरी महाप्रसिद्धि होगी और जगद्-गुरु के

आश्रय ले ने से मेरी मान-हानि भी कुछ नहीं होगी ॥111-113॥

इस प्रकार विचारकर और काललब्धि से प्रेरित हुआ वह गौतम बोला-हे विप्र, निश्चय से तेरे गुरु के बिना मैं तेरे साथ वाद-विवाद नहीं करता हूँ । **अर्थ**ात् तेरे गुरु के साथ ही बात करूँगा ॥114॥

इस प्रकार सभा के मध्य में कहकर अपने पाँच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों से घिरा हुआ वह गौतम विप्र सन्मति प्रभ के समीप जाने के लिए वहाँ से बैंक निकला ॥115॥

वह बद्धिमान क्रमशः मार्ग में जाते हए हृदय में इस प्रकार सोच ने लगा कि जब यह बूढ़ा. ब्राह्मण ही असाध्य है, तब इस के गुरु मेरे लिए साध्य कै से हो सकता है ॥116॥

अथवा महापुरुष के योग से जो कुछ होनेवाला है, वह मेरे होवे । किन्तु श्री वर्धमानस्वामी के आश्रय से मेरी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं हो सकती है ॥117॥ इस प्रकार चिन्तवन करते और जाते हुए गौतम ने दूसरे ही संसार में आश्चर्य करनेवाले अति उन्नत मानस्तम्भों को पुण्योदय से देखा ॥118॥ उनके दर्शनरूप वज्र से उसका मानसरूपी पर्वत शतधा चूर्ण-चूर्ण हो गया और उसके हृदय में शुभ मृदुभाव उत्पन्न हुआ ॥119॥

तब वह गौतम आश्चर्ययुक्त चित्तवाला होकर अति शुद्ध भाव से महान दिव्य विभूति को देखता हुआ उस समवशरणसभा में प्रविष्ट हुआ ॥ 120॥

वहाँ पर सभा के मध्य में स्थित, समस्त ऋद्धि-गग से वेष्टित, और दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्री वर्धमानस्वामी को उस द्विजोत्तम गौतम ने देखा ॥121॥

तब वह परम भक्ति से जगद्-गुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर और अपने दोनों हाथों को जोड़कर उनके चरण-कमलों को मस्तक से नमस्कार कर भक्तिभार से अवनत हो नाम, स्थापना आदि छह प्रकार के सार्थक स्तुति-निक्षेपों के द्वारा अपनी सिद्धि के **अर्थ** स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ॥१२२-१२३॥

हे भगवन् , आप जगत् के नाथ हैं, उत्तम, सार्थक एक हजार आठ नामों से विभूषित हैं और नामकर्म के विनाशक हैं ॥124॥

सब नामों के **अर्थ**ों को जाननेवाला जो बुद्धिमान पुरुष आप के एक नाम से भी हष के साथ आप की स्तुति करता है, वह उसके फल से आप के समान ही एक हजार आठ नामों को शीघ्र प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आप-जैसा बन जाता है ॥125॥

ऐसा मानकर हे देव, आप के नामों को पाने का इच्छुक मैं भक्ति से एक सौ आठ उत्तम नामों के द्वारा आप का स्तवन करता हूँ॥१२६॥

हे भगवन , आप धर्मराजा, धर्मचक्री, धर्मी, धर्मक्रिया में अग्रणी, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक. धर्मनेता और धर्मपद के ईश्वर हैं ॥127॥

आप धर्मकर्ता, सुधर्माढ्य, धर्मस्वामी, सुधर्मवेत्ता, धर्मीजनों के आराध्य, धर्मीजनों के ईश्वरधर्मी जनों के पूज्य और सर्वप्राणियों के धर्मबन्धु हैं ॥128॥

आप धर्मीजनों में ज्येष्ठ हैं, अतिधर्मात्मा हैं, धर्म के स्वामी हैं और सुधर्म के धारक एवं पोषक हैं । धर्मभागी हैं, सुधर्मज्ञ हैं, धर्मराज हैं और अति धर्मवृद्धिवाले हैं ॥129॥

महाधर्मी हैं, महादेव हैं, महानाद, महेश्वर, महातेजस्वी, महामान्य, महापवित्र और महातपस्वी हैं ॥130॥

आप महात्मा हैं, महादान्त (जितेन्द्रिय), महायोगी, महाव्रती, महाध्यानी, महाज्ञानी, महाकारुणिक (दयालु) और महान हैं ॥131॥

आप महाधीर, महावीर, महापूजा के योग्य और महान ईशत्व के धारक हैं । आप महादाता, महात्राता, महान कर्मशील और महीधर हैं ॥ 132॥

आप जगन्नाथ, जगद्-भर्ता, जगत्कर्ता, जगत्पति, जगज्ज्येष्ठ, जगन्मान्य, जगत्सेव्य और जगन्नमस्कृत हैं ॥133॥

आप जगत्पूज्य, जगत्स्वामी, जगदीश, जगद्गुरु, जगबन्धु, जगज्जेता, जगन्नेता और जगत् के प्रभु है ॥134॥

आप तीर्थकृत , तीर्थस्वरूपात्मा, तीर्थनाथ, सुतीर्थवेत्ता, तीर्थंकर, सुतीर्थात्मा, तीर्थेश और तीर्थकारक हैं, ॥135॥

आप तीर्थनेता, सुतीर्थज्ञ, तीर्थ-पूज्य, तीर्थनायक, तीर्थराज, सुतीर्थाङ्ग, तीर्थभृत् और तीर्थकारण हैं ॥136॥

आप विश्वज्ञ, विश्वतत्त्वज्ञ, विश्वव्यापी, विश्ववेत्ता, विश्व के आराध्य, विश्व के ईश और विश्व ( समस्त) लोक के पितामह हैं ॥137॥

आप विश्व के अग्रणी हैं, विश्वस्वरूप हैं, विश्वपूज्य, विश्वनायक, विश्वनाथ, विश्वाज़, विश्वधृत् और विश्वधर्मकृत् हैं ॥138॥

हे भगवन , आप सर्वज्ञ हैं, सर्व लोक के ज्ञाता हैं, सर्वदर्शी और सर्ववेत्ता हैं। आप सर्वात्मस्वरूप हैं, सर्वधर्म के ईश हैं, सार्व ( सब के कल्याणकारी ) हैं और सर्व बुधजनों में अग्रणी हैं ॥139॥

आप सर्वदेवों के अधिपति हैं, सर्वलोक के ईश हैं, सर्वकर्मों के हर्ता हैं, सर्वविद्याओं के ईश्वर हैं, सर्वधर्म के कर्ता और सर्व सुखों के भोक्ता हैं ॥140॥

हे त्रिजगत्पते, इन यथार्थ के लिए नामों के समूह से आप की स्तुति की है, अतः स्तुति करनेवाले मुझे भी अपनी करुणा से आप अपने नाम के सदृश कीजिए ॥141॥

हे नाथ, तीन लोक से जितनी भी सुवर्ण, रत्न और पाषाणमयी कृत्रिम-अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ हैं उन सब की मैं भक्तिराग के वश होकर वन्दना करता हूँ और आप के रस नित्य भक्ति से पूजन करता हूँ ॥142-143॥

हे देव, जो लोग भक्तिभाव से आप की इन प्रतिमाओं की पूजा करते हैं, स्तुति करते हैं और नमस्कार करते हैं, वे तीन लोक के स्वामी होते हैं ॥144॥

और जो मूर्तिमान आप की नमस्कार, स्तवन और पूजनादि से साक्षात् अहर्निश ( रात-दिन) सेवा करते हैं, उन को प्राप्त होनेवाले फलों की संख्या को मैं नहीं जानता हूँ ॥145॥

__ हे भगवन् , इस लोक में जित ने भी शुभ और स्निग्ध परमाणु हैं, उनके द्वारा ही आप का यह अतिसुन्दर दिव्य देह रचा गया है ॥146॥

क्योंकि आप का यह उपमा-रहित और जगत्प्रिय शरीर अति शोभायमान हो रहा है। आप का तेज कोटि सूर्यो के तेज से भी अधिक है और समस्त दिशाओं के अन्तराल को प्रकाशित कर रहा है ॥147॥

हे ईश, आप का सर्व विकारों से रहित साम्यता को प्राप्त और प्रदीप्त यह मुख आप की आत्यन्तिक हृदयशुद्धि को कहते हुए के समान प्रतीत हो रहा है ॥148॥

हे जगद्-गुरो, आप के चरण-कमलों से जो भूमि आश्रित हुई और हो रही है, वह यहाँ पर ही तीर्थप ने को प्राप्त हुई है और मुनिजन एवं देवगण से वन्दनीय हो रही है ॥149॥

हे नाथ, आप के गर्भ-जन्मादि कल्याणकों के द्वारा जो क्षेत्र पवित्र हुए हैं, वे सब तीर्थप ने को प्राप्त हुए हैं, अतः पूज्य हैं ॥150॥

हे प्रभो, वही काल धन्य है, जिस काल में आप पैदा हुए, गर्भ-कल्याणक हुआ, निष्क्रमण ( दीक्षा ) कल्याणक हुआ और केवलज्ञान का उदय हुआ है ॥151॥

हे विभो, आप का यह अनन्त केवलज्ञान विश्व का दीपक है , क्योंकि वह लोकाकाश और अलोकाकाश को व्याप्त करके अवस्थित है, उसके जान ने योग्य पदार्थ का अभाव है, **अर्थ**ात् आप के ज्ञान ने जान ने योग्य सभी पदार्थों को जान लिया है ॥152॥

इसलिए हे देव, आप तीन जगत् के स्वामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वतत्त्ववेत्ता हैं, विश्वव्यापी हैं, और सन्तजनों ने आपको जगन्नाथ माना है ॥153॥

हे स्वामिन , आप का अन्त-रहित और जगत् से नमस्कृत यह केवलदर्शन लोकालोक को अवलोकन करके अवस्थित है, अतः हे ईश, वह आप के ज्ञान के समान ही अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहा है ॥154॥

हे नाथ, सर्वदोषों से रहित आप का अनुपम यह अनन्तवीर्य विश्व के समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ हो रहा है ॥155॥

हे देव, आप का बाधारहित, अनुपम और अतीन्द्रिय अनन्त परम सुख विश्व के समस्त प्राणियों के अगोचर हैं ॥156॥

हे वीर प्रभो, दूसरों में नहीं पाये जानेवाले ऐसे असाधारण ये सर्व दिव्य और महान उदयवाले परम अतिशय आप में शोभायमान हो रहे हैं ॥157॥

हे भगवन् , सर्वविश्वातिशायिनी, उपमा-रहित ये आठ प्रातिहार्य-विभूतियाँ सर्व इच्छाओं से रहित आप के शोभित हो रही हैं ॥158॥

इन के अतिरिक्त अन्य जो आप में गणनातीत और त्रिलोक के अग्रगामी अनन्त निरुपम गुण हैं, उन की स्तुति करने के लिए मेरे समान जन कै से समर्थ हो सकते हैं ॥159॥

हे गुणसमुद्र, जैसे मेघधारा की बिन्दुएँ, आकाश के तारे, समुद्र की तरंगे और अनन्त प्राणियों की संख्या हमारे-जैसों के द्वारा नहीं जानी जा सकती है, उसी प्रकार आप के गुण-समुद्र की संख्या नहीं जानी जा सकती है ॥160। ऐसा मानकर हे देव, आप की स्तुति करने में और गणधरों के भी अगोचर आप के गुणों के कहने में मैं ने अधिक श्रम नहीं किया है ॥161॥

अतः हे देव, आपको नमस्कार है, हे दिव्य मूर्तिवाले, आपको नमस्कार है, हे सर्वज्ञ, आपको नमस्कार है और हे अनन्तगुणशालिन् , आपको नमस्कार है ॥162॥ दोषों के नाशक आपको नमस्कार है, अबान्धवों के बन्धु हे भगवन , आपको नमस्कार है, हे लोकोत्तम, आपको नमस्कार है ॥163॥

विश्व को शरण देनेवाले आपको मेरा नमस्कार है, हे मन्त्रमूर्ति, आपको नमस्कार है, हे वर्धमान, आपको नमस्कार है, हे सन्मते, आपको नमस्कार है, हे विश्वात्मन् , आपको नमस्कार है, हे त्रिजगद्-गुरो, आपको नमस्कार है और अनन्त सुख के सागर हे देव, आपको मेरा नमस्कार है ॥164-165॥

इस प्रकार स्तवन, नमस्कार और भक्तिराग से उत्पन्न हुए धर्म के द्वारा हे भगवन, मैं आप से तीन लोक की लक्ष्मी को नहीं माँगता हूँ, किन्तु हे नाथ, कर्मो के झय से उत्पन्न होनेवाली, अनन्त सुखकारी, जगन्नमस्कृत, अपनी नित्य विभूति को मुझे दीजिए, क्योंकि आप इस संसार में परमदाता है और में महान लोभी हूँ। अतः आप के प्रसाद से मेरी यह प्रार्थना सफल ही होवे ॥166-168॥

हे देव, आप स्वर्ग के अधीश्वर इन्द्रों के द्वारा पूजित पदवाले हैं, आप धर्मतीर्थ के उद्धारक हैं, कर्म-शत्रु के विध्वंसक हैं, अतः आप महासुभट हैं, आप विश्व के निर्मल दीपक हैं, आप तीनों लोकों को तार ने में अद्वितीय चतुर हैं और सद्गुणों के निधान हैं, अतएव हे जिनपते, संसार सागर में डूब ने से आप मेरी सर्व प्रकार से रक्षा कीजिए ॥169॥

इस प्रकार विद्वानों के अधिपतियों से पूज्य, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप रत्न को प्राप्त, मिथ्यामतरूप शत्रु के नाशक और सद्-धर्म के मार्ग के ज्ञाता गौतम ने जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों को नमस्कार करके और स्तुति करने की भक्ति से अपने आपको कृतार्थ माना ॥17॥

वीर भगवान् वीर जिनों में अग्रणी हैं, गुणों के निधान हैं, ऐसे वीर जिनेन्द्र की ज्ञानीजन सेवा करते हैं। वीर के द्वारा ही शिवपद प्राप्त होता है, ऐसे वीर के लिए आत्म-शुद्धयर्थ नमस्कार है । वीर से अतिरिक्त अन्य कोई मनुष्य परमार्थ का जनक नहीं है, वीर के वचन सत्य हैं, ऐसे वीर जिनेश में मैं अपने मन को धरता हूँ, हे वीर, मुझे अपने सदृश शीघ्र करो ॥171॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकोति-विरचित श्रीवीर-वर्धमानचरित में श्री गौतम के आ ने और स्तुति करने का वर्णन करनेवाला यह पन्द्रहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥15॥

## सोलहवां-अधिकार

गौतम गणधर के प्रश्न

कथा :

विश्व के नाथ, अज्ञानान्धकार के विनाशक और जगत् के प्रकाशक ऐसे केवलज्ञानरूप सूर्य श्रीवर्धमानस्वामी के लिए नमस्कार है ॥1॥

अथानन्तर उन गौतमस्वामी ने तीर्थनायक श्री महावीरप्रभु को हर्ष के साथ सिर से प्रणाम करके अपने और जगत् के सन्तजनों के हितार्थ अज्ञान के विनाश और ज्ञान की प्राप्ति के लिए समस्त प्राणियों का हित करनेवाली यह सर्वज्ञ-गम्य उत्तम प्रश्नावली पूछी ॥2-3॥

हे देव, सात तत्त्वों में जो संसार में जीवतत्त्व है उसका कैसा लक्षण है, कैसी अवस्था है, कितने गुण हैं, उनके विभागात्मक कितने भेद हैं, कितनी पर्याय हैं, सिद्ध और संसारीविषयक उसके कितने भेद हैं ? इसी प्रकार अजीवतत्त्व के भी कितने भेद, गुण और पर्याय आदि हैं ॥ 4-5॥

तथा आस्रवादि शेष तत्त्वों के दोष और गुणों के कारण कौन हैं ? किस तत्त्व का कौन कर्ता है, उसका क्या लक्षण है, क्या फल है और किस तत्त्व के द्वारा इस संसार में निश्चय से क्या कार्य सिद्ध किया जाता है ? किस प्रकार के दुराचारों से पापी लोग नरक में जाते हैं. किस दष्कर्म से मढ लोग दःखकारी तिर्यग्योनि को जाते हैं. और किस प्रकार के सदाचरणों से धर्मीजन स्वर्ग जाते हैं ॥6-8॥

किस शुभकर्म से जीव लक्ष्मी और सुख से सम्पन्न मनुष्यगति को जाते हैं और किस दान से उत्तम भाववाले जीव भोगभूमि को जाते हैं ॥ 9॥

किस प्रकार के आचरण से इस संसार में मनुष्यों के पुरुषवेद, पुण्यशीला नारियों के स्त्रीवेद और पापाचारी दुरात्माओं के नपुंसक वेद होता है ॥10॥

किस पाप से प्राणी लँगड़े, बहरे, अन्धे, गँगे, विकलाङ्ग और अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते हैं ॥11॥

किस प्रकार के कर्म करने से जीव यहाँ पर रोगी-निरोगी, सुरूपी-कुरूपी, सौभाग्यवान और दुर्भागी होते हैं ॥12॥

किस कर्म से मनुष्य सुबुद्धि-कुबुद्धि, विद्वान्-मूर्ख, शुभाशय और दुराशयवाले होते हैं ॥13॥
किस प्रकार के आचरण करने से मनुष्य धर्मात्मा-पापात्मा, भोगशाली-भोगविहीन, धनी और
निर्धन होते हैं ॥14॥
किस कर्म से जीव अपने इष्ट जनादिकों से वियोग पाते हैं और किस कर्म से इष्ट-बन्धु आदि के तथा अभीष्ट वस्तुओं के साथ संयोग प्राप्त करते हैं ॥15॥
किस कर्म से मनुष्य दानशीलता, कृपणता, गुणशालिता-गुणहीनता, स्वामित्व और परदासत्व को प्राप्त होता है ॥16॥
किस कर्म से इस संसार में मनुष्यों के पुत्र नहीं जीते हैं और किस कम से चिरजीवी पुत्र उत्पन्न होते हैं ? तथा कै से कर्म करने से स्त्रियों के निन्द्य बन्ध्यापन होता है ॥17॥
किस कर्म से जीवों के कायरता-धीरता, अपयश-निर्मल यश और कुशीलता-सुशीलता प्राप्त होती है ॥18॥
किस कारण से जीव सत्संग-कुसंग, विवेकिता-मढता, श्रेष्ठकुल और निन्द्यकुल प्राप्त करते हैं ॥19॥
किस कर्म से मनुष्य मिथ्यामार्गानुरागी और जिनधर्मानुरक्त होते हैं, तथा दृढ़ ( सबल ) काय और निर्बल काय को पाते हैं ॥20॥
इस संसार में मुक्ति का क्या मार्ग है, उसका क्या लक्षण और क्या फल है ? साधुओं का परम धर्म कौन सा है और गृहस्थों का अ पर धर्म क्या है ॥21॥
पुरुषों को इन दोनों धर्मो के सेवन से क्या सत्फल प्राप्त होता है ? धर्म की उत्पत्ति करनेवाले कौन से कारण हैं और शुभ आचरण कौन से हैं ॥22॥
उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छहों कालों का क्या स्वरूप है, उस की स्थिति कैसी है, और इस महीतल पर तीन लोक में प्रसिद्ध शला का (गण्य-मान्य ) कौन होते हैं ॥23॥
इस विषय में बहुत कहने से क्या ? हे कृपानाथ, जो पहले हो चु का है, वर्तमान में हो रहा है और आगे होगा ? ऐसा त्रिकाल-विषयक द्वादशाङ्गश्रुतजनित जो ज्ञान है, वह सब कृपाकरके भव्यजीवों के उपकार के लिए और उन्हें स्वर्गमुक्ति के कारणभूत धर्म की प्राप्ति के लिए अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश दीजिए ॥24-25॥
इस प्रकार गौतमस्वामी के प्रश्न के वा से संसार के समस्त भव्य जीवों के हित करने के लिए उद्यत, तीर्थंकर वर्धमानदेव ने मुक्तिमार्ग की प्रवृत्ति के लिए सप्त तत्त्वादि-विषयक समस्त प्रश्न-समूहों का सद्भाव और उनका अभीष्ट अभिप्राय जीवों को स्वर्ग और मोक्ष के सुख प्राप्त करा ने के लिए दिव्य ध्वनि से इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ।26-27॥
भगवान् ने कहाहे धीमन् , सर्वगण के साथ मन को स्थिर करके तुम्हारे सर्व अभीष्ट-साधक मेरा यह वक्ष्यमाण (उत्तर)-सुनो ॥28॥
अब भगवान् ने उत्तर देना प्रारम्भ किया, तब बोलते समय प्रभु के साम्यता को प्राप्त मुख-कमल में रंचमात्र भी ओष्ठ आदि चलने की विक्रिया (विशेष-क्रिया) नहीं हुई। तथापि उनके मुख-कमल से सर्व संशयों का नाश करनेवाली मन्दराचल की गुफामें से निकली प्रतिध्वनि के समान गम्भीर, शुभ और रमणीय वाणी निकली ॥29-30॥
आचार्य कहते हैं कि अहो, तीर्थंकरों की यह योग-जनित ऊर्जस्विनी शक्ति है कि जिस के द्वारा इस संसार में समस्त सज्जनों का महान उपकार होता है ॥31॥
भगवान् बोले-हे गौतम, इस संसार में ज्ञानी जन जि से यथार्थ सत्य कहते हैं, वह सर्वज्ञोक्त पदार्थों का वास्तविक स्वरूप है, वही तत्त्व कहलाता है, यह तू निश्चित समझ ॥32॥
उस प्रयोजनभूत तत्त्व के सात भेद हैं। उन में प्रथम जीवतत्त्व है। संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। मुक्त जीव भेदों से रहित हैं, **अर्थ**ात् सभी एक प्रकार के हैं। किन्तु भव-भ्रमण करनेवाले संसारी जीव अनेक भेदवाले हैं ॥33॥
इन में मुक्त (सिद्ध) जीव आठ कर्मरूप शरीर से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से विभूषित हैं, एक भेदवाले हैं, जगत् के भव्य जीवों के ध्येय हैं, समान सुख के सागर हैं, सर्वदुःखों से रहित हैं, लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं, सर्वबाधाओं से विमुक्त हैं, ज्ञानशरीरी हैं, सर्व उपमाओं से रहित हैं और उन की अनन्त संख्या है। ऐसे संसार से मुक्त हए जीवों को सिद्ध जानना चाहिए ॥34-35॥
त्रस और स्थावर नाम के भेद से संसारी जीव दो प्रकार के हैं, विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से वे तीन प्रकार के मा ने गये हैं

॥36॥

नरक आदि चार गतियों के भेद से वे निश्चयतः चार प्रकार के कहे गये हैं, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से वे पाँच प्रकार के हैं ॥३जा पृथिवीकायादि पाँच स्थावर और त्रसकाय के भेद से संसारी प्राणी छह प्रकार के कहे गये हैं, अतिदयालु जिनेन्द्रों ने इन छह काय के जीवों की रक्षा के लिए सज्जनों को उपदेश दिया है ॥38॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति से पाँच स्थावरकाय, विकलेन्द्रिय जीवराशि और पंचेन्द्रिय इस प्रकार सात भेदरूप जीव-जातियाँ जानना चाहिए ॥39॥

पाँच प्रकार के स्थावर, एक भेदरूप विकलेन्द्रिय और संज्ञी-असंज्ञीरूप दो प्रकार के पंचेन्द्रिय, इस प्रकार इस संसार में आठ जाति की जीवयोनियाँ हैं ॥40॥

पाँचों ही स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव, इस प्रकार श्री जिनागम में संसारी जीव नौ प्रकार के कहे गये हैं. ॥41॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक और पंचेन्द्रिय, इस प्रकार संसार में दश प्रकार के जीव हैं ॥42॥

पाँच प्रकार के स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दश प्रकार के हैं, तथा द्वीन्द्रियादि सर्व त्रसकाय, इस प्रकार ग्यारह जाति के संसारी प्राणी ज्ञानियों को जानना चाहिए ॥43॥

सूक्ष्म-बादर के भेद से वर्गीकृत दश प्रकार के स्थावर जीव, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (सकलेन्द्रिय) ये सब मिलकर बारह प्रकार के संसारी जीव होते हैं ॥44॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और सर्व वनस्पति, ये सब स्थावर जीव सूक्ष्म-बादर के भेद से दश प्रकार के हैं, तथा विकलेन्द्रिय, मान-रहित असंज्ञी पंचेन्द्रिय और मन-सहित संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकार से संसारी जीव तेरह प्रकार के समझना चाहिए ॥45-46॥

समनस्क (संज्ञी) पंचेन्द्रिय मन-रहित अमनस्क (असंज्ञी) पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ये सात प्रकार के प्राणी पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गुणित होकर चौदह प्रकार के हो जाते हैं। ये ही चौदह जीवसमास उन की दया (रक्षा) करने के लिए ज्ञानियों को जान ने के योग्य है ॥47-48॥

इस प्रकार विवक्षा-भेद से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अट्ठानबे आदि अनेक भेद रूप बहुत प्रकार की जीव जातियाँ श्रीवीर स्वामी ने गौतमादि सर्व गणों के लिए कहीं॥४९॥

पुनः वर्धमानदेव ने गौतमादि सर्व गणों को चौरासी लाख योनियों का वर्णन इस प्रकार से किया-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति रूप नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छहों जाति के जीवों की सात-सात लाख योनियाँ हैं (647=42 ) प्रत्येक वनस्पतिरूप वृक्षों की दश लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियों की छह लाख योनियाँ हैं, तिर्यंच, नारक और देवों की बारह लाख योनियाँ हैं और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं । इस प्रकार भगवान् ने कुल कोटियों के साथ चौरासी लाख प्रमाण जीव जातियाँ कहीं ॥50-52॥

___पुनः भगवान ने जीवों की जातियों के अन्वेषण करानेवाली चौदह मार्गणाओं का वर्णन करते हुए बतलाया-गति मार्गणा चार प्रकार की है, इन्द्रियमार्गणा पाँच प्रकार की है, कायमार्गणा छह प्रकार को है, योगमार्गणा विस्तार से पन्द्रह प्रकार की है (और संक्षेप से तीन प्रकार की है। ) ॥53॥

वेदमार्गणा तीन प्रकार की है, कषायमार्गणा (संक्षेप से क्रोधादि चार भेदरूप है और विस्तारसे) पच्चीस भेदवाली है। ज्ञानमार्गणा आठ प्रकार की है, संयममार्गणा शुभ और अशुभ (असंयम) के भेद से सात प्रकार की है, दर्शनमार्गणा चार भेद रूप है, लेश्यामार्गणा तीन शुभ और तीन अशुभ के भेद से छह प्रकार की है, भव्यमार्गणा भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार की है, सम्यक्त्वमार्गणा छह प्रकार की है, संज्ञामार्गणा की अपेक्षा जीव संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार की है, तथा आहारमार्गणा आहारक-अनाहारक के भेद से दो प्रकार की है । इस प्रकार तीर्थ-नायक वीरनाथ ने चौदह मार्गणाओं का उपदेश दिया ॥54-56॥

मार्गणाओं के जानकार विद्वानों को अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए चारों गतियो में रहनेवाले संसारी जीवों का इन मार्गणाओं के द्वारा शीघ्र यत्न से मार्गण (अन्वेषण) करना चाहिए ॥57॥

पुनः जीवों के क्रमशः विकास को प्राप्त होनेवाले चौदह गुणस्थानों का उपदेश दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र,

अविरत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, नवम अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्परायसंयत, उपशान्तकषायसंयत, क्षीणकपायसंयत, सयोगिजिन और अयोगिजिन । इन चौदहों गुणस्थानों का भगवान् ने विस्तार से वर्णन किया ॥58-60॥

जो भव्य जीव इस संसार में निर्वाण (मोक्ष) को गये हैं, जा रहे हैं और भविष्य में जावेंगे, वे इन गुणस्थानों पर आरोहण करके ही गये, जा रहे और जावेंगे। यह नियम कचित् कदाचित् भी अन्यथा नहीं हो सकता है ॥61॥

अभव्यजीव के सदा केवल पहला ही गुणस्थान होता है, भले ही वह यहाँ पर ग्यारह अंगों का वेत्ता हो और दीर्घकाल का दीक्षित हो। उसके पहले के सिवाय अन्य गुणस्थान नहीं हो सकता ॥62॥ जैसे काला साँप शक्कर-मिश्रित दूध को पीता हुआ भी अपने विष को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार आगमरूप अमृत का पान करके भी अभव्यजीव मिथ्यात्वरूप विष को नहीं छोड़ता है ॥63॥

इसलिए निकट भव्यजीवों के ऊपर के तेरह गुणस्थान होते हैं, अभव्यों के और दूर भव्यजीवों के कभी भी ये गुणस्थान नहीं होते हैं ॥14॥

इस प्रकार वीर जिनेन्द्र ने आगम भाषा से आदि के जीवतत्त्व को कहकर पुनः सज्जनों को उसका उपदेश अध्यात्म भाषा से देना प्रारम्भ किया ॥65॥

ज्ञान-कुशल जनों ने गुण और दोष के कारण प्राणियों को तीन प्रकार का कहा है-बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । इन में परमात्मा अति निर्मल है, ( अन्तरात्मा अल्प निर्मल है और बहिरात्मा अति मलयुक्त है।) ॥66॥

इन में से जो जीव तत्त्व-अतत्त्वमें, गुण-अगुणमें, सुगुरु-कुगुरुमें, धर्म-अधर्ममें, शुभमार्ग-अशुभमार्गमें, जिनसूत्र-कुशास्त्रमें, देव-अदेवमें, और हेय-उपादेय के विचार करने में तथा उन की परीक्षा आदि करने में विचार-रहित होता है, वह बहिरात्मा कहा जाता है । जो जीव इस लोक में दूसरों के द्वारा प्ररूपित सत्य-असत्य का विचार न करके स्वेच्छा से यद्वा-तद्वा पदार्थों को जानता है और उन्हें उसी प्रकार से ग्रहण करता है, वह पहला बहिरात्मा है ॥69॥ जो शठ पुरुष इन्द्रिय-विषय-जनित, हालाहल विष-सदृश भयंकर वैषयिक सुख को यहाँ पर उपादेय बुद्धि से सेवन करता है, वह बहिरात्मा है ॥70॥

जो मूढ़ जड़ शरीर और चेतन आत्मा को शरीर के संसर्गमात्र से एक मानता है, वह सद्-ज्ञान से रहित बहिरात्मा है ॥71॥

तप, श्रुत और त से युक्त हो करके भी जो पुरुष स्व- पर आत्मा के विवेक को नहीं जानता है, वह स्वविज्ञान से बहिष्कृत बहिरात्मा है ॥72॥

बहिरात्मा जीव पुण्य-पाप को जानकर कुबुद्धि से पुण्य के लिए क्लेश करके उसके फल से भव-वन में परिभ्रमण करता है ॥73॥

ऐसा जानकर बुद्धिमानों को कुमार्ग में ले जानेवाला बहिरात्मपना सर्वथा छोड़ देना चाहिए और उस की संगति यहाँ स्वप्न में भी कभी नहीं करनी चाहिए ॥74॥

इस ऊपर बतलाये गये बहिरात्मा के स्वरूप से जो विपरीत स्वरूप का धारक है, **अर्थ**ात् देह और देही का विवेकवाला है, जिनसूत्र का वेत्ता है, जो तत्त्व-अतत्त्व और शुभ-अशभ के विचार को स्पष्ट जानता है, देव-अदेवको, सत्य-असत्य मतको, धर्म-अधर्मयोगी कार्योंको, कुमार्ग और मुक्तिमाग आदि को भलीभाँति से जानता है, उसे जिनराजों ने अन्तरात्मा माना है ॥75-76॥

जो इन्द्रिय-विषयजनित सुख को हालाहल विष के समान सर्व अनर्थो की खानि मानता है और जो संसार के बन्धनों से छूटना चाहता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥7॥

जो निश्चयतः कर्मोंसे, कों के कार्योंसे, मोह, इन्द्रिय और राग-द्वेषादि अपनी अनन्तगुणाकर आत्मा को पृथग्भूत ( भिन्न ) निष्कल (शरीर-रहित) सिद्ध-सदृश, योगि-गम्य और उपमा-रहित अपने भीतर ध्यान करता है, वह स्वात्म-रत ज्ञानी और महान् अन्तरात्मा है ॥78-79॥

जो अपने आत्मद्रव्य और देहादि अन्य द्रव्यों के सर्व महान् अन्तर को जानता है, वह महाप्राज्ञ अन्तरात्मा है ॥8। इस विषय में अधिक कहने से क्या, जिस का मन सद्विचार में कसौटी के पाषाण-तुल्य है, जो असार असद्-विचार का त्याग कर सद्-विचार को ही ग्रहण करता है, वह परम ज्ञानवान् अन्तरात्मा है ॥8॥

यह अन्तरात्मा अपने उत्तम चारित्र और ज्ञानादिगुणों के द्वारा इस संसार में सर्वार्थसिद्धि तक के सुखों को और जिनेन्द्र के वैभव को भोगता है ॥82॥

ऐसा जानकर सर्व आत्माओं में मूढपना छोड़कर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए अन्तरात्मा का पद ग्रहण करना चाहिए ॥83॥

सकल (शरीर-सहित ) और निष्कल ( शरीर-रहित ) के भेद से परमात्मा दो प्रकार का है । परमौदारिक दिव्य देहमें स्थित अरिहन्त सकल

परमात्मा हैं और देह-रहित सिद्ध भगवन्त निष्कल परमात्मा हैं ॥84॥
जो चार घातिया कर्मो से विमुक्त हैं, अनन्तज्ञान आदि नौ केवललब्धियों के धारक हैं, तीन लोक के मनुष्य और देवों से सेव्य हैं, मुमुक्षजनों के द्वारा नित्य ध्यान किये जाते हैं, धर्मोपदेशरूपी ह्राथों से भव-सागर में गिरते हुए भव्य जीवों के उद्धार करने के लिए उद्यत हैं, दक्ष हैं, सर्वज्ञ हैं, महात्माओं के गुरु हैं, धर्मतीर्थ के स्थापक तीर्थंकर केवली हैं, अथवा सामान्य केवली हैं, विश्ववन्दित हैं, दिव्य औदारिकदेहमें स्थित हैं, समस्त अतिशयों से युक्त हैं और जो भव्य जीवों को स्वर्ग-मुक्ति का फल प्राप्त करा ने के लिए लोक में निरन्तर धर्मामृतमयी दृष्टि को करते रहते हैं, वे सकल परमात्मा हैं ॥85-88॥
यही जिनाग्रणी जगन्नाथ सकल परमात्मपद के आकांक्षी लोगों के द्वारा उस पद की प्राप्ति के लिए अनन्यशरण होकर सेवनीय हैं ॥8॥
जो सर्व कर्मों से और शरीर से रहित हैं, अमूर्त हैं, ज्ञानमय है, महान हैं, तीन लोक के शिखर पर जिन का निवास है, क्षायिकसम्यक्त्व आदि आठ गुणों से विभूषित हैं, तीन लोक के अधीश्वरों के द्वारा संसेव्य हैं, मुमुक्षु जनों के द्वारा वन्द्य हैं और जगच्चूड़ामणि हैं, ऐसे महान् सिद्ध भगवान् निष्कल परमात्मा हैं ॥90-91॥
शिवार्थी जनों को मुक्ति की सिद्धि के लिए मन को अति निश्चल करके विश्व के अग्रणी यही सिद्ध परमेष्ठी नित्य ध्यान करने के योग्य हैं ॥ 92॥
हे गौतम, भ्रम-रहित होकर योगी पुरुष जैसे परमात्मा का ध्यान करता है, वह उसी प्रकार शिवस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है ॥13॥
जो शठ प्रथम गुणस्थान में निवास करता है, वह उत्कृष्ट **अर्थ**ात् सब से निकृष्ट बहिरात्मा है। जो द्वितीय गुणस्थान में रहता है, वह मध्यम जाति का बहिरात्मा है। और जो तृतीय गुणस्थान में वास करता है, उसे दक्ष पुरुषों ने जघन्य बहिरात्मा कहा है ॥94॥
चौथे गुणस्थान में रहनेवाला जघन्य अन्तरात्मा है, बारहवें गुणस्थान में रहनेवाला और अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है, वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है । चौथे और बारहवें इन दोनों गुणस्थानों के मध्य में जो सात शुभ गुणस्थान हैं, उन में रहनेवाले शिवमार्गगामी क्रमशः विकसित गुणवाले, अनेक प्रकार के मध्यम अन्तरात्मा हैं ॥95-96॥
अन्तिम दो गुणस्थानों में रहनेवाले परमात्मा जानना चाहिए। उन में जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती हैं, वे सयोगिजिन हैं और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिजिन कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के परमात्मा तीन लोक की जनता के आराध्य है ॥27॥
यतः जीव द्रव्यप्राणों और भावप्राणों से भूतकाल में जीता था, वर्तमानकाल में जी रहा है और भविष्यकाल में जीवेगा, अतः उसका 'जीव' यह सार्थक नाम कहा जाता है ॥98॥
स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन योग, आयु और श्वासोच्छवास ये दश ढव्यप्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होते हैं॥९९॥
मन के विना शेष नौ उक्त प्राण असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों से सन्त पुरुषों ने मा ने हैं। उक्त नौ प्राणोंमें- से कर्णेन्द्रिय के विना शेष आठ प्राण चतुरिन्द्रिय जीवों के होते हैं॥१००। इनमें से नेत्रेन्द्रिय के बिना शेष सात प्राण त्रीन्द्रिय प्राणियों के होते हैं। इनमें से घ्राणेन्द्रिय के विना शेष छह प्राण द्वीन्द्रिय जीवों के होते हैं ॥101॥
उनमें से रसनेन्द्रिय और वचन के विना शेष चार प्राण एकेन्द्रिय जीवों के आगम में मा ने गये हैं। इस प्रकार पर्याप्त जीवों के ये अनेक प्रकार के प्राण जानना चाहिए ॥102॥
ज्ञान और दर्शनरूप चेतना भावप्राण है। निश्चय नय से जीव चेतना लक्षणवाला है, उपयोगमयी है, महान् है, कर्म नोकर्म और बन्ध-मोक्षादि कार्यों का अकर्ता है, असंख्यात प्रदेशी है, अमूर्त है, सिद्ध भगवान के सदृश है और सर्व परद्रव्यों से रहित है ऐसा दक्षपुरुष निश्चयनय की अपेक्षा से कहते हैं ॥103-104॥ अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से वह जीव रागादि भावकहे का कर्ता और उनके फल का भो का है और अपने आत्मीय ज्ञान से बहिर्भत है ॥105॥
अपने आत्मध्यान से पराङ्मुख हुआ जीव उपचरित व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि कोका, और औदारिकादि शरीररूप नोकर्मो का कर्ता है, तथा असद्भूतोपचरित व्यवहारनय से यह अपनी इन्द्रियों से उगाया हआ संसारी जीव घट-पट आदि द्रव्यों का भी कर्ता कहा जाता है ॥ 106-107॥
समुद्धात-अवस्था के सिवाय यह जीव सदा शरीर-प्रमाण रहता है। संकोच-विस्तारगुण के निमित्त से यह छोटे-बड़े शरीर में प्रदीप के समान

निरन्तर अवगाह को प्राप्त होता रहता है ॥108॥

मूल शरीर को नहीं छोड़ते हुए कुछ आत्म प्रदेशों के बाहर निकल ने को समुद्घात कहते हैं। वह सात प्रकार का है-१ वेदना, 2 कषाय, 3 वैक्रियिक, 4 मारणान्तिक, 5 तेजस, 6 आहारक और 7 केवलिसमुद्धात । इन सात समुद्धातोंमें से अन्त के तीन समुद्धात योगियों के जानना चाहिए और प्रारम्भ के शेष चार समुद्रात सर्व संसारी जीवों के मा ने गये हैं ॥102-110॥ जीवक कंवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वाभाविक गुण हैं और मतिज्ञानादि कमें-जनित वैभाविक गण जानना चाहिए ॥11॥

मनुष्य नारक और देवादि वैभाविक पर्याय है और शरीर-रहित शुद्ध आत्मप्रदेश स्वाभाविक पर्याय है ॥112॥

संसारी जीव जन्म-मरण करता रहता है, अतः मरण-समय पूर्व शरीर का विनाश होता है, जन्म लेते हुए नवीन शरीर का उत्पाद होता है और आत्मा तो दोनों ही अवस्थाओं में वही का वही ध्रौव्यरूप से रहती है, अतः जीव के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही हैं ॥113॥

इस प्रकार से जिनेन्द्रदेव ने अनेक नय-भंगादि की विवक्षा से मनुष्य-देवादि गणों को सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए जीवतत्त्व का अनेक प्रकार से उपदेश दिया ॥114॥

तत्पश्चात् जिनदेव ने अजीवतत्त्व का उपदेश देते हुए कहा कि वह पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोक-अलोकरूप आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है ॥115॥

पुद्गल अनन्त हैं और वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय है । पूरण और गलन होने से यह 'पुद्गल' ऐसा सार्थक नामवाला है ॥116॥

सामान्यतः अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल दो प्रकार का है । पुद्गल के अविभागी अंश को अणु कहते हैं। दो या दो से अधिक अणुओं के समुदाय को स्कन्ध कहते हैं। विस्तार की अपेक्षा वह अनेक भेदवाला है ॥117॥

अथवा सूक्ष्मसूक्ष्म आदि के भेद से पुद्गल के छह भेद मा ने गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. सूक्ष्मसूक्ष्म, 2. सूक्ष्म, 3. सूक्ष्मस्थूल, 4. स्थूलसूक्ष्म, 5. स्थूल और 6. स्थूलस्थूल । ये छहों प्रकार के पुद्गल स्निग्ध क्ष गण से संयुक्त जानना चाहिए ॥118-119॥

एक अण सूक्ष्मसूक्ष्म पुदगल है, जो कि मनुष्यों की आँखों से अदृश्य है। आठ कर्ममयी स्कन्ध सूक्ष्म पुद्गल हैं ॥120॥

शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध ये सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं। छाया, चन्द्रिका, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं ॥121॥

जल, अग्निज्वाला आदि अनेक प्रकार स्थूल पुद्गल मा ने गये हैं और भूमि, विमान, पर्वत, मकान आदि स्थूलस्थूल पुद्गल जानना चाहिए ॥ 122॥

(पुद्गल में जो स्पर्शादि चार गुण कहे गये हैं, उन में स्पर्श के आठ भेद हैं, रस के पाँच, गन्ध के दो और वर्ण के पाँच भेद होते हैं। ) स्पर्शादि के ये बीस गुण अणु में निर्मल स्वाभाविक हैं और स्कन्ध में वे स्पर्शादि 22 और विभावरूप गुण हैं ॥123॥

अनेक प्रकार का शब्द, स्थूल-सूक्ष्म की अपेक्षा से दो प्रकार का बन्ध, छह प्रकार का संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप तथा उद्योत आदि पुद्गल की विभाव संज्ञावाली पर्याय है, (जो कि स्कन्धों में होती है ) । पुद्गलों की स्वभावपर्याय अणुओं में होती है ॥124-125॥

शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, और पाँच इन्द्रियाँ आदि सब पुद्गलों की पर्याय हैं, जो कि प्राणियों के होती हैं ॥126॥

ये पुद्गल संसार में जीवों के जीवन, मरण, सुख, दुःख आदि अनेक प्रकार के उपकारों को करते हैं ॥127॥

एक अणु की अपेक्षा संसार में शरीर नहीं बन सकता है, किन्तु बहुत अणुओं की अपेक्षा से शरीर बनता है, अतः स्कन्ध में अणु के उपचार से शरीर को पुद्गल की पर्याय कहा जाता है ॥128॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और पुद्गलों की गति का सहकारी कारण माना गया है। कर्ता या प्रेरक नहीं है । जैसे संसार में जल मत्स्य की गति का सहकारी कारण माना जाता है। यह धर्मास्तिकाय अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य है ॥129॥

अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और पुद्गलों की स्थिति का सहकारी कारण है, जैसे पथिकजनों के ठहर ने में छाया सहकारी कारण मानी जाती है। यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी स्थिति का कर्ता या प्रेरक नहीं है और नित्य अमूर्त और क्रियाहीन हे ॥130॥

लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से यहाँ आकाश दो प्रकार का है। यह सर्व द्रव्यों को ठहर ने के लिए अवकाश देता है। यह भी मूर्ति-रहित और निष्क्रिय है ॥131॥

जित ने आकाश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव रहते हैं, वह लोकाकाश कहा जाता है ॥132॥

उस से बाहर जितना भी अनन्त आकाश है, वह अलोकाकाश कहलाता है । उस में आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं पाया जाता

है। यह दोनों भेदरूप आकाश नित्य, अमूर्त, क्रियाहीन और सर्वज्ञ के दृष्टिगोचर है ॥133॥
जो द्रव्यों का नवीन जीणं आदि पर्यायों के द्वारा परिवर्तन करता है, वह समयादिरूप व्यवहारकाल है ॥134॥
लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान जो एक-एक कालाणु भिन्न-भिन्न प्रदेशरूप से स्थित हैं, उन निष्क्रिय स्वरूपवाले असंख्य कालाणुओं को सन्तों के लिए जिनेन्द्रों ने 'निश्चयकाल' इस नाम से कहा है ॥135-136॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, एक जीव और लोकाकाश, इन के असंख्यात प्रदेश कहे गये हैं, किन्तु काल के प्रदेश कभी नहीं होते हैं । अतएव काल के बिना शेष पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। काल के साथ वे ही सब श्री जिनागम में षद्रव्य कहे गये हैं ॥137-138॥
इस लोक में जितना आकाश एक अणु के द्वारा व्याप्त है, उतना आकाश ज्ञानियों के द्वारा एक प्रदेश कहा गया है। वह एक प्रदेश भी अपनी अवगाहनाशक्ति से समस्त परमाणओं को अवगाह देने की शक्ति रखता है ॥13 रागी जनों के रागादि से दूषित जिस भाव के द्वारा कर्म आत्मा के भीतर आते हैं, वह भावास्रव है ॥140॥
दुर्भाव-संयुक्त जीव में मिथ्यात्व आदि कारणों से पुद्गलों का कर्मरूप से जो आगमन होता है, वह जैनागम में द्रव्यास्रव माना गया है ॥ 141॥
इस आस्रव के मिथ्यात्व आदि कारण विस्तार से मैं ने पहले अनुप्रेक्षा के स्थल पर कहे हैं, उन्हें जान लेना चाहिए॥१४२॥
जीव के राग-द्वेषमयी जिस चेतन परिणाम से कर्म बँधते हैं, वह भावास्रव है ॥143॥
उस भावबन्ध के निमित्त से जीव और कर्म का जो परस् पर संश्लेष होता है, वह ज्ञानियों के द्वारा द्रव्यबन्ध माना गया है । यह चार प्रकार का है-१. प्रकृतिबन्ध, 2. स्थितिबन्ध, 3. अनुभागबन्ध और 4. प्रदेशबन्ध । यह चारों ही प्रकार का बन्ध अशुभ है और समस्त अनर्थो की खानि है ॥144-145॥
इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगों से होते हैं और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं, ये सब प्राणियों को दुःख देते है। ऐसा मुनिजनों ने कहा है ॥146॥
ज्ञानावरणकर्म जीवों के मतिज्ञानादि सद्-गुणों को आच्छादित करता है । जैसे कि वस्त्र देवमूर्तियों के मुखों को आच्छादित करते हैं॥१४७॥ दर्शनावरणकर्म चक्षदर्शन आदि दर्शनों को रोकता है । जैसे कि द्वारपाल राजा से मिल ने के लिए आये हुए लोगों को अपने कार्य आदि करने में रोकता है ॥148॥
मधुलिप्त खड्गधारा के समान वेदनीय कर्म मनुष्यों को सुख तो सरसों के समान अल्प देता है और दुःख मेरु के समान भारी देता है ॥ 149॥
मोहनीयकर्म मूढजनों को मदिरा के समान सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और धर्म-कर्मादि के विचार में विकल करता है ॥150॥
आयुकर्म शरीररूपी बन्दीगृह से जीवों को इच्छानुसार अभीष्ट स्थान पर नहीं जाने देता है और साँकल से जकड़े हुए के समान दुःख शोक आदि समस्त अशुभ वेदनाओं का आकर है ॥151॥
नामकर्म चित्रकार के समान जीवों के साँप, मार्जार, सिंह, हाथी, मनुष्य और देवादि के अनेक रूपों को करता है ॥152॥
गोत्रकर्म कुम्भकार के समान कभी तीन लोकपूजित उच्चगोत्र में जीवों को उत्पन्न करता है और कभी मनुष्यों से निन्दित नीचकुल में उत्पन्न करता है ॥153॥
अन्तरायकर्म भण्डारी के समान सदा ही जीवों के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पाँचों की प्राप्ति में विघ्न करता है ॥154॥
इत्यादि प्रकार से आठों कर्मों के अनेक जातिरूप स्वभाव जानना चाहिए। जीवों के ये कर्मागमन के कारण प्रति समय होते रहते हैं, अतः जीव उन से बँधता रहता है ॥155॥
( यह प्रकृतिबन्ध का स्वरूप कहा । अब कर्मों के स्थितिबन्ध को कहते हैं)-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर-प्रमाण है ॥156॥
दर्शनमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर-प्रमाण है। नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरप्रमाण है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने आठों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति कही ॥157-158॥
वेदनीयकर्म को जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त-प्रमाण है। नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त-प्रमाण है और शेष पाँच कर्मों की

जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है। मध्यम स्थिति सर्व कर्मों की मनुष्यों के (जीवों के ) अनेक प्रकार की जाननी चाहिए ॥159-160॥
(अब कर्मों का अनुभागबन्ध कहते हैं-) अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभागबन्ध निम्ब-सदृश, कांजीर-सदृश, विष-सदृश और हालाहाल के सदृश चार प्रकार का अशुभ होता है ॥161॥ सभी शुभकर्म प्रकृतियों का अनुभागबन्ध गुड़-सदृश, खाँड-सदृश, शक्कर-सदृश और अमृत के सदृश प्राणियों के शुभ होता है ॥162॥
इस प्रकार संसारी प्राणियों को सुख-दुःखादि का देनेवाला सर्वकर्मो का अनेक जातिवाला अनुभाग क्षण-क्षण में उत्पन्न होता रहता है ॥ 163॥
( अब प्रदेशबन्ध कहते हैं-) रागी जीव के सर्व आत्म-प्रदेशों पर अनन्तानन्त संख्यावाले सूक्ष्म कर्म पुद्गल परमाणु सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और वे परमाणुओं से भरे हुए एक क्षेत्र में निरन्तर एक प्रदेशावगाही होकर अवस्थित होते रहते हैं । यह प्रदेशबन्ध ही समस्त दुःखों का सागर है ॥164-165॥
यह चारों प्रकार का कर्म-बन्ध सर्व दुःखों का कारण है, अतः दक्ष पुरुषों को चाहिए कि वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप बाणों के द्वारा उसका शत्रु के समान विनाश कर ॥166॥
राग-द्वेष से रहित जो महान् चैतन्य-परिणाम कर्मास्रव के विरोध का कारण है, वह भावसंवर है ॥167। इसलिए योगी पुरुष महाव्रतादि के पालन और उत्तम ध्यान के द्वारा जो कर्मास्रव का निरोध करते हैं, वह सुखों का आकर द्रव्यसंवर है ॥168॥
संवर के कारण जो व्रत समिति गुप्ति आदिक और परीषहजयादिक मैं ने पहले कहे हैं, वे बुधजनों के द्वारा जान ने के योग्य हैं ॥169॥
कर्मों के आत्मा के भीतर से झड़ ने को निर्जरा कहते हैं। वह जीवों के सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें से अविपाकनिर्जरा तपस्वी मुनियों के होती है और सविपाकनिर्जरा सर्व प्राणियों के होती है ॥170॥
निर्जरा का विस्तार से वर्णन पहले कहा है, अतः पुनरुक्तादि दोष के भय से अब नहीं करता हूँ ॥171॥
शिवार्थी मनुष्य का जो अत्यन्त शुद्ध परिणाम सर्व कमौ के क्षय का कारण होता है, वह जिनेन्द्रों के द्वारा भावमोक्ष माना गया है ॥172॥
अन्तिम शुक्लध्यान के योग द्वारा सर्व कर्मजालों से आत्मा का विश्लेष ( सम्बन्धविच्छेद ) होता है, वह द्रव्यमोक्ष कहा जाता है ॥173॥
जिस प्रकार पैरों से लगाकर मस्तक-पर्यन्त कोटि-कोटि बन्धनों से बँधे हुए जीव के बन्धनों के विमोचन से परम सुख होता है, उसी प्रकार असंख्य कर्म-बन्धनों के द्वारा सर्वाङ्ग में बंधे हुए जीव के भी उनके विमोक्ष से निराबन्ध चरम सीमा को प्राप्त अनन्त सुख प्रति समय होता है ॥174-175॥
जब यह आत्मा समस्त कर्म-बन्धनों से विमुक्त होता है, तभी वह अमूर्त ज्ञानवान और अति निर्मल आत्मा ऊर्ध्वगामी स्वभाव होने से ऊपर को जाता है, **अर्थ**ात् लोकान्त में जाकर अवस्थित हो जाता है ॥176॥
वहाँ पर वह महान ज्ञानशरीरी मुक्तजीव आत्मोत्पन्न, निराबाध, निरुपम, विषयातीत, सर्व-द्वन्द्व-विमुक्त, आत्यन्तिक, वृद्धि हानि से रहित, शाश्वत और सर्वोत्कृष्ट सुख को भोगता है ॥177-178॥
इस संसार में जो अहमिन्द्रादि देव हैं, चक्रवर्ती आदि मनुष्य हैं, भोगभूमिज आर्य और पशु हैं, तथा व्यन्तरादिक हैं, इन सब ने जितना सुख आज तक भोगा है, वर्तमान में प्रतिदिन भोग रहे हैं और भविष्यकाल में भोगेंगे, वह सब विषय-जनित सुख यदि एकत्र पिण्डित कर दिया जाये, तो उस पिण्डीकृत सुख से अनन्त-गुणित विषयातीत सुख को कर्मशरीर से रहित सिद्ध जीव एक समय में भोगते हैं ॥179-281॥
ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग उस अनन्त गुणवाले सुख की प्राप्ति के लिए तप और रत्नत्रय के द्वारा मोक्ष की प्रमाद-रहित होकर साधना करते हैं ॥182॥
इस प्रकार शिवगति के कारणभूत सात तत्त्वों को और भव्यजीवों के योग्य दर्शन-ज्ञान के समग्र बीजों को समस्त देव-मनुष्यादिगणों की दृग्विशुद्धि के लिए नरपति, खगपति और सुरपति से पूजित वीर जिनेन्द्र ने दिव्यध्वनि से कहा ॥18॥
.. * जिन के चरण देवेन्द्रों और नरेन्द्रों से वन्दित हैं, योगीजन जिन का ध्यान करते हैं, जिन के द्वारा त्रिलोक-नमस्कृत प्रभुता प्राप्त की गयी है, जिस के लिए संसार के समस्त अधीश्वर नमस्कार करते हैं, जिस से बड़ा कोई दूसरा त्रिभुवन में गुरु नहीं है, जिस के गुण अनन्त हैं, और जिस के विषय में मुक्ति वधू इच्छा करती है उन वीर प्रभु को उन की विभूति पा ने के लिए मैं उन की स्तुति करता हूँ ॥184॥
इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकोति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में गौतम के प्रश्न और उनके उत्तर में सात तत्त्वों का वर्णन करनेवाला यह

सोलहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥16॥

## सत्रहवाँ-अधिकार

गौतम गणधर के प्रश्नों के उत्तर

कथा :

त्रिलोक के नाथ, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से विभूषित, समस्त तत्त्वों के उपदेशक और विश्व के बन्धु ऐसे श्री वीरजिनेश की मैं वन्दना करता हूँ ॥11॥

अथानन्तर वीरनाथ ने बतलाया कि ये जीवादि सात तत्त्व ही पुण्य और पाप इन से संयुक्त होने पर नौ पदार्थ कहे जाते हैं। ये पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के कारण हैं ॥2॥

तत्पश्चात् तीर्थश सर्वज्ञ वीरनाथ ने विस्तार से पुण्य-पाप के कारण और फल भव्य जीवों के संवेग की प्राप्ति के लिए इस प्रकार से कहे ॥3॥

एकान्त विपरीत आदि पाँच प्रकार के मिथ्यात्वोंसे, क्रोधादि चार क्रूर कषायोंसे-षटकायिक जीवों की हिंसादि करने रूप असंयमों से, पन्द्रह प्रमादों से, सर्व निन्दनीय मन-वचन-कायरूप तीन योगों से, कुटिलकर्मों से, अति आर्त, रौद्ररूप ध्यानों से, कृष्णादि अशुभ लेश्याओं से, तीन शल्यों से, तीन दण्डों से, कुगुरुकुदेवादि की सेवा करने से, धर्मादि के कर्मों को रोकने से और पापों के करने का उपदेश देने से, तथा इसी प्रकार के अन्य दुराचारों से इस लोक में पापियों में सदा उत्कृष्ट पापकर्मों का संचय होता रहता है ॥4-6॥

परस्त्री, परधन और परवस्त्रादि में लम्पट, राग से दूषित, क्रोधमोहरूप अग्नि से सन्तप्त, विवेक-विचार से रहित, निर्दय, मिथ्यात्ववासना से वासित, और कुशास्त्रों का चिन्तवन करनेवाला और विषयों से व्याकुलित मन मनुष्यों के घोर पाप उत्पन्न करता है ॥७-८॥

संसार में पर-निन्दाकारक, स्वप्रशंसाकारक, निन्दनीय, असत्य से दूषित, पाप-प्ररूपक, कुशास्त्राभ्यास-संलग्न, तपोधर्मादि-दूषक और जिनागम-बाह्य वचन पुरुषों के महापाप का संचय करते हैं ॥9-10॥

क्रूर, क्रूरकर्म-कारक, वध-बन्ध-विधायक, दुःखद कार्य करनेवाला, विकार को प्राप्त, दान-पूजादि से रहित, स्वेच्छाचरणशीलवाला, और व्रत-तप से पराङ्मुख काय पापी जनों के नरक के कारणभूत महापाप को उपार्जन करता है ॥11-12॥

जिनेन्द्र देव, जिन सिद्धान्त, और निग्रन्थ धर्मधारक गुरुजनों की निन्दा करने से दुर्बुद्धि लोगों के निन्द्य महापाप उत्पन्न होता है ॥13॥

इत्यादि महापाप के निमित्तभूत प्रचुर निन्द्यकर्मों का श्री जिनेश्वर देव ने मनुष्यों को पापों से डरने के लिए उपदेश दिया ॥14॥

पापकर्म के उदय से ही क्रूर स्त्री, लोकनिन्द्य और शत्रुतुल्य बान्धव, दुर्व्यसनों से युक्त पुत्र, प्राण-घातक स्वजन, रोग-क्लेश-दरिद्रतादि तथा वध-बन्धनादि और सर्व प्रकार के दुःखादिक पापियों के उत्पन्न होते हैं ॥15-16॥

पापकर्म के उदय से ही प्राणी संसार में अन्धे, गूंगे, कुरूप, विकलाङ्गी, सुख-रहित, पंगु, बहिरे, कुबड़े, परघर में दास बनकर काम करनेवाले, दीन, दुबुद्धि, निन्द्य, क्रूर, पाप-परायण, और पापवर्धक शास्त्रों में निरत होते हैं ॥17-18॥

समस्त दुःखों के भंडार जो सात नरक हैं, सर्व दुःस्त्रों की खानि जो तिर्यग्योनि है, मातंग आदि के जो नीच कुल हैं और पापों की भूमि जो म्लेच्छजाति है, पापी जीव परभव में उन में उत्पन्न होकर वचन-अगोचर दुःखों को पाते हैं ॥19-20॥

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक में जित ने कुछ भी महान् दुःख हैं, क्लेश, दुर्गति-गमन और शारीरिक मानसिक आदि दुःख हैं, वे सब पाप से ही प्राप्त होते हैं ॥21॥

इस प्रकार से पाप कर्म के फल को जानकर सुखार्थीजनों को कोटिशत कों के होने पर और प्राणों के वियोग होने पर भी पाप के कार्य कभी भी नहीं करना चाहिए ॥22॥

इस प्रकार समवशरण सभा में विद्यमान सभ्यों को पापों से डरने के लिए पाप के फलादि का व्याख्यान करके पुनः पुण्य के कारणादि को इस प्रकार कहा ॥23॥

जित ने भी सभी पाप के कारण हैं, उन से विपरीत आचरण करनेसे, शुभ कार्यों के करनेसे, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे, अणुव्रत और महावतों के पालनेसे, कषाय, इन्द्रिय और मनोयोगादि के निग्रह करनेसे, नियमादि धारण करनेसे, उत्तम दान देनेसे, पूजन करनेसे, अहंद्-भक्ति, गुरुभक्ति आदि करनेसे, शुभ भावना रखनेसे, ध्यान-अध्ययन आदि उत्तम कार्यो से और धर्मापदेश देने से पण्डित जन परम पुण्य

को प्राप्त करते हैं॥२४-२६॥

वैराग्य में तत्पर, धर्मवासना से वासित, पाप से दूर रहनेवाला, पर-चिन्ता से विमुक्त, स्वात्मचिन्ता और व्रत में परायण, देव-गुरु-शास्त्र की परीक्षा करने में समर्थ और करुणा से व्याप्त मन उत्कृष्ट पुण्य को उत्पन्न करता है ॥27-28॥

पंचपरमेष्ठी के जाप, स्तोत्र और गुण कथन में तत्पर, स्वनिन्दाकारक, पर-निन्दा से दूर रहनेवाला, सुकोमल, धर्म का उपदेश देनेवाला, मिष्ट और सत्य की सीमा आदि से युक्त वचन अरिहन्तपद आदि को उत्पन्न करनेवाले पुण्य को सज्जनों के उत्पन्न करता है ॥29-30॥

कायोत्सर्ग आसन को प्राप्त, जिनेन्द्र पूजन में उद्यत, गुरुसेवा में तत्पर, पात्रदान करनेवाला, विकार से रहित, शुभ कार्य करनेवाला और समता भाव को प्राप्त काय बुद्धिमानों के सर्व सुख उत्पन करनेवाले अद्भत पुण्य को उत्पन्न करता है ॥31-32॥

जो बात अपना अनिष्ट करनेवाली है, उसे कभी भी, जो दूसरों के लिए नहीं चिन्तवन करता है, उसके सर्वदा परम पुण्य का उपार्जन होता रहता है, इस में कोई संशय नहीं है ॥33॥

इस प्रकार से तीथ के सम्राट् वर्धमान स्वामी ने पुण्य के कारणभूत बहुत से कार्यों को कहकर द्वादशगण के जीवों को संवेग-प्राप्ति के लिए पुनः उन्हों ने पुण्य के अनेक प्रकार के फलों को कहा ॥34॥ पुण्य के फल से जीव सुन्दर शरीरवाली स्त्रियोंको, कामदेव के समान सुपुत्रोंको, मित्रतुल्य स्वजनोंको, सुन्दर शरीरको, मिष्ट शुभ वचनको, करुणा से व्याप्त मनको, और रूपलावण्य-सम्पदा को तथा अन्य भी दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करते हैं ॥35-37॥

पुण्य के उदय से तीन लोक में स्थित, पुण्यकारिणी लक्ष्मी गृहदासी के समान धर्मी पुरुषों के वश में होकर स्वयं प्राप्त होती है ॥38॥

पुण्य के उदय से सज्जनों को मुक्ति का कारण तथा तीन लोक के स्वामियों से पूज्य उत्कृष्ट सर्वज्ञवैभव प्राप्त होता है ॥39॥

पुण्य के उदय से सुकृती पुरुष समस्त देवों से पूज्य, सर्व भोगों का एक मात्र मन्दिर, और संसार की श्रेष्ठ लक्ष्मी से भूषित इन्द्रपद प्राप्त होता है ॥40॥

पुण्यसेवी पुरुषों के पुण्य के उदय से नौ निधि और चौदह रत्नों से परिपूर्ण, षट् खण्ड भूमि में उत्पन्न और सुख की भण्डार ऐसी चक्रवर्ती की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥41॥

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ अथवा दुर्घट सार उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब हे भव्यो, शुभ पुण्य से तत्क्षण प्राप्त होती हैं ॥42॥

इत्यादि विविध प्रकार के पुण्य के श्रेष्ठ फर को जानकर सुख के इच्छुक जनों को प्रयत्न पूर्वक उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करना चाहिए ॥43॥

इस प्रकार से जिनाग्रणी जिनराज ने पुण्य-पाप के साथ सात तत्त्वों को कहकर गणों के लिए उनके हेय-उपादेयादि कारक कर्तव्यों को कहना प्रारम्भ किया ॥44॥

इस संसार में सर्व जीव-राशियों के मध्य पाँचों ही परमेष्ठी सज्जनों के उपादेय जानना चाहिए, क्योंकि ये समस्त भव्य जीवों के हित करने में उद्यत हैं ॥45॥ निर्विकल्पपद के इच्छुक मुमुक्षुजनों को ज्ञानवान्, सिद्ध-सदृश, और गुणों का सागर ऐसा अपना आत्मा ही उपादेय है ॥46॥

अथवा शुद्ध निश्चयनयसे, व्यवहार से परवर्ती ज्ञानियों को सभी जीव उपादेय जानना चाहिए ॥47॥

व्यवहारनय की अपेक्षा इस संसार में सभी मिथ्यादृष्टि, अभव्य, विषयासक्त, पापी और शठ जीव हेय हैं॥४८॥

सरागी मनुष्यों को धर्मध्यान के लिए कहीं पर अजीवतत्त्व उपादेय है और विकल्प त्यागी **अर्थ**ात् निर्विकल्प योगियों के लिए अजीवतत्त्व हेय है ॥49॥

सरागी जीवों को क्वचित् कदाचित् पुण्यास्रव और पुण्य बन्ध दुष्कर्मों ( पापों) की अपेक्षा उपादेय हैं और मुमुक्षु जनों को मुक्ति की प्राप्ति के लिए वे दोनों हेय हैं ॥50॥

अयत्न-जनित पापास्रव और पापबन्ध समस्त दुःखों के कारण हैं, निन्द्य हैं, अतः वे सर्वथा ही हेय हैं ॥51॥

संवर और निर्जरा सर्वयत्न से सर्वत्र उपादेय हैं ॥52॥

इस हेय और उपादेय तत्त्व को जानकर निपुण पुरुष प्रयत्नपूर्वक हेय का परित्याग कर सर्व उपादेय उत्तम तत्त्व को ग्रहण करें ॥53॥

अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती गृहस्थ और सकलव्रती सरागसंयमी साधु मुख्यरूप से पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध का कर्ता होता है ॥54॥

और कभी मिथ्यादृष्टि जीव भी पापकर्मों के मन्द उदय होने पर भोगों की प्राप्ति के लिए शारीरिक क्लेशादि सह ने से पुण्यासव और पुण्यबन्ध को करता है ॥55॥

दुराचारी मिथ्यादृष्टि करोड़ों खोटे आचरणों के द्वारा मुख्य रूप से पापात्रव और पापबन्ध का विधाता होता है ॥56॥

संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन तत्त्वों के कर्त्ता संसार में केवल जितेन्द्रिय, रत्नत्रय-विभूषित और दक्ष योगी ही होते हैं ॥57॥

भव्य जीवों को संवरादि तीन तत्त्वों की सिद्धि के लिए व्यवहारनय से इस लोक में पंचपरमेष्ठी कारण जानना चाहिए और निश्चयनय से निर्विकल्प निज आत्मा ही कारण जानना चाहिए ॥58॥

मिथ्यादृष्टि जीव इस लोक में अपने और अन्य अज्ञानी जीवों के पापास्रव और पापबन्ध के लिए संसार के कारण भूत होते हैं ॥59॥

इस प्रकार समस्त बुद्धिमानों को पाँच प्रकार का अजीवतत्त्व निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण जानना चाहिए ॥60॥

दृष्टिशाली **अर्थ**ात् सम्यग्दृष्टि जीवों के पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध तीर्थंकरादि की विभूति के कारणभूत हैं और मिथ्यादृष्टियों के पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध संसार के कारण हैं ॥61॥

अज्ञानी मिथ्यात्वियों के पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध ये दोनों ही केवल संसार के कारण और समस्त दुःखों के निमित्त जानना चाहिए ॥62॥

संवर और निर्जरा मुक्ति के परम्परा कारणभूत हैं और मोक्ष अनन्त सुख-सागर का साक्षात् हेतु है ॥63॥

इस प्रकार सर्व पदार्थों के स्वामी, हेतु और फलादि को कहकर पुनः भगवान् ने गौतम के शेष प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥64॥ जो जीव सप्त दुव्यसनों में आसक्त हैं, पर-स्त्री और पर-धन आदि की आकांक्षा रखते हैं, बहत आरम्भ-समारम्भ करने में उत्साही हैं, बहत लक्ष्मी और परिग्रह के संग्र महमें उद्यत हैं, क्रूर हैं, क्रूर कर्म करनेवाले हैं; निर्दयी हैं, रौद्र चित्तवाले हैं, रौद्रध्यान में निरत हैं, नित्य ही विषयों में लम्पट हैं, मांस-लोलुपी हैं, निन्द्य कर्मों में संलग्न हैं, निन्दनीय हैं, जैनशास्त्रों के निन्दक हैं, जिनेन्द्रदेव, जिनधर्म और उत्तम गुरुजनों के प्रतिकूल आचरग करते हैं, कुशास्त्रों के अभ्यास में संलग्न हैं, मिथ्यामतों के मद से उद्धत हैं, कुदेव और कुगुरु के भक्त हैं, खोटे कर्मों और पापों की प्रेरणा देते हैं, दुष्ट हैं, अत्यन्त मोही हैं, पाप करने में कुशल हैं, धर्म से दूर रहते हैं, शील-रहित हैं, दुराचारी हैं, व्रतमात्र से पराङ्मुख हैं, जिन का हृदय कृष्णलेश्या-युक्त रहता है, जो भयंकर हैं, पाँचों महापापों को करते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से दुष्कर्मों के करनेवाले हैं, ऐसे समस्त पापी जीव इन दुष्कर्मों से उत्पन्न हुए पाप के द्वारा, तथा रौद्रध्यान से मरकर पापियों के घर नियम से जाते हैं ॥65-71॥

वह पापियों का घर पहले से लेकर सातवें तक सात नरक हैं, वे पापी अपने दुष्कर्म के अनुसार यथायोग्य नरकों में जाते हैं। वे नरक संसार के समस्त दुःखों के निधानस्वरूप हैं और उन में अर्ध निमेष मात्र भी सुख नहीं है ॥72॥

जो मायाचारी हैं, अति कुटिलतायुक्त कोटि-कोटि कार्यों के विधायक हैं, पर-लक्ष्मी के अपहरण करने में आसक्त हैं, दिन-रात के आठों पहरों में खाते-पीते रहते हैं, महामूर्ख हैं, खोटे शास्त्रों के ज्ञाता हैं, धर्म मानकर पशुओं और वृक्षों की सेवा-पूजा करते हैं, शुद्धि के लिए नित्य स्नान करते हैं, कुतीर्थों की यात्रार्थ जाने को उद्यत रहते हैं, जिनधर्म से बहिभूत है, व्रतशीलादि से दूर रहते हैं, निन्दनीय हैं, कापोतलेश्या से युक्त हैं, सदा आर्तध्यान करते रहते ह, तथा इसी प्रकार के अन्य दुष्कर्मों के करने में जो मूढचित्त पुरुष संलग्न रहते हैं, वे आर्तध्यान से मरण कर दुःखों से विह्वल हो बहुत दुःखों की खानिरूप तिर्यग्गति में जाते हैं, जहाँ पर वे उत्पत्ति से लेकर मरण-पर्यन्त पराधीन और दुःखी रहते हैं ॥73-77॥

जो नास्तिक हैं, दुराचारी हैं, परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र शास्त्र आदि को नहीं मानते हैं, दुर्बुद्धि हैं, विषयों में अत्यन्त आसक्त हैं, तीव्र मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, ऐसे जीव अनन्त दुःखों के सागर ऐसे निगोद को जाते हैं। और वहाँ पर वे पापी अपने पाप से अनन्त काल-पर्यन्त वचनातीत जन्म-मरण-जनित महादुःखों को भोगते हैं ॥78-80॥

जो तीर्थंकरोंकी, सद्-गुरुओंकी, ज्ञानियोंकी, धर्मात्माओंकी, तपस्वियों की सदा सेवा भक्ति और पूजा करते हैं, जो पंच महाव्रतों का और अर्हन्तदेव वा निर्ग्रन्थ गुरुओं की आज्ञा का पालन करते हैं, ऐसे मुनिजन है, तथा जो सर्व अणुव्रतों का पालन करते हैं, ऐसे श्रावक हैं, जो हर्ष से अपनी शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तपों को करते हैं, जो ज्ञानी कषाय और इन्द्रियरूप चोरों का निग्रह करके तथा आर्त-रौद्रध्यान को दूर करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याते हैं, मन को जीतनेवाले हैं, शुभलेश्याओं से जिन का चित्त युक्त है, जो अपने हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी हारको, दोनों कानों में ज्ञानरूप कुण्डल-युगलको, और मस्तक पर चारित्ररूप मुकुट को धारण करते हैं, जो

संसार, शरीर, भोग और भवनादिक में अतिसंवेग भाव रखते हैं, जो सदाचार की प्राप्ति के लिए सदा शुभ भावनाओं को भाते रहते हैं, जो प्रतिदिन क्षमादि दशलक्षणों से उत्तम धर्म को अपनी शक्ति के अनुसार स्वयं करते हैं, और वचनों के द्वारा धर्म-पालन का भली-भाँति उपदेश देते हैं, इन और इसी प्रकार के अन्य शुभ आचरणों से जो महान् धर्म का उपार्जन करते हैं, वे सब जीव मरकर शुभध्यान के योग से देवों के आलय (स्वर्ग) को जाते हैं ॥81-88॥

जो संसार में श्रावक, मुनि और सम्यग्दर्शन से भूषित दक्ष पुरुष हैं, वे नियम से कल्पवासी देवों में उत्पन्न होते हैं, उन की व्यन्तरादि गति कभी नहीं होती हैं ॥89-90॥

जो मूढ अज्ञान तप से कायक्लेश करते हैं, वे जीव ही व्यन्तरादि की नीचगति को प्राप्त करते हैं ॥9॥

जो स्वभाव से मृदुता-युक्त हैं, जिन का शरीर सरलता से संयुक्त है, सन्तोषी हैं, सदाचारी हैं, सदा जिन की कषाय मन्द रहती है, शुद्ध अभिप्राय रखते हैं, विनीत है, जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनधर्म का विनय करते हैं, इन तथा ऐसे ही अन्य निर्मल आचरणों से जो जीव यहाँ पर विभूषित होते हैं, वे पुण्य के परिपाक से शुभ के आश्रयभूत आर्यखण्ड में सत्कुल से युक्त, राज्यादि लक्ष्मी के सुख से भरी हुई मनुष्यगति को प्राप्त करते हैं ॥92-94॥

जो पुरुष भक्ति से उत्तम सुपात्रों को यहाँ पर आहारदान देते हैं, वे महान् भोगों और सुखों से भरी हुई भोगभूमि को जाते हैं ॥95॥

जो मनुष्य यहाँ पर मायावी होते हैं, काम सेवन करने पर भी जिन की तृप्ति नहीं होती, शरीरादि में विकारी कार्य करते हैं, स्त्री आदि के वेष को धारण करते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, रागान्ध हैं, शील-रहित हैं और मूढचित्त हैं, ऐसे मनुष्य मरकर स्त्रीवेद के परिपाक से इस लोक में स्त्री होते है ॥96-27॥ जो शद्धाचरणशाली है, माया-कुटिलतास रहित हैं; हेय-उपादेय के विचार में चतुर हैं, दक्ष हैं, दान पूजादि में तत् पर हैं, अल्प इन्द्रियसुख से जिन का चित्त सन्तोष-युक्त है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान से विभूषित है, ऐसी स्त्रियाँ पुरुषवेद के परिपाक से यहाँ पर मनुष्य होती हैं ॥98-99॥

जो पुरुष काम-सेवन में अत्यन्त अन्ध (आसक्त) होते हैं, परस्त्री-पुत्री आदि में लम्पट है, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीड़ा में आसक्त रहते हैं, शील-रहित हैं, व्रत-रहित हैं, नीच धर्म में संलग्न हैं, नीच हैं और नीच मार्ग के प्रवर्तक हैं; ऐसे जड़ जीव नपुंसक वेद के वश से नपुंसक होते हैं ॥100-101॥

___ जो शठ पशुओं के ऊपर उन की शक्ति से अधिक भार को लादते और लदवाते हैं, पैरों से प्राणियों को मारते हैं, विना देखे मार्ग पर चलते हैं। कुतीर्थ में और पाप-कार्यादि में जाते हैं, ऐसे निर्दय चित्तवाले निन्द्य जीव मरकर अंगोपांगनामकर्म के उदय से पंगु ( लँगड़े ) होते हैं ॥102-103॥

जो जड़ लोग नहीं सु ने हुए भी पर-दोषों को ईर्ष्या से कहते हैं, पर-निन्दा, विकथा और कुशास्त्रों को सुनते हैं, केवली भगवान , श्रुत संघ और धर्मात्माओं को दूषण लगाते हैं, वे कुज्ञानावरणकर्म के विपाक से बधिर ( बहरे ) होते हैं ॥104-105॥

जो अन्य लोगों के देखे या अनदेखे दूषणों को कहते हैं, नेत्रों की विकार युक्त चेष्टा करते हैं, जो दुष्ट परस्त्रियों के स्तन, योनि आदि अंगों को आदर और प्रेम से देखते हैं, कुतीर्थी, कुदेवभक्त और कुलिंगी है, वे पुरुष चक्षुदर्शनावरणकर्म के उदय से अतीव दुःख भोगनेवाले अन्धे होते हैं ॥106-107॥

जो शठ यहाँ पर प्रतिदिन वथा ही विकथाओं को कहते रहते हैं. निर्दोष अर्हन्त, श्रुत, सद्-गुरु और धार्मिकजनों के मन-गढन्त दोषों को कहते हैं, पापशास्त्रों को अपनी इच्छा से पढ़ते हैं, और जिनागम को विनय आदि के बिना लोभ, ख्याति, पूजा आदि की इच्छा से पढ़ते हैं, जो धर्म, सिद्धान्त और तत्त्वार्थ का कुयुक्तियों से अन्यथारूप दूसरों को उपदेश देते हैं, वे जीव ज्ञानावरणकर्म के विपाक से श्रुतज्ञान से रहित मूक (गूंगे ) होते हैं ॥108-110॥

जो जीव हिंसादि पाँचों पापों में अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं, श्रीजिनेन्द्रदेव से उपदिष्ट तत्त्वार्थ को उन्मत्त पुरुष के समान यद्वा-तद्वा रूप से ग्रहण करते हैं, तथा सत्य और असत्य देव शास्त्र, गुरु, धर्म, प्रतिमा आदि को भी समान मानते हैं, ऐसे जीव मति ज्ञानावरणकर्म के उदय से विकलाङ्गी होते हैं ॥111-112॥

जो लोग कुबुद्धि से यहाँ पर सातों व्यसनों का भरपूर सेवन करते हैं, वे मूर्ख विषय-लोलुपता और मांस-भक्षण की लम्पटता से दुर्गतियों में जाते हैं ॥113॥

जो लोग नरकादि की सिद्धि के लिए व्यसनासक्त चित्तवाले मिथ्यादृष्टियों के साथ मित्रता करते हैं, और साधु पुरुषों से दूर रहते हैं, वे पापी जन विनाश को प्राप्त होते हैं, वे अति पाप के उदय से नरकादि गतियों में परिभ्रमण कर दुर्व्यसनी और दुःखों से व्याकुल दुर्गतियों में उत्पन्न होते है ॥114-115॥

जो अति लम्पट चित्तवाले पुरुष तप, संयम, व्रतादि के विना धर्म को छोड़कर नाना प्रकार के भोगों से शरीर को सदा पोषण करते रहते हैं, रात्रि में अन्नादि को खाते है, प्राणियों को अकारण वृथा पीड़ा देते हैं, अभक्ष्य वस्तुओं को खाते हैं, और करुणा से रहित हैं, वे पापी असाताकर्म के परिपाक से सर्व रोगों के भाजन, तीव्र वेदना से विह्वल चित्तवाले ऐसे महारोगी उत्पन्न होते हैं ॥116-118॥

जो पुरुष शरीर में ममता का त्याग कर तप और व्रत को पालते हैं, अपने समान सर्वजीवराशि को मानकर किसी भी जीव का कभी भी घात नहीं करते हैं, जो आक्रन्दन, दुःख, शोक आदि न स्वयं करते हैं और न दूसरों को उत्पन्न कराते हैं, वे मनुष्य यहाँ पर साता कर्म के उदय से सर्व रोगादि से दूर रहते हैं, और निरोगी सुखी जीवन यापन करते हैं ॥119-120॥ जो ज्ञानी पुरुष आभूषण आदि से शरीर का संस्कार नहीं करते हैं, और तप-नियम-योगादि के द्वारा कायक्लेश को करते हैं, परम भक्ति से जिनदेव और योगियों के चरण-कमलों की सेवा करते हैं, वे शुभकर्म के परिपाक से दिव्यरूप के धारी होते हैं ॥121-122॥

जो पश-तुल्य मढ जीव यहाँ पर शरीर को अपना मानकर उस की शुद्धि के लिए जल से प्रक्षालन करते हैं, जो रागी पुरुष आभूषणादि से शरीर का श्रृंगार करते हैं, जो शुभ (पुण्य ) की इच्छा से कुदेव, कुगुरु और कुधर्मादि की सेवा करते हैं, वे जीव अशुभ कर्म के उदय से अति बीभत्स कुरूप के धारक होते हैं ॥123-124॥

जो पुरुष जिनदेव, जिनागम और योगियों की परम भक्ति करते हैं, तप, धर्म, व्रत और नियम आदि को धारण करते हैं, खोटे ममत्व आदि का घात कर इन्द्रियरूप चोरों को जीतते हैं, ये पुरुष सुभग कर्म के उदय से लोक में सौभाग्यशाली और नेत्रप्रिय होते हैं ॥125-126॥

जो शठ मल-मूत्रादि से लिप्त मुनि पर घृणा करते हैं, जो रूप आदि मदों के गर्व से परस्त्रियों की इच्छा करते हैं, जो मृषा भाषणों से स्वजनों के प्रीति को उत्पन्न करते हैं, वे पुरुष दुर्भगनामकर्म के उदय से दुर्भागी और लोकनिन्दित होते हैं ॥127-128॥

दूसरों को छल से ठग ने में उद्यत जो पुरुष खोटी शिक्षा देते हैं और जो जड़ पुरुष सद्-असद् विचार के विना धर्म के लिए सच्चे और झूठे देव शास्त्र गुरुओं की भक्ति-पूजा करते हैं, वे मतिज्ञानावरणकर्म के उदय से दुर्बुद्धि और अशुभ प्रवृत्तिवाले होते हैं ॥129-130॥

जो पुरुष दूसरों को सद्-बुद्धि देते हैं, तप और धर्मादि कार्यों में नित्य ही जो तत्त्व-अतत्त्व और सत्य-असत्य आदि अनेक बातों का विचार करते हैं, जो उत्तम बुधजन धर्मादि सार बातों को ग्रहण करते हैं और असार बातों को छोड़ देते हैं, वे पुरुष मत्यावरण के मन्द होने से मेधावी और विद्वान् होते हैं ॥131-132॥

ज्ञान के मद से गर्व-युक्त जो पुरुष पढ़ा ने के योग्य भी व्यक्ति को नहीं पढ़ाते हैं, जो दुष्ट यथार्थ तत्त्व को जानते हुए भी अपने और दूसरों के लिए दुराचारों का विस्तार करते हैं, हितकारी जैनागम को छोड़कर ज्ञान-प्राप्ति के लिए कुशास्त्र को पढ़ते हैं, लोक में कटुक वचनालाप करते हैं, आगम-निन्दित, पर-पीडाकारी, असत्य और धर्म से पराङ्मुख वचन बोलते हैं, वे पुरुष श्रुतज्ञानावरणकर्म के उदय से महामूर्ख और निन्दनीय होते हैं ॥133-135॥

जो कालशुद्धि आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ सदा श्रीजिनागम को स्वयं पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं, धर्म-सिद्धि के लिए उसका व्याख्यान करते हैं, धर्मोपदेशादि के द्वारा अनेक भव्यजीवों को बोध देते हैं, स्वयं सदा निर्मल धर्म-कर्म में प्रवृत्ति करते हैं, हितकारी और सत्य वचन ही बोलते हैं और लोक में कभी भी असत्य वचन नहीं बोलते हैं, वे पुरुष श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से विद्वान् और जगत्पूज्य होते हैं ॥136-138॥

जिन के हृदय में संसार, भोग और शरीर से वैराग्य है, जिनेन्द्र देव और सद्-गुरु के गुणोंका, धर्म का और तत्त्वादि का धर्म-प्राप्ति के लिए सदा चिन्तवन करते हैं, जो आर्जव आदि सद्-गुणों को छोड़कर क्वचित्-कदाचित् भी कुटिलता नहीं करते हैं, वे शुभ आशयवाले पुरुष पुण्यकम के उदय से शुभ कार्यों के करनेवाले होते है ॥139-140॥

जो कुटिल अभिप्रायवाले मनुष्य परस्त्रीहरण आदि कुटिल प्रवृत्ति करते हैं, धर्मात्माजनों के उच्चाटन का चित्त में सदा विचार करते रहते हैं और दुर्बुद्धियों के दुराचारों को देखकर मन में सन्तुष्ट होते हैं, वे अशुभ कर्म के उदय से पापोपार्जन के लिए अशुभ अभिप्रायवाले उत्पन्न होते हैं ॥141-142॥

जो पुरुष तप, व्रत, क्षमादि के द्वारा, सत्पात्रदान-पूजादि के द्वारा, दर्शन-ज्ञान और चारित्र के द्वारा सदा धर्म को करते हैं, सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, वे स्वर्गादि में सुख भोगकर पुनः उच्च पदों की प्राप्ति के लिए धर्म-कार्य करते हैं, वे जीव इस लोक में धर्म के प्रभाव से धर्मात्मा उत्पन्न होते हैं ॥143-144॥

जो दुष्ट मनुष्य हिंसा, झूठ आदि के द्वारा दुर्बुद्धिसे, विषयों में आसक्ति से और कुदेवादि की भक्ति से सदा पापों का उपार्जन करते हैं, वे जीव इस लोक में ही चिरकाल तक दुःख भोगकर उस पाप कर्म के फल से नरकादि गतियों में उत्पन्न होते हैं। अहो गौतम, वे जीव दुर्गति को जाने के लिए पाप से पापी ही उत्पन्न होते हैं ॥145-146॥

जो पुरुष सत्पात्रों के लिए अति भक्ति से प्रतिदिन दान देते हैं, जिनेन्द्रदेव के और गुरुजनों के शुभ चरण-कमलों को पूजते हैं, और धर्म की सिद्धि के लिए विद्यमान बहुत से भोगों को छोड़ते हैं, वे मनुष्य इस लोक में धर्म के द्वारा महा भोग-सम्पदाओं को पाते हैं ॥147-148॥

जो परुष इस लोक में प्रतिदिन अन्याय और अत्याचार-परिपूर्ण कार्यों के द्वारा भोगों को भोगते हैं, बहुत भोगों के सेवन से भी कभी सन्तोष को प्राप्त नहीं होते हैं, और पात्रदान, जिनपूजा आदि को स्वप्न में भी नहीं करते हैं, वे उस पाप के परिपाक द्वारा भोगों से रहित दीन अनाथ उत्पन्न होते हैं ॥149-150॥

जो सदा धर्म का विस्तार करते हैं, जिनेशों का पूजन करते हैं, भक्तिभार से युक्त होकर सुपात्रों को दान देते हैं, तप, व्रत, संयमादि का आचरण करते हैं, और लोभ से दूर रहते हैं, उनके पास पुण्यकर्म के उदय से जगत् में सारभूत लक्ष्मी स्वयं जाती है ॥151-152॥

जो पुरुष समर्थ होकरके भी पात्रदान, श्री जिनपूजन, धर्म-कार्य और जैनों का उपकार नहीं करते हैं, धर्म और व्रत से दूर रहते हैं और लोभ से संसार की सम्पदाओं की वांछा करते हैं. वे जीव पाप के परिपाक से भव-भव में निर्धन और दुःख भोगनेवाले होते हैं ॥ 153-154॥

जो जीव पशुओं का अथवा मनुष्यों का उनके बन्धु जनों से वियोग करते हैं, पर-स्त्री, पर-लक्ष्मी और पर-वस्तु आदि का निरन्तर अपहरण करते हैं, तथा व्रत-शील से रहित हैं, वे जीव यहाँ पद-पद पर पाप कर्म के उदय से पुत्र, बान्धव, स्त्री और लक्ष्मी आदि इष्ट वस्तुओं से वियोग को प्राप्त होते हैं ॥155-156॥

जो पुरुष वियोग, ताड़न आदि से दूसरे जीवों को दुःख नहीं पहुँचाते हैं, सदा जैनों का उन की अभीष्ट सम्पदा से **अर्थ**ात् मनोवांछित वस्तु देकर पोषण करते हैं, यत्नपूर्वक व्रत, दान, पूजनादि के द्वारा धर्म का सेवन करते हैं, मोक्ष के विना सांसारिक सुख-स्त्री, पुत्र और धनादि की इच्छा नहीं करते हैं, उन पुण्यशाली लोगों की सुपुण्य के निमित्त से मनोभीष्ट पुत्र स्त्री और कोटि-कोटि धन के साथ इस लोक में संयोग प्राप्त होते हैं ॥157159॥

जो धर्म के अभिलाषी जन पात्रों के लिए सदा दान देते हैं, जिन-प्रतिमा और जिनालय आदि के निर्माण के लिए भक्ति के साथ धन देते हैं, उनके पूर्व संस्कार के योग से सर्वत्र उत्तम दातृत्व गुण प्राप्त होता है, जो उनके इस लोक और परलोक में कल्याण के लिए कारण होता है ॥160-161॥

जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रों के लिए दान नहीं देते हैं और तीन लोक की लक्ष्मी और सुख के इच्छुक होकरके भी जिनपजा के लिए धन नहीं देते हैं, वे कृपण अपने इस पाप के द्वारा तीन लोभ से आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदि की गति पानेवाले होते हैं ॥162-163॥

जो पुरुष अरिहन्तोंके, गणधरों के और अन्य मुनिधर्म पालन करनेवालों के लोकोत्तम गुणों का तथा उनके वचनों का उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिए सदा ध्यान करते हैं, गुण-ग्रहण करने का जिन का स्वभाव है, जो सर्वत्र सर्वदा दुर्गुणों से दूर रहते हैं, ऐसे पुरुष इस लोक में गुणवृद्धि के लिए विद्वानों द्वारा पूजित ऐसे गुणवान होते हैं ॥164-165॥

जो मूढ पुरुष दोषों को ही ग्रहण करते हैं और गुणी जनों के गुणों को क्वचित् कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते हैं, गुण-हीन कुदेव आदि के गुणों का व्यर्थ स्मरण करते हैं और मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले कुलिंगियों के दोषों को कदाचित् भी नहीं जानते हैं, वे पुरुष इस लोक में निर्गन्ध कुसुम के समान निर्गणी होते हैं ॥166-167॥

जो पुरुष मिथ्यादृष्टि कुदेवों की और खोटे आचरण करनेवाले कुलिंगियों की धर्म-प्राप्ति के लिए सेवा और भक्ति करते हैं और श्री जिननाथोंकी, धर्मात्मा सुयोगियों की सेवा-भक्ति नहीं करते हैं, वे अपने इस उपार्जित पाप से बैलों के समान पद-पद पर पर-बन्धन में

बद्ध होकर दासप ने को पाते हैं ॥168-169॥

जो लोग तीन जगत् के स्वामी अर्हन्तोंकी, गणधरोंकी, जिनागमकी, योगी जनोंकी, रत्नत्रयधर्म की और तप की निरन्तर मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक और सर्व मतान्तरों को छोड़कर आराधना करते हैं, वे इस लोक में उस पुण्य से सर्व सम्पदाओं के स्वामी होते हैं ॥ 170-171॥

जो निर्दय, व्रत-हीन मनुष्य इस लोक में दूसरों के बालकों का घात करते हैं और सन्तान आदि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार का मिथ्यात्व सेवन करते हैं, उन शठ पुरुषों के मिथ्यात्वपाप के परिपाक से उनके पुत्र अल्प आयु के धारक होते हैं, वे जीते नहीं हैं और जित ने दिन जीवित रहते हैं, उत ने दिन पुण्य और सौभाग्य आदि से हीन रहते हैं ॥172-173॥

जो मूर्ख पुत्र-लाभ के लिए चण्डि का गौरी क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओंकी, पूजा-अर्चना आदि से सेवा करते हैं, अनेक प्रकार के यज्ञ-यागादिक को करते हैं, और दूर्वा-पीपल आदि को पूजते हैं, किन्तु पुत्रादि सर्व **अर्थ**ों की सिद्धि देनेवाले अर्हन्तों की पूजा-उपासना नहीं करते हैं, वे पुरुष मिथ्यात्व कर्म के उदय से भव-भव में पुत्र हीन होते हैं, अर्थात् बन्ध्याप ने वाली स्त्रियों को पाते हैं ॥174-175॥ जो पुरुष अन्य के पुत्रों को अपनी सन्तान के समान मानकर उनका स्वप्न में भी घात नहीं करते (किन्तु प्रेम से पालन-पोषण करते हैं) और मिथ्यात्व को शत्रु के समान जान उसे छोड़कर अहिंसादि व्रतों को धारण करते हैं, तथा जो अपनी इष्ट सिद्धि के लिए जिन देव, जिनसिद्धान्त और जिनानुयायी साधुओं की पूजा-उपासना करते हैं, उस पुण्य के उदय से उनके पुत्र चिरकाल तक जीनेवाले और दिव्यरूप के धारक होते है ॥176-177) जो लोग तप, नियम, सद्-ध्यान और कायोत्सर्ग आदि कार्यो में तथा अन्य धार्मिक कार्यो में, एवं अतिकठिन दीक्षा ले ने में कायरता प्रकट करते हैं, वे हीन सत्त्ववाले जीव उस पाप से इस लोक में कायर और सर्व कार्यों के करने में असमर्थ होते हैं ॥178-179॥ जो अपने धैर्य को प्रकट कर अति दुष्कर तपों को ध्यान, अध्ययन आदि योगों को और कायोत्सर्ग को करते हैं, तथा अपनी शक्ति से समस्त घोर उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं, अहो गौतम, वे पुरुष उस तपस्या के प्रभाव से कर्मरूप शत्रुओं के घात ने में समर्थ ऐसे धीर-वीर होते हैं ॥180-181॥

जो दुष्ट पुरुष जिनराजोंकी, गणधरोंकी, जिनसिद्धान्तकी, निम्रन्थ साधु साध्वी, श्रावक और श्राविकादि धार्मिक जनों की निन्दा करते हैं, तथा पापी मिथ्या देव शास्त्र गरुओं की प्रशंसा करते हैं. वे अयशःकीर्तिकर्म के उदय से तीनों लोकों में निन्दनीय और दुःखों से संयुक्त होते हैं ॥182-183॥

जो पुरुष दिगम्बर गुरुओंकी, ज्ञानी गुणी सज्जन और शीलवान् पुरुषों की सदा सेवा भक्ति और पूजा करते हैं जो त्रियोग से सदा सारभूत सर्व व्रतों के साथ शीलवत को पालते हैं, वे शीलवान होते हैं और शीलधर्म के प्रभाव से स्वर्ग और मुक्ति-गामी होते हैं ॥184-185॥

जो व्रत-रहित जीव शील-रहित दुष्ट कुगुरुओं की कुदेव, कुशास्त्र और पापियों की नमस्कार-पूजादि से सेवा-उपासना करते हैं, स्वयं शीलरहित रहते हैं, और अन्याययुक्त कार्यों के द्वारा विषय जनित सुख की नित्य इच्छा करते हैं, वे लोग इस लोक में निःशील और दुर्गतिगामी होते हैं ॥186-187॥

जो मनुष्य गुणों के सागर ऐसे जिन-योगियोंकी, ज्ञानी गुरुओं की और सम्यग्दृष्टि पुरुषों की उनके गुण पा ने के लिए सदा संगति करते हैं उन्हें गुणी गुरु अनादि सुजनों के साथ स्वर्ग-मुक्ति का दाता महान संगम प्राप्त होता है ॥188-189॥ जो लोग उत्तम जनों का संगम छोडकर अज्ञानी मिथ्यादष्टियों का गण-नाशक संगम नित्य करते हैं. वे अधोगामी जीव इस लोक और परलोक में प्राण-नाशक और दुर्गति का कारणभूत कुसंग-दुर्जनों का साथ सदा पाते हैं ॥190-191॥

जो पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धि से निरन्तर तत्त्व-अतत्त्वका, शास्त्रकुशास्त्रका, तथा देव, गुरु, तपस्वी, धर्म-अधर्म और दान-कुदान आदि का विचार करते रहते हैं, परलोक में उनका विवेक सभी देव-अदेव आदि की परीक्षा करने में समर्थ होता है ॥192193॥

जो समझते हैं कि सभी देव और सभी गुरु, भक्ति पूर्वक वन्दनीय हैं, किसी की निन्दा नहीं करना चाहिए । तथा सभी धर्म मोक्ष के देनेवाले हैं, ऐसा मानकर दुर्बुद्धि से सभी धर्मों की और सभी देवादि की इस लोक में सेवा करते हैं, वे भव-भव में निन्दनीय एवं मूढ़ता को प्राप्त होते हैं ॥194-195॥

जो आर्यजन तीर्थकर, सुगुरु, जिनसंघ और उच्चपदमयी पंचपरमेष्ठियों की प्रतिदिन पूजा-भक्ति करते हैं, उनके गुणों का कीर्तन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, अपने दोषों की निन्दा करते है और दूसरे गुणी जनों के दोषों का उपगृहन करते हैं, वे पुरुष उच्च गोत्र कर्म के

परिपाक से परभव में त्रिजगद्-वन्द्य गोत्र कर्म का आश्रय प्राप्त करते हैं **अर्थ**ात् तीर्थंकर होते हैं ॥196-197॥

जो जड़ पुरुष अपने-अपने गुणों को प्रकट करते हैं और गुणी जनों के दोषों को सदा प्रकट करते रहते हैं, तथा नीच देवोंकी, नीच धर्म की और नीच गुरुओं की धर्म के लिए सेवा करते हैं, वे लोग इस संसार में नीच गोत्र कर्म के उदय से नीचगोत्र पाते हैं और नीच पद के भागी होते हैं ॥198-199॥

जो दुर्बुद्धि पुरुष इस लोक में मिथ्यामाग के अनुराग से एकान्ती मिथ्यामार्ग में स्थित हैं और कुगुरु कुदेव कुधर्म की आत्मकल्याण के लिए सेवा करते हैं उनका पूर्व भव के संस्कार के योग से परभव में अशुभ का भण्डार-ऐसा अनुराग मिथ्यामार्ग में होता है ॥200-201॥

जो अपने ज्ञाननेत्र से यथार्थ जिनदेव, शास्त्र-गुरु और धर्म की परीक्षा करके उनके गुणानुरागी होकर उन गुणों की प्राप्ति के अभिप्राय से भक्ति पूर्वक उन की सेवा करते हैं, उन्हें ही अपने अनन्य ( एक मात्र) शरण मानते हैं और कुमार्ग में स्थित अन्य . कुदेवादि की स्वप्न में भी सेवा नहीं करते हैं, वे परलोक में जिनधर्मानुरक्त और शिवमार्ग के पथिक होते हैं ॥202-203॥

जो स्वर्ग-मुक्ति के इच्छुक ज्ञानी पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार अति दुष्कर कायोत्सर्गयोग को और मौनव्रत आदि को धारण करते हैं, तपश्चरण और धर्म सेवनादि कार्यों में अपने विद्यमान बल-वीर्य को नहीं छिपाते हैं, वे परभव में तप के भार को सहन करने में समर्थ ऐसे शुभ वज्रवृषभनाराचसंहननवाले दृढ़ शरीर को पाते हैं ॥204-205॥

जो समर्थ होकरके भी धर्म तप व्युत्सर्ग आदि की सिद्धि के लिए कदाचित् भी अपने बलवीर्य को व्यक्त नहीं करते हैं और शरीर के सुख में मग्न रहते हैं, तथा घर के व्यापारसम्बन्धी करोड़ों कार्यों के द्वारा पाप कर्मो को करते रहते हैं, उन जीवों को उस पाप से परभव में तप करने में असमर्थ और निन्दनीय शरीर प्राप्त होता है ॥206-207॥

___इस प्रकार जिस वीर जिनेन्द्र ने स्वर्ग और मोक्षगति की कारणभूत गौतम की प्रश्नावली का विशद वाणी द्वारा **अर्थ**रूप से युक्तिपूर्वक समस्त गण और गणधर के लिए उत्तर दिया, उस वीरनाथ की मैं यहाँ पर परम भक्ति से स्तुति करता हूँ ॥208॥

जो वीरप्रभु मेरे द्वारा यहाँ पर नमस्कृत स्तुति के विषयभूत हैं, मैं उन वीरनाथ का आश्रय लेता हूँ। वीर प्रभु के साथ मैं भी शिवमार्ग का अनुसरण करता हूँ, तथा वीरप्रभु के लिए नमस्कार करता हूँ। वीर से अतिरिक्त अन्य कोई मेरा हित करनेवाला नहीं है, इसलिए मैं वीर जिनेन्द्र के चरणों का आश्रय लेता हूँ। मैं वीर-भगवान में अपने चित्त की परम स्थिति को करता हूँ। हे वीरभगवान् , आप मुझे अपने समीप ले जायें ॥209॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित श्री वीरवर्धमानचरित में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्नमाला के उत्तर वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥17॥

## अठारहवाँ-अधिकार

भगवान् का धर्मोपदेश

कथा :

मुक्ति के भर्ता, अज्ञानरूप अन्धकार के हर्ता, विश्व के प्रकाशक, समवशरण के मध्य में विराजमान और धर्मोपदेश देने में उद्यत ऐसे श्री वीर भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ॥१॥ इस के पश्चात् भगवान ने कहा-हे धीमन् गौतम, तुम सर्व गणों के साथ सुनो। मैं मोक्ष का मार्ग कहता हूँ, जिस से कि ज्ञानी जन मोक्ष को जाते हैं इस में कोई संशय नहीं है ॥2॥

तत्त्वार्थ का जो शंकादि दोषों से रहित और निःशंकादि गुणों से युक्त श्रद्धान है, मोक्ष का अंगस्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन है ॥3॥

इस संसार में अर्हन्तों से अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ देव नहीं है, निर्ग्रन्थ गुरुओं से बढ़कर कोई उत्तम गुरु नहीं है, अहिंसादि पंच महाव्रतों से बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है ॥4॥

जैनशासन से भिन्न कोई उत्कृष्ट शासन नहीं है, द्वादश अंगों और चतुर्दश पूर्वो से बढ़कर अन्य कोई विश्वप्रकाशक ज्ञान नहीं है ॥5॥

रत्नत्रय से अन्य कोई दूसरा मुक्ति का मार्ग नहीं है, पंच परमेष्ठियों से अन्य कोई दूसरा भव्य जीवों का हितकर्ता नहीं है ॥6॥ पात्रदान से परे कोई दूसरा कल्याणकारक दान नहीं है, सुधर्म से अतिरिक्त अन्य कोई पर जन्म में साथ जानेवाला पाथेय ( मार्ग-भोजन, कलेवा ) नहीं है ॥7॥

केवलज्ञान के कारणभूत आत्मध्यान से बढ़कर कोई दूसरा ध्यान नहीं है, धर्मात्माओं के साथ स्नेह के समान धर्म और सुख को देनेवाला

अन्य कोई स्नेह नहीं है ॥8॥
द्वादश तपों से अन्य, पापों का क्षय करनेवाला अन्य कोई तप नहीं है, पंचनमस्कारमहामन्त्र से भिन्न स्वर्ग और मोक्ष को देनेवाला अन्य कोई मित्र नहीं है ॥9॥
कर्म और इन्द्रियों के सिवाय इस लोक और परलोक में अति दुःखों को देनेवाला और कोई शत्रु नहीं है। इत्यादि सकल कार्यों को हे गौतम, तुम सम्यग्दर्शन का मूलकारण जानो ॥10॥
यह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का बीज है, मोक्ष का प्रथम सोपान (सीढ़ी) है और व्रतादि का परम अधिष्ठान है, ऐसा तू जान ॥11॥
हे गौतम, सम्यग्दर्शन के विना जीवों का ज्ञान तो अज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है और समस्त तप निष्फल है ॥12॥
ऐसा जानकर निःशंकादि गुणों के द्वारा शं का और मूढ़तादि मलों को दूर कर सम्यक्त्व को चन्द्रमा के समान निर्मल और दृढ़ करना चाहिए ॥13॥
तत्त्वार्थों का जो सन्त पुरुषों के विपरीतप ने से रहित यथार्थरूप से ज्ञान होता है, वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है ॥14॥
ज्ञान के द्वारा ही सर्व धर्म-अधर्म, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष ज्ञात होते हैं, एवं देव, गुरु और धर्मादि की परीक्षा जानी जाती है ॥15॥
ज्ञान-हीन व्यक्ति हेयउपादेय, गुण-अवगुण, कर्तव्य-अकर्तव्य और तत्त्वों के विवेक को अन्धे के समान कभी नहीं जानता है ॥16॥
ऐसा जानकर स्वर्ग और मुक्ति के सुखों के अभिलाषी तुम सब लोग मोक्ष की सिद्धि के लिए जिनागमश्रुत का अभ्यास करो ॥17॥
हिंसादि पाँचों पापों का समस्त रूपसे, **अर्थ**ात् कृत कारित और अनुमोदनासे, सर्वदा के लिए त्रियोग की शुद्धि पूर्वक तीन गुप्ति और पंच समिति के परिपालन के साथ त्याग करना व्यवहारचारित्र है, यह मुक्ति ( सांसारिक भोगसुख ) और मुक्ति का कारण है, इ से ही कर्मों के आस्रव का रोकनेवाला और सारभूत सुख का देनेवाला जानना चाहिए ॥18-19॥
औरों की तो बात ही क्या है, तीर्थंकर भी चारित्र के विना शरीर को कष्ट देनेवाले कोटि-कोटि तपों के द्वारा कर्मों का संवर नहीं कर सकते हैं ॥20॥
संवर के विना मुक्ति कै से प्राप्त हो सकती है और कर्मों से मुक्त हुए विना जीवों को शाश्वत स्थायी परम सुख कै से प्राप्त हो सकता है ? **अर्थ**ात् नहीं हो सकता ॥21॥
. सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञान से विभूषित एवं देवेन्द्रों से पूजित भी चारित्र-हीन तीर्थंकर देव अहो मुक्तिस्त्री के मुख-कमल को नहीं देख सकते हैं ॥
22 ॥
चिरकाल का दीक्षित, अनेक शास्त्रों का वेत्ता भी ज्येष्ठ मुनि चारित्र के विना दन्त-हीन हाथी के समान शोभा को नहीं पाता है ॥
23 ॥
ऐसा जानकर ज्ञानियों को चन्द्र के समान. निर्मल (निर्दोष) चारित्र धारण करना चाहिए और उपसर्ग-परीषहों के आ ने पर स्वप्न में भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए ॥24॥
यह व्यवहार रत्नत्रय तीर्थंकर आदि शुभपद देनेवाले शुभकर्म का साक्षात् कारण है और निश्चय रत्नत्रय का साधक है ॥25॥
यह व्यवहाररत्नत्रय सर्वार्थसिद्धि तक के महासुख सन्त जनों को प्रदान करता है, उपमा-रहित है, जगत्पूज्य है और भव्यों का परम हितकारी है ॥26॥
अनन्त गुणों के सागर ऐसे अपने आत्मा का जो भीतर श्रद्धान किया जाता है, वह निर्विकल्प निश्चय सम्यक्त्व है॥२७॥
स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अपने ही परमात्मा का जो अपने भीतर परिज्ञान है, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है ॥28॥ अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार के संकल्पों को त्याग कर जो अपनी आत्मा के स्वरूप में विचरण करना, वह ज्ञानियों का निश्चय सम्यक चारित्र है ॥29॥
यह निश्चय रत्नत्रय सर्व बाह्य चिन्ताओं से रहित और निर्विकल्प है तथा उसी भव में सज्जनों को साक्षात् मोक्ष का देनेवाला है ॥30॥
निश्चय और व्यवहाररूप यह दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग मुक्तिस्त्री का जनक है, महान् है। अतः मोक्ष के इच्छुक भव्यों को मोक्ष की आशा छोड़कर निरन्तर उसे सेवन करना चाहिए ॥31॥
इस भूतल पर भूतकाल में जो भव्य जीव मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं, और आगे जायेंगे, इस द्विविध रत्नत्रय को प्रतिपालन करके ही

जायेंगे, अन्य प्रकार से कभी कोई मोक्ष नहीं जा सकता ॥32॥

मुक्ति का नित्य फल अनन्त महान् सुख है। वह परम सुख सम्यक्त्व आदि आठ परम गणों के साथ प्राप्त होता है ॥33॥

जो संसार-समुद्र से उद्धार कर सेवन करनेवाले पुरुष को तीन लोक के अग्रिम मुक्तिराज्य में स्वयं स्थापित करे, वह स्वर्ग और मुक्ति के सुखों को देनेवाला धर्म दो प्रकार का कहा गया है-पहला श्रावकों का धर्म जो पालन करने में सुगम है और दूसरा मुनियों का धर्म जो पालन करने में कठिन है ॥34-35॥

इन में श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप है। जो सातों व्यसनों के त्यागी हैं, आठ मूलगुणों से युक्त हैं और निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक हैं, वे जीव दर्शन नाम की प्रतिमा के धारी हैं ॥36॥

जो इस लोक में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाबत इन बारह व्रतों को धारण करते हैं वे श्रावक दूसरी व्रतप्रतिमा के धारी हैं ॥37॥

मन वचन काय से और कृत कारित आदि से त्रस प्राणियों का रक्षण यत्न से किया जाता है, वह प्रथम अहिंसाणुव्रत है ॥38॥

यह अहिंसाणुव्रत सर्व व्रतों का मूल है, विश्व के प्राणियों का रक्षक है, गुणों का निधान है और धर्म का बीज है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ॥39॥

जो निन्दित असत्य वचन को छोड़कर धर्म के निधानस्वरूप हितकारी सारभूत सत्य वचन बोले जाते हैं वह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥40॥

सत्य वचन से कला विवेक और चातुर्य आदि गुणों के साथ बुद्धिमानों के कीर्ति और सरस्वती प्रकट होती है ॥41॥

जो ग्रामादिक में पतित, नष्ट या कहीं पर स्थापित परधन को ग्रहण नहीं करता वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥42॥

परधन के अपहरण करनेवालों को इस लोक में ही चोरी के पाप से वध-बन्धनादि दण्ड प्राप्त होते हैं और परलोक में अनेक बार नरक के दुःख प्राप्त होते हैं ॥43॥

सर्पिणियों के समान समझकर जो अन्य सर्व स्त्रियों का त्याग कर अपनी स्त्री सन्तोष धारण किया जाता है वह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत माना गया है ॥44॥

क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, दासी-दास, चतुष्पद, पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भांड ये दश प्रकार के परिग्रह होते हैं। ज्ञानी जनों के द्वारा लोभ और आशारूप पाप के विनाश के लिए जो इन दशों प्रकार के परिग्रहों की संख्या स्वीकार की जाती है वह पाँचवाँ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है॥४५-४६॥

परिग्रह के परिमाण से सज्जनों की आशाएँ और लोभादिक विलीन हो जाते हैं, तथा इसी लोक में सन्तोष धर्म के प्रभाव से अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥47॥

योजन और ग्रामसीमा आदि के द्वारा दशों दिशा में गमनादि की जो मर्यादा की जाती है वह दिग्वत नाम का पहला गुणव्रत है ॥48॥ बिना प्रयोजन के जो अनेक प्रकार के पापारम्भों का त्याग किया जाता है, वह अनर्थदण्डविरति नाम का दूसरा गुणत्रत है॥४९॥

उस पापकारी अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं-पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और निन्दनीय प्रमादचर्या ॥50॥

पाँच इन्द्रियरूप शत्रुओं के जीत ने के लिए भोग-उपभोग की वस्तुओं का प्रमाण किया जाता है, वह भोगोपभोगपरिमाण नाम का तीसरा गुणव्रत है ॥51॥

अनन्त जीवकायिक अदरक आदि कन्द, मूली आदि मूल, कीड़ों से युक्त फलादिक, कुसुम ( फूल ), अथाना (अचार-मुरब्बा) आदिक अभक्ष्य हैं। ये सब पाप-भीरु व्रती जनों के द्वारा पाप की हानि और व्रत की वृद्धि के लिए विष और विष्टा के समान छोड़ ने के योग्य हैं ॥52-53॥

दिग्वत की सीमा के अन्तर्गत प्रतिदिन गमनागमनादि की घर, बाजार, गली, मोहल्ला आदि की सीमा द्वारा नियम ग्रहण किया है वह देशावकाशिक नाम का पहला शिक्षाबत है॥५४॥

दुयोन और दुर्लेश्या को छोड़कर प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीन बार सामायिक पालन किया जाता है, वह सामायिक नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है ॥55॥

प्रत्येक मास की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सर्व गृहारम्भों को छोड़कर नियम से जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास नाम का

तीसरा शिक्षाबत है ॥56॥
मुनियों के लिए प्रतिदिन विधिपूर्वक भक्ति से जो निर्दोष दान दिया जाता है, वह अतिथिसंविभाग नाम का चौथा शिक्षाव्रत है ॥5॥
जो पुरुष त्रियोग की शुद्धि द्वारा अतिचारों से रहित इन बारह व्रतों को पालते हैं, उनके यह श्रेष्ठ दूसरी व्रतप्रतिमा होती है ॥58। इस प्रतिमाधारी व्रती श्रावकों को उत्तम पदों की प्राप्ति के लिए जीवन के अन्त में आहार और कषायादि का त्याग और मुनियों के सकल संयम को धारण करना चाहिए ॥5॥
सामायिक नाम की तीसरी और प्रोषधोपवास नाम की चौथी शुभप्रतिमा है। ( दूसरी प्रतिमा में बताये गये सामायिक और प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत को निरतिचार नियमपूर्वक पालन करने पर ही उन्हें प्रतिमा संज्ञा प्राप्त होती है )॥60। जीव-दया के लिए जो सचेतन सर्व फल, जल, बीज और सचित्त पत्र-पुष्पादि का त्याग किया जाता है, वह पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है ॥61॥
मुक्ति की प्राप्ति के लिए जो रात्रि में सदा चारों प्रकार के आहार का और दिन में मैथुन-सेवन का त्याग किया जाता है, वह श्रेष्ठ रात्रिभुक्तित्याग अथवा दिवा मैथुन त्याग नामवाली छठी प्रतिमा है ॥62॥
जो ज्ञानीजन इस जीवन में त्रियोग की शुद्धि से इन छह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, सन्तों के द्वारा वे ग्यारह प्रतिमाधारियों में जघन्य श्रावक मा ने गये हैं। ये सब स्वर्गगामी होते हैं ॥63॥
मन वचन काय से सर्व स्त्रियों को माता के समान मानकर जो ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ॥64॥
वाणिज्य, कृषि आदि सभी गृहारम्भ निन्द्य और पाप के समुद्र हैं। पाप-भीरु जनों के द्वारा उनका जो त्याग किया जाता है, वह आरम्भ त्याग नाम की आठवीं श्रेष्ठ प्रतिमा है ॥65॥
एक मात्र वस्त्र के विना पापकारी समस्त परिग्रहों का जो त्रियोगशुद्धि से त्याग किया जाता है, वह सज्जनों की परिग्रहत्याग नामवाली नवमी प्रतिमा है ॥66॥
जो रागभाव से दूर रहकर इन नौ प्रतिमाओं का पालन करते हैं, उन्हें जिनराजों ने मध्यम श्रावक कहा है। वे देवों से पूजे जाते हैं ॥67। घर के आरम्भ में, विवाहादिमें, अपने आहार-पानादि में और धन के उपार्जन में अनुमति देने का त्याग किया जाता है, वह अनुमतित्याग नाम की दसवीं प्रतिमा है ॥68॥
जो कृत-कारितादि दोष-जनित सदोष सर्व अन्न को अभक्ष्य के समान त्याग कर भिक्षा से भोजन करते हैं, वह अन्तिम (ग्यारहवीं ) उत्कृष्ट उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है ॥69॥
जो सर्व प्रयत्न के साथ इन सर्व प्रतिमाओं को धारण करते हैं, वे जगत्पूजित विरागी सन्त उत्कृष्ट श्रावक हैं ॥70॥
जो व्रती पुरुष निरन्तर इस श्रावकधर्म का पालन करते हैं, वे यथायोग्य सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होकर उत्तम सुखों को प्राप्त करते हैं ॥ 71॥
इस भूतल पर सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव इस श्रावकधर्म के द्वारा तीन लोक में उत्पन्न सुखों को भोग कर क्रम से मोक्ष को जाते है ॥72॥
इस प्रकार गृहस्थधर्म के वर्णन-द्वारा सरागी श्रावकों को हर्ष उत्पन्न करके तत्पश्चात उन वीर प्रभू ने साधुओं की प्रीति के लिए उनका मनिधर्म निश्चय रूप से कहा ॥73॥
अहिंसादि सारभूत पंच महाव्रत, ईर्या भाषा एषणा आदि पाँच शुभ समितियाँ, पाँचों इन्द्रिय-विषयों का निरोध, केशलुंच, समता-वन्दनादि छह आवश्यक देवों के द्वारा पूज्य अचेलकपना ( नग्नता), स्नान-त्याग, भूमि-शयन, अदन्तधावन, राग से दूर रहते हुए खड़ेखड़े भोजन करना और एक बार ही खाना, ये योगियों के धर्म के अट्ठाईस मूलगुण हैं। ये निश्चयधम के मूल स्वरूप हैं । इन को सदा धारण करना चाहिए। ये लोक में लक्ष्मी और सुख देनेवाले गुण प्राणों का अन्त होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए ॥74-77॥
बाईस प्रकार की परीषहों का जीतना, आतापन आदि अनेक योगों का धारण करना, अनेक प्रकार के उपवास करना, मौन-धारण करना इत्यादि मुनियों के उत्तर गुण हैं ॥7॥
आदि में मुनिजन सम्यक् प्रकार से क्रम का उल्लंघन नहीं करके इन अट्ठाईस मूलगुणों का पालन कर तत्पश्चात् उत्तरगुण समूह का पालन करें ॥79॥
उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव, उत्तम सत्य शौच, दो प्रकार का संयम, दो प्रकार का तप, उत्तम त्याग, आकिंचन्य और महान् ब्रह्मचर्य ये मुनियों

के धर्म के दश लक्षण हैं, और सर्वधर्म के निधान हैं ॥80-81॥
सर्व मूल और उत्तर गुणों से और क्षमादिदशलक्षणों से सन्तों को उसी भव में मोक्ष देनेवाला परमधर्म होता है ॥82॥
इस मुनिधर्म से योगीन्द्रजन सर्वार्थसिद्धि तक के तथा तीर्थंकरादि पद-जनित सुखों को भोग कर सदा मोक्ष को जाते रहते हैं ॥83॥
इस लोक में सर्वत्र धर्म के सदृश न कोई बन्धु है, न स्वामी है, न हितकारक है, न पाप-विनाशक है और न सर्व अभ्युदय-सुखों का साधक है ॥84॥
इस प्रकार वीर जिनेन्द्र ने श्रावक-मुनिधर्म का उपदेश देकर काल का स्वरूप इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया-इस मनुष्य लोक में भरतक्षेत्र स्थित आर्य खण्ड में प्रवर्तमान उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नाम के दो काल कहे गये हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी दोनों काल प्रवर्तते हैं। इन में उत्सर्पिणी काल दश कोडाकोड़ी सागर-प्रमाण होता है। प्राणियों के तुल्य आमलकेनात्र कल्पद्रुभोगभागिनाम् ॥10॥
रूप बल आयु शरीर और सुख के उत्सर्पण (वृद्धि) होने से ज्ञानियों ने इ से उत्सर्पिणी काल कहा है ॥85-86॥
जिस काल में जीवों के रूप बल आयु शरीर और सुखादि का अवसर्पण (क्रमशः ह्रास) होता है, उसे अवसर्पिणीकाल कहा जाता है । यह उत्सर्पिणी से विपरीत होती है। इन दोनों के पृथक्-पृथक् छह काल-विभाग कहे गये हैं ॥87॥
उनमें से अवसर्पिणी का पहला काल सुषम-सुषमा नामवाला है, इस का समय चार कोड़ाकोंडी सागर प्रमाण है ॥88॥
इस काल के आदि में उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष तीन पल्य की आयुवाले, तीन कोश के ऊँचे और उदय होते हुए सूर्य के समान आभावाले होते हैं ॥88-89॥
तीन दिन के बीत ने पर बदरी फल ( बेर ) के प्रमाणवाला उनका दिव्य आहार होता है और ये सब नीहार ( मल-मूत्रादि) से रहित होते हैं ॥ 90॥ उस काल में यहाँ पर मद्यांग, सूर्यांग, विभूषांग, मालांग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, वस्त्रांग और भाजनांग ये दश जाति के कल्पवृक्ष होते हैं। वे महाविभूति के साथ दिये गये उत्तम पात्रदान के फल से पुण्यशाली उन आर्य जनों को संकल्पित भोग-सम्पदाएँ देते हैं ॥91-92॥
वे आर्य अपने आर्य ( उत्तम ) स्वभाव से जन्म के साथ ही उत्पन्न हुई स्त्री के साथ निरन्तर भोगों को भोगकर मरण को प्राप्त हो वे सभी देवलोक को जाते हैं ॥13॥
यह उत्कृष्ट भोगभूमि समस्त सुखों को देनेवाली जाननी चाहिए। वहाँ पर क्रूर स्वभावी पंचेन्द्रिय और विकलत्रय तिर्यंच नहीं होते हैं ॥94॥
तत्पश्चात् मध्यम भोग से यक्त दसरा सषमा नाम का काल प्रवत्त होता है। उसका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम है ॥95॥
उसके आदि में मनुष्य दो पल्योपमकाल तक जीवित रहनेवाले, दो कोश की ऊँचाईवाले शरीर के धारक और पूर्ण चन्द्र के समान कान्तिमान् होते हैं ॥16॥
वे भोगभूमियाँ दो दिन के पश्चात् अक्षफल ( बहेड़ा) प्रमाणवाले, तृप्तिकारक दिव्य आहार को करते हैं ॥97॥
तत्पश्चात् सुषमदुपमा नामवाला, दो कोडाकोड़ी सागर के प्रमाणवाला जघन्य भोगभूमि से युक्त तीसरा काल प्रवृत्त होता है ॥98॥
उसके आदि में मनुष्य एक पल्य की अखण्ड आयु के धारक, शुभ, एक कोश ऊँचे उत्तम देहवाले और प्रियंगु के समान कान्ति के धारक होते हैं ।99॥
कल्पवृक्षों के द्वारा दिये गये भोगों के भोगनेवाले उन मनुष्यों का एक दिन के अन्तर से आँवले के तुल्य प्रमाणवाला तृप्तिकारक दिव्य आहार होता है ॥10॥
तत्पश्चात् दुषमसुषमा नाम का कर्मभूमिज धर्म से युक्त तिरेसठ शला का पुरुषों को जन्म देनेवाला चौथा काल प्रवृत्त होता है ॥101॥
इस की जिनागम में बयालीस हजार वर्षों से कम एक कोडाकोड़ी सागरोपम स्थिति कही गयी है ॥102॥
इस के आदि में मनुष्य एक पूर्व कोटी वर्पजीवी, पाँच सौ धनुष ऊँचे और पाँचों वर्गों की प्रभा से युक्त होते हैं ॥103॥
वे मनुष्य प्रतिदिन एक बार उत्तम आहार करते हैं। इस काल में ये शला का पुरुष उत्पन्न हुए हैं ॥104॥
भावार्थ-चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र ये तिरेसठ शला का **अर्थ**ात् गण्य-मान्य पुरुष हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। श्री ऋषभ, अजित, शम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान् , वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रतनाथ, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान ये चौबीस तीर्थकर इस युग में

हुए हैं। ये सभी तीन लोक के स्वामियों द्वारा वन्दनीय हैं ॥105-108॥

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती जानना चाहिए ॥ 109110॥

विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, पद्म और राम ये नौ बलभद्र हुए हैं॥१११॥

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम,पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त,लक्ष्मण और कृष्ण ये नौ वासुदेव (नारायण) हुए हैं। ये सभी तीन खण्ड के स्वामी, धीरवीर और स्वभाव से ही अतिरौद्र चित्त होते हैं ॥112-113॥

अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटभारि, मधुसूदन, बलिहन्ता, रावण और जरासन्ध ये नौ वासुदेवों के प्रतिपक्षी **अर्थ**ात् प्रतिवासुदेव (प्रतिनारायण) हुए हैं। ये सभी वासुदेव के समान ही ऋद्धि के भागी होते हैं ॥114-115 । नराधिप, विद्याधराधिप और देवों से नमस्कृत चरण कमलवाले इन पूज्य तिरेसठ शला का महापुरुषों के सर्व भवान्तर, चरित, ऋद्धि, आयु, वल, सौख्य और भावी सब गतियों को श्री वीर जिनेश ने दिव्यध्वनि के द्वारा विस्तार से स्वयं ही गणाधीश गौतम और सर्व गणों को शिव-प्राप्ति के लिए कहा ॥116-118॥

अथानन्तर दुःखों से भरा हुआ दुःषम नाम का पंचम काल होगा। उसका काल-प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है ॥119॥

उसके प्रारम्भ में मनुष्य एक सौ बीस वर्ष की आयु के धारक और सात हाथ के ऊँचे होंगे। इस काल के मनुष्य मन्द बुद्धि से युक्त रूक्ष देहवाले और सुखों से रहित होंगे ॥120॥

वे दुःखी लोग प्रतिदिन अनेक बार आहार करेंगे और कुटिल चित्त होंगे। पुनः उनका शरीर, आयु, बुद्धि और बल आदिक क्रम से हीन होता जायेगा ॥121॥

तत्पश्चात् दुःषमदुःषमा नाम का अति दुःखदायी छठा काल आयेगा। उसका कालप्रमाण पंचम काल के समान इक्कीस हजार वर्ष है। उस समय धर्मादि नहीं रहेगा ॥122॥

इस काल के आदि में मनष्यों के देह दो हाथ ऊँचे और धूम्रवर्ण के होंगे। वे मनुष्य कुरूपी, नग्न, स्वेच्छाहारी और बीस वर्ष की आयु के धारक होंगे ॥123॥

इस काल के अन्त में मनुष्य एक हाथ ऊँचे, पशु के समान आहार-विहार करनेवाले, उत्कृष्ट, सोलह वर्ष की आयु के धारक, निन्दनीय और दुर्गतिगामी होंगे ॥124॥ जिस प्रकार से यह अवसर्पिणी काल क्रम से आयु, बल, शरीर आदि की हानि से संयुक्त है, उसी प्रकार से उत्सर्पिणीकाल उन सब की वृद्धि से संयुक्त जिनराजों ने कहा है ॥125॥

तदनन्तर वीरप्रमु ने लोक का वर्णन करते हुए कहा-इस लोक का अधोभाग वेत्रासन के आकारवाला है, मध्य में झल्लरी के समान है और ऊपर मृदंग के सदृश है । यह सदा जीवादि छह द्रव्यों से भरपूर है ॥126॥

( इस लोक के अधोभाग में नरक हैं, ऊर्ध्वभाग में स्वर्ग हैं और मध्यभाग में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। ) इत्यादि प्रकार से सत्यार्थवादी जिनराज श्री वर्धमान स्वामी ने अनेक संस्थानवाले और स्वर्ग-नरकादि विषयवाले तीन लोक का स्वरूप कहा ॥127॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या, इस तीन लोक के मध्य में त्रिकाल-विषयक और केवलज्ञानगोचर जित ने कुछ भी शुभ-अशुभ पदार्थ भूतकाल में हुए हैं, वर्तमान में विद्य हैं और भविष्य में होंगे, उन सर्व पदार्थी को अलोकाकाश के साथ वीर जिनेन्द्र ने द्वादशांगगत **अर्थ** के साथ श्री गौतम के प्रति सर्व भव्य जीवों के हितार्थ और धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उपदेश दिया ॥128-130॥

इस प्रकार श्री वीरजिन के मुख चन्द्र से उत्पन्न हुए वचनरूप अमृत को पीकर और अपने मिथ्यात्वरूपी हलाहल विष को शीघ्र नाश कर श्री गौतम काललब्धि से हर्ष के साथ सम्यग्दर्शन इत्यादि चिन्तनात्प्राप्य परमानन्दमुल्बणम् । धर्मे धर्मफलादौ च स वैराग्यपुरस्सरम् ॥146॥ पूर्वक संसार, शरीर, लक्ष्मी और इन्द्रिय-भोगादि में संवेग को प्राप्त होकर अपने हृदय में इस प्रकार विचार करने लगे ॥131-132॥

अहो, यह मिथ्यात्वमार्ग समस्त पापों का आकर है, अशुभ है और निन्दनीय है। मुझ मूढ़-हृदय ने चिरकाल से इ से वृथा सेवन किया है ॥ 133॥

इस लोक में जैसे कोई अज्ञानी माला के भ्रम से सुख-प्राप्ति के लिए काले साँप को ग्रहण करे, उसी के समान मैं ने धर्मबुद्धि से यह महान् मिथ्यात्व पाप हृदय में धारण किया ॥134॥

धूर्त जनों से प्ररूपित इस मिथ्यात्वमार्ग के द्वारा मिथ्यात्व को प्राप्त हुए असंख्यात मूर्ख प्राणी धोर नरक में ले जाये जा रहे हैं ॥135॥

जैसे मदिरापान से उन्मत्त विकल पुरुष विष्टा से भरी गली में पड़ते हैं, अरे, उसी प्रकार मिथ्यात्व से विमोहित मिथ्यादृष्टि जीव अशुभ कुमार्ग में पड़ते हैं ॥136॥

अहो, जैसे चलते हुए अन्धों का कूप आदि निम्न स्थान में पतन होता है उसी प्रकार मिथ्यामार्गगामियों का नरकादि अन्धकूप में पतन होता है ॥137॥

(भगवान् के उपदेश से प्रबोध पाकर अब ) मैं मानता हूँ कि यह मिथ्यात्वरूप कुमार्ग अत्यन्त विषम है और दुर्जनों को नरक के मार्ग पर ले जाने के लिए सार्थवाह के सदृश है। यह शठ पुरुषों से समादत है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और दश धर्मादि राजाओं का शत्रु है, प्राणिय को खा ने के लिए अजगर साँप है और महापापों का आकर है ॥138-139॥

जिस प्रकार गाय के सींग से दूध, बहुत भी जल के मन्थन से घी, दुर्व्यसन-सेवन से यश, कृपणता से ख्याति, और खोटे व्यापारादि कार्यों से धन नहीं प्राप्त होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-सेवन से कभी भी जड़ात्मा पुरुषों को इस लोक में न शुभ वस्तु मिल सकती है, न सुख मिल सकता है और न सद्गति प्राप्त हो सकती है ॥140-141॥

अहो, मिथ्यात्व के आचरण से तो धर्म-विमुख मिथ्यादृष्टि जीव निश्चय से केवल अगम्य घोर नरक को ही आते हैं ॥142॥

ऐसा समझकर बुद्धिमानों को धर्म की प्राप्ति और स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि के लिए सब से पहले मिथ्यात्वरूपी वैरी को दृग्विशुद्धिरूप तलवार के द्वारा शीघ्र मार देना चाहिए ॥143॥

। - अहो, आज मैं धन्य हूँ, मेरा यह सारा जीवन सफल हो गया है, क्योंकि अति पुण्य से आज मैं ने जगद्-गुरु श्री जिनदेव को पाया है ॥144॥

इन के द्वारा प्रणीत (उपदिष्ट) यह मार्ग और यह धर्म अनमोल है, और सुख का भण्डार है । आज इन के वचनरूप किरणों से दर्शनमोहरूप महान्धकार नष्ट हो गया है ॥145॥

इत्यादि रूप से धर्म और धर्म का फल चिन्तन करने से अति उत्कृष्ट परम आनन्द को प्राप्त हुआ वह ब्राह्मणों का नेता गौतम वैराग्यपूर्वक मोहादि शत्रुओं के साथ मिथ्यात्वरूपी वैरी की सन्तान को मार ने और मुक्ति पा ने के लिए दीक्षा ले ने को उद्यत हुआ ॥146-147॥

तत्पश्चात् निश्चय से तत्त्व के प्रबोध को प्राप्त उस गौतम ने अपने दोनों भाइयों के तथा पाँच सौ छात्रों के साथ चौदह अन्तरंग और दश बाह्य परिग्रह को छोड़कर त्रियोग शुद्धिपूर्वक परम भक्ति से जगत्-पूज्य जिनमुद्रा को तत्काल ग्रहण कर लिया ॥148-150॥

उसी समय भगवान् की वाणी से प्रबोध को प्राप्त हुई कितनी ही राजकुमारियाँ और अन्य बहुत-सी उत्तम स्त्रियाँ आत्मसिद्धि के लिए आर्यि का बन गयीं ॥151॥

उसी समय श्री जिनेन्द्र के वचनों से प्रबुद्ध हुए कितने ही उत्तम मनुष्यों ने और कितनी ही उत्तम स्त्रियों ने श्रावकों के सर्वव्रतों को ग्रहण किया ॥152॥

उसी समय कितने ही सिंह, सर्प आदि उत्तम पशुओं ने अपनी क्रूरता को छोड़कर और भगवान् के वचनों का लाभ पाकर श्रावक के व्रतों को स्वीकार किया ॥153॥

तभी चतुर्णिकाय के कितने ही देवों ने और कितनी ही देवियों ने तथा अनेक मनुष्यों और पशुओं ने भगवान् के वचनामृत पान से मिथ्यात्वरूपी हालाहल विष को दूरकर काललब्धि से शिव-प्राप्ति के लिए शीघ्र ही अनमोल सम्यग्दर्शनरूपी निर्मल हार को अपने हृदयों में धारण किया ॥154-155॥

व्रतादि के पालन करने में असमर्थ कितने ही लोग दान-पूजा-प्रतिष्ठा आदि करने के लिए शीघ्र उद्यत हुए ॥156॥

कितने ही लोगों ने अपनी सर्व शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक व्रत-नियमादि ग्रहण कर उन कठिन आतापनादि योगों में अशक्त होने से कर्मशत्रु के विनाश के लिए उन सर्व उत्तम कार्यों में त्रियोगशुद्धिपूर्वक भक्ति से संसार को नाश करनेवाली भावना की ॥157-158॥

उसी समय सौधर्मेन्द्र ने द्वादश गणों के स्वामीपद को प्राप्त हुए गौतम गणधर के अतिभक्ति से दिव्य पूजन-द्रव्यों के द्वारा त्रिलोक-नमस्कृत चरणकमलों को पूजकर, नमस्कार कर और दिव्य गुणों के द्वारा स्तुति करके सब ससुरुषों के मध्य में 'ये इन्द्रभूति स्वामी है' ऐसा कहकर उनका इन्द्रभूति यह दूसरा नाम रखा ॥159-160॥

जिन-दीक्षा ग्रहण करने पर श्री गौतम गणधर को परिणामों की अत्यन्त विशुद्धि से तत्काल सातों ही महाऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं ॥161॥

हे भव्यजनो, सन्तों के मन की शुद्धि ही इस लोक में सर्व अभीष्ट फलों को देनेवाली है और इसी मन की शुद्धि से आधे क्षण में केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त हो जाती है ॥162॥

श्री वर्धमान जिन के तत्त्वोपदेश से सर्व अंगश्रुत के बीज पद इन्द्रभूति गौतम गणधर के हृदय में श्रावण कृष्णपक्ष के आदि दिन **अर्थ**ात् प्रतिपदा के पूर्वाह्नकाल में योगशुद्धि के द्वारा अर्थरूप से परिणत हो गये ॥163-164॥

तत्पश्चात् उसी दिन के पश्चिम भाग में श्रुतज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से प्रकट हुई बुद्धि के द्वारा सभी (चौदह ) पूर्व **अर्थ**रूप से परिणत हो गये ॥165॥ भावार्थ-श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्वाह्नकाल में तो गौतम अंगश्रुत के वेत्ता हुए और अपराह्नकाल में चतुर्दश पूर्वो के वेत्ता ब ने । इस के पश्चात् सर्व अंग-पूर्व के ज्ञाता और चार ज्ञान के धारी गौतम गणधर ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा और विशाल बुद्धि के द्वारा समस्त अंगों की उत्कृष्ट रचना समस्त भव्यजीवों के उपकार की सिद्धि के लिए पूर्व रात्रि में सुभक्ति से की। और रात्रि के पश्चिम भाग में पद, वस्तु, प्राभृत आदि के द्वारा सर्व पूर्वो की शुभ रचना पद-ग्रन्थादिरूप से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए की ॥166-168॥

इस प्रकार धर्म के परिपाक से देवों से पूज्य श्री गौतम गणधर सर्वसाधु समूह के प्रमुख हुए और सकलश्रुत के विधाता ब ने । ऐसा समझकर हे ज्ञानी जनो, स्वाभीष्ट कार्य सिद्धि के लिए तुम लोग हृदय की शुद्धि के साथ उत्तम धर्म का पालन करो ॥169॥

जो स्वयं धर्ममय हुए, जिन्हों ने जगत् के सुख के लिए सन्तों को धर्म का उपदेश दिया, जो धर्म के द्वारा ही पापों के जीतनेवाले हुए, जिन्हों ने धर्म के लिए लोक में विहार किया, धर्म से शिवपद को प्राप्त हुए, अपनी वाणी से धर्म का मार्ग प्रकट किया और धर्म में मन लगाया, वे श्री वीरजिनेन्द्र मुझे अपना धर्म देवें ॥170॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरित में भगवान् के धर्मोपदेश का वर्णन करनेवाला अठारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥18॥

## उन्नीसवाँ-अधिकार

भगवान् का निर्वाण

कथा :

मोहरूपी निद्रा के नाशक, विश्वतत्त्वों के प्रकाशक और भव्यजीवरूपी कमलों के प्रबोधक ऐसे ज्ञान-भास्कर श्री वीर स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर दिव्यध्वनि के उपसंहार होने पर तथा मनुष्यों का कोलाहल शान्त होने पर महान विद्वान् एवं गुणवेत्ता सौधर्मेन्द्र ने तीन लोक के जीवों के मध्य में स्थित और समस्त प्राणियों के सम्बोधन करने में उद्यत श्री वीर भगवान को हर्ष से नमस्कार कर अपने गुणों की सिद्धि के लिए, बुद्धिमानों के उपकार के लिए और यहाँ पर धर्मतीर्थ-प्रवर्तनार्थ विहार करने के लिए जगत में सारभत, भव्यों का सम्बोधन करनेवाले गुणसमूह के कीर्तन से इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥2-4॥

हे देव, मैं केवल अपने मन-वचन-काय की शुद्धि के लिए तीन लोक के दक्ष पुरुषों के द्वारा पूज्य और अनन्त गुणों के सागर ऐसे आप की स्तुति करता हूँ। क्योंकि आप की स्तुति करनेवाले जीवों के पापमल के विनाश से सर्वप्रकार की शुद्धियाँ और तीन लोक की लक्ष्मी सुख आदिक सम्पदाएँ स्वयं ही प्रकट होते हैं। ऐसा निश्चय कर हे प्रभो, आप की स्तुति करने के लिए यह सर्व योग्य सामग्री पाकर विशिष्ट फल का इच्छुक कौन विद्वान आप की स्तुति नहीं करता ? **अर्थ**ात् सभी करते हैं ॥5-7॥

आप के स्तवन करने में स्तुति, स्तोता (स्तुति करनेवाला) महान स्तुत्य (स्तुति करने के योग्य पुरुष ) और स्तुति का फल; यह चार प्रकार की पापविनाशिनी उत्तम सामग्री ज्ञातव्य है ॥8। गुणों की राशिवाले अर्हन्तों के गुणों का जो विचारशील पुरुषों के द्वारा यथार्थरूप से कीर्तन किया जाता है, वह महाशुभ स्तुति कही जाती है ॥9॥

जो पक्षपात से रहित, गुण-अवगुणरूप तत्त्वों का वेत्ता, आगमज्ञ, कवीन्द्र, सम्यग्दृष्टि वाग्मी (गुणवर्णन करनेवाला ) पुरुष है, वह उत्तम स्तोता कहलाता है ॥10॥

जो अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों का समुद्र है, वीतराग है, जगत् का नाथ है, वह परम पुरुष ही सज्जनों का स्तुत्य माना गया है ॥ 11॥

स्तुति का साक्षात् फल स्तुति करनेवाले मनुष्यों को परम पुण्य का प्राप्त होना है और परम्परा फल क्रम से स्तुत्य देव से सर्व गुण-समूह का

प्राप्त होना है ॥12॥
इस प्रकार यहाँ पर स्तुति की उत्तम सामग्री को पाकर हे देव, मैं आप की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। हे भगवन् , प्रसन्न दृष्टि से आप आज मुझे पवित्र करें ॥13॥
इस प्रकार प्रस्तावना करके इन्द्र स्तुति करना प्रारम्भ करता है । हे नाथ, आज आप के वचनरूप किरणों के द्वारा भव्यजीवों के अन्तरंग में स्थित और सूर्य के अगोचर ऐसा समस्त मिथ्यान्धकार नष्ट हो गया है ॥14॥
हे भगवन् , आप के वचनरूप तलवार के प्रहार से मोहरूपी शत्रु विनष्ट हो गया है, इसी से वह सकलगण-सहित आपको छोड़कर इन्द्रिय और मन के विषयों में निमग्न जड़ात्माओं के आश्रय को प्राप्त हुआ है ॥15॥
हे देव, आप के धर्मदेशनारूपी वज्र के प्रहार से आहत हुआ कामदेव आज अपने इन्द्रियचोरों के साथ मरण अवस्था को प्राप्त हुआ है ॥16॥
हे नाथ, आप के केवलज्ञानरूप चन्द्र के उदय से बुद्धिमानों को सम्यग्दर्शनादि रत्नों का दाता धर्मरूपी समुद्र वृद्धि को प्राप्त हुआ है ॥17॥
हे भगवन् , आज तीन लोक को दुःख देनेवाला भव्यों का पापरूपी शत्रु आप के धर्मोपदेशरूपी आयुध से क्षय को प्राप्त हुआ है ॥18॥
हे नाथ, आज आप से सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि उत्तम लक्ष्मी को पाकरके कितने ही भव्यजीव अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मुक्तिमार्ग पर चल रहे है ॥19॥
हे ईश, आप से रत्नत्रय और तपरूपी बाणों को पाकरके कितने ही भव्य आज मुक्ति पा ने के लिए चिरकाल से साथ में आये ( लगे) हुए कर्मरूपी शत्रुओं को मार रहे हैं ॥20॥
हे प्रभो, आप महान्-महान दाता हैं, क्योंकि तीन लोक के भव्य जीवों को प्रतिदिन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मरूप उत्तम चिन्तामणिरत्न देते हैं ॥21॥
वे धर्मरत्न चिन्तित पदार्थों को देनेवाले हैं, सारभूत हैं, अनमोल हैं और सुख के सागर हैं। अतः लोक में आप के समान कौन महान दाता और महाधनी है ॥22॥
हे स्वामिन्, आज मोहनिद्रा से नष्ट चेतनाशक्तिवाला यह जगत् आप के ध्वनिरूप सूर्य के उदय से प्रबुद्ध होकर सोने से उठे हुए के समान प्रतीत हो रहा है ॥23॥
हे विभो, आप के प्रसाद से आप के चरणों का आश्रय लेनेवाले लोगोंमें से कितने ही स्वर्गको, कितने ही सर्वार्थसिद्धि को और कितने ही परम पद मोक्ष को जा रहे हैं ॥24॥
जिस प्रकार पशुओं और देवों के साथ यह सर्व चतुर्विध संघ आप की वाणी से कर्म सन्तान का घात करने के निश्चय से सजित हुआ है, उसी प्रकार आप के विहार से इस आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए अन्य ज्ञानी जन भी सर्व तत्त्वों को जानकर अपने पापों के संचय का घात करेंगे अन्यजीव आप के तीर्थ विहार से कितने ही भव्य जीव तपरूप खड्ग के द्वारा संसार की स्थिति का घात कर उत्तम सुख के समुद्र ऐसे मोक्ष को प्राप्त होंगे ॥27॥
कितने ही योगीजन चारित्र धारण कर अहमिन्द्र पद को सिद्ध करेंगे और कितने ही जीव आप के सत्यधर्म के उपदेश से स्वर्ग को जायेंगे ॥28॥
हे ईश, इस लोक में आप के द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग को प्राप्त होकर मोही जीव अपने मोह-शत्रु का घात करेंगे और पापी जीव अपने पापशत्रु का विनाश करेंगे ॥29॥
हे नाथ, भव्यजीवों को मोक्षरूपी द्वीपान्तर ले जाने के लिए सार्थवाह के समान आप ही दक्ष हैं और इन्द्रिय-कषायरूपी अन्तरंग चोरों को मार ने के लिए आप ही महाभट हैं ॥30॥
अत एव हे देव, भव्यजीवों के अनुग्रह के लिए और मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिए धर्म का कारणभूत विहार कीजिए ॥31॥
हे भगवन, मिथ्यात्वरूपी दुर्भिक्ष से सूखनेवाले भव्यजीवरूपी धान्यों का धर्मरूप अमृत के सिंचन से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति के लिए हे ईश, उद्धार कीजिए ॥32॥
हे देव, जगत् को सन्तापित करनेवाले, दुर्जय मोहशत्रु को पुण्यात्मा जनों के लिए धर्मोपदेशरूप बाणों की पंक्तियों से आज आप जीतें ॥

33॥
क्योंकि देवों के द्वारा मस्तक पर धारण किया हुआ, मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार का नाशक, विजय के उद्यम का साधक यह धर्मचक्र सजा हुआ उपस्थित है ॥34॥
तथा हे नाथ, सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए और कुमार्ग का निराकरण करने के लिए यह महान् काल आप के सम्मुख आया है ॥35॥
अतएव हे देव, इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है ? अब आप विहार करके इस उत्तम आर्यखण्ड में स्थित भव्य जीवों को अपनी सद्वाणी से पवित्र कीजिए ॥36॥
क्योंकि किसी भी काल में आप के समान बुद्धिमानों के कुमार्गरूप घोर अन्धकार का नाशक और स्वर्ग-मोक्षक मार्ग का दर्शक अन्य कोई नहीं है ॥37॥
अतः हे देव, आप के लिए नमस्कार है, गुणों के समुद्र आपको नमस्कार है, अनन्तज्ञानी, अनन्त दर्शनी और अनन्त सुखी आपको मेरा नमस्कार है ॥38॥
अनन्त महावीर्यशाली और दिव्य सुमूर्ति आपको नमस्कार है, अद्भुत महालक्ष्मी से विभूषित होकरके भी महाविरागी आपको नमस्कार है ॥39॥
असंख्य देवांगनाओं से आवृत होने पर भी ब्रह्मचारी आपको नमस्कार है । मोहारि शत्रुओं के नाशक होने पर भी दयालु चित्तवाले आपको नमस्कार है ॥40॥
कर्मशत्रु के विजेता होने पर भी शान्तरूप आपको नमस्कार है, विश्व के नाथ और मुक्तिस्त्री के वल्लभ (प्रिय ) आपको नमस्कार है ॥41॥
हे सन्मति, आपको मेरा नमस्कार है, हे महावीर, आपको मेरा नमस्कार है और हे वीर प्रभो, हे देव, आत्म-सिद्धि के लिए आपको मेरा मस्तक झुकाकर नित्य नमस्कार है ॥42॥
हे देव, इस स्तवन, सद्भक्ति और नमस्कार के फल से आप हमें भव-भव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिपूर्वक अपने चरण-कमलों में एकमात्र भक्ति को ही दीजिए। हे भगवन् , हम इस के सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं चाहते हैं। क्योंकि वह एक भक्ति ही हमारे इस लोक में और परलोक में निश्चय से तीन लोक में सारभूत सुखों को और मनोवांछित सर्व फलों को देगी॥४३-४५॥
इस प्रकार इन्द्र के निवेदन करने से भी पहले भगवान् जगत् के सम्बोधन करने के लिए उद्यत थे, किन्तु फिर भी इन्द्र की प्रार्थना से और तीर्थकर प्रकृति के विपाक से वे त्रिजगद्गुरु भव्य जीवों को समस्त दुर्मार्गों से हटाकर और भ्रमरहित मुक्तिमार्ग पर स्थापित करने के लिए उद्यत हुए ॥46-47॥
अथानन्तर देवों के द्वारा उत्तम चवरों से वीज्यमान, द्वादश गणों से आवृत, श्वेत तीन छत्रों से शोभित और उत्कृष्ट विभूति से विभूषित भगवान् ने करोड़ों बाजों के बजने पर संसार को सम्बोधन के लिए विहार करना प्रारम्भ किया ॥48-49॥
उस समय करोड़ों पटह (ढोल) और तूर्यों (तुरई) के बजने पर तथा चलते हुए देवों से तथा छत्र-ध्वजा आदि की पंक्तियों से आकाश व्याप्त हो गया ॥50॥
हे ईश, जगत् के जीवों के शत्रुभूत मोह को जीतनेवाले आप की जय हो, आप आनन्द को प्राप्त हों, इस प्रकार से जय, नन्द आदि शब्दों की तीन लोक में घोषणा करते हुए देवगण भगवान को सर्व ओर से घेरकर निकले ॥51॥
सुर और असुर देवगण जिन के अनुगामी हैं ऐसे श्री वीर जिनेन्द्र अनिच्छापूर्वक गति को प्राप्त होते हुए सूर्य के समान विहार करने लगे ॥52॥
विहार करते समय सर्वत्र भगवान् के अवस्थान से सवें दिशाओं में सौ योजन तक सभी ईति-भीतियों से रहित सुभिक्ष (सुकाल) रहना है ॥53॥
धर्मचक्र जिन के आगे चल रहा है, ऐसे वीर प्रभु ने संसार के भव्य जीवों के उपकार के लिए गगनांगण में चलते हुए अनेक देश, पर्वत और नगरादि में विहार किया ॥54॥
वीर प्रभु के साम्य भाव के प्रभाव से क्रूर जातिवाले सिंहादि के द्वारा मृगादि के कदाचित् भी बाधा और भयादि नहीं होता था ॥55॥
घातिकर्मों के विनाश से विशिष्ट नोकर्मरूप अहार से पुष्ट और अनन्त सुख के भोक्ता वीतरागी भगवान् के असाता कर्म के अति मन्द उदय

होने से कवलाहाररूप भोजन नहीं होता है तथा इन्द्रादि से वेष्टित और अनन्तचतुष्टय के धारक भगवान के मनुष्यादि कृत उपसगे भी नहीं होता है ॥56-57॥

समवशरण में तथा विहार करते समय सर्वत्र होनेवाली व्याख्यानसभाओं में द्वादश गणों के द्वारा त्रिजगद्गुरु चारों दिशाओं में चार मुखवाले दिखाई देते हैं ॥58॥

दुष्ट घातिकर्मों के विनाश से केवलज्ञान-नेत्र वाले भगवान् के समस्त विद्याओं का विश्वार्थदर्शक स्वामित्व प्राप्त हो गया था ॥59॥

तीर्थंकर के दिव्यदेह की छाया नहीं पड़ती है, उनके नेत्रों की कभी भी पलकें नहीं झपकती हैं और न उस त्रिलोकीनाथ के नख और केशों की वृद्धि ही होती है ॥60॥

इस प्रकार अन्य साधारण जनों में नहीं पाये जानेवाले ये दशों दिव्य अतिशय चार घातिकर्मो के नाश से प्रभु के स्वयं ही प्रकट हो गये थे ॥61॥

तीर्थंकर प्रभु की भाषा सर्वार्ध-मागधी थी जो कि सर्वाङ्ग से उत्पन्न हुई ध्वनिस्वरूप थी। वह सर्व अक्षररूप दिव्य अंगवाली, समस्त अक्षरों की निरूपक, सर्व को आनन्द करनेवाली, पुरुषों के सर्व सन्देहों का नाश करनेवाली, दोनों प्रकार के धर्म और समस्त तत्त्वार्थ को प्रकट करनेवाली थी ॥62-63॥

सद्गुरु के प्रभाव से कृष्ण सर्प और नकुल आदि जाति स्वभाव के कारण वैर पाले जीवों के बन्धुओं के समान परम मित्रता हो जाती है ॥64॥

प्रभु के प्रभाव से सभी वृक्ष सर्व ऋतुओं के फल-पुष्पादि को प्रभु के उत्तम तपों का अति महान फल दिखलाते हए के समान फलने-फलने लगे ॥65॥

इस धर्म सम्राट के सभामण्डल में ओर दर्पण के समान निर्मल दिव्य रत्नमयो हो गयी ॥66॥

जगत् को सम्बोधन करने में उद्यत और विहार करते हुए त्रिलोकीनाथ के सर्व ओर सर्व प्राणियों को सुख करनेवाला शीतल मन्द सुगन्धि वाला पवन बह ने लगता है ॥67॥

तीर्थंकर प्रभु के ध्यान-जनित महान् आनन्द से सर्वदा शोकमुक्त पुरुषों के भी धर्म और सुख का करनेवाला आनन्द प्राप्त होता है ॥68॥

पवनकुमारदेव त्रिजगद्गुरु के सभास्थान से एक योजन के अन्तर्गत भूमिभाग को तृण, कंटक और कीड़े आदि से रहित एवं मनोहर कर देते हैं ॥69॥

मेघकुमार नामक देव भक्ति से विद्युन्माला आदि से युक्त गन्धोदकमयी वर्षा जिनभगवान् के सर्व ओर करते हैं ॥70॥

प्रभु के गमन करते समय उनके चरण-कमलों के नीचे, आगे और पीछे सात-सात संख्या के प्रमाण-युक्त, दिव्य केसर और पत्रवाले सुवर्ण और रत्नमयी महा दीप्तिमान् कमलों को बिछाते हुए चलते हैं ॥71-72॥

भगवान के निकटवर्ती क्षेत्रों में संसार को तृप्त करनेवाले ब्रीहि आदि सर्व प्रकार के धान्य और सर्व ऋतुओं के फलों से नम्र वृक्ष देवों के द्वारा शोभा को प्राप्त होते हैं ॥73॥

कर्ममल से रहित जिनेन्द्र के सभास्थान में आकाश के साथ सर्व दिशाएँ देवों के द्वारा निर्मल होती हुई शोभित होती हैं, जो पाप से मुक्त हुई के समान प्रतीत होती हैं ॥74॥

तीर्थंकर प्रभु की विहारयात्रा में साथ चलने के लिए चतुर्णिकाय के देव इन्द्र के आदेश से परस् पर बुलाते हैं ॥75॥

तीर्थंकर प्रभु के चलते समय चमकते हुए रत्नों से निर्मित, दीप्तियुक्त, एक हजार आरेवाला, अन्धकार का नाशक और देवों से वेष्टित धर्मचक्र आगे-आगे चलता है ॥76॥

विश्व के मंगल करनेवाले भगवान के विहारकाल में देव लोग दर्पण आदि आठ मंगल द्रव्यरूप सम्पदा को हर्ष के साथ लेकर आगे-आगे चलते हैं ॥77॥

इन महान् चौदह अतिशयोंको, जो कि जगत् के अन्य सामान्य लोगों के लिए असाधारण हैं, महान् अतिशयशाली देव भक्ति से सम्पन्न करते हैं ॥78॥

इस प्रकार इन चौंतीस दिव्य अतिशयों से, आठ प्रातिहार्यों से, सद्ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय से एवं अन्य अनन्त दिव्य गुणों से अलंकृत

वीरप्रभु ने अनेक देश-पुर-ग्राम-खेटों में क्रम से विहार करते हए, धर्मोपदेशरूपी अमृत के द्वारा सज्जनों को तृप्त करते, बहुतों को मुक्तिमार्ग में स्थापित करते, अनेकों का तत्व-दर्शनरूप वचनकिरणों से मिथ्याज्ञानरूप कुमार्ग के गाढ़ अन्धकार को हरते, मुक्ति का मार्ग स्पष्ट रूप से प्रकाशित करते, भव्य जीवों के लिए कल्पवृक्ष के समान सम्यक्त्व ज्ञान-चारित्र-तप और दीक्षारूपी मनोवांछित महामणियों को नित्य देते हुए चतुर्विध संघ और देवों से आवृत और धर्म के स्वामी ऐसे श्री वीरजिनेन्द्र राजगृह के बाहर स्थित विपुलाचल के उन्नत शिखर के ऊपर आये ॥79-84॥

वीर प्रभु का वनपाल के मुख से आगमन सुनकर राजा श्रेणिक ने भक्तिपूर्वक पुत्र स्त्रीबन्धु अनेक भव्यजनों के साथ आकर, हर्षित हो जगद्-गुरु को भक्ति से तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। तत्पश्चात् आत्म-शुद्धि के लिए भक्तिभार के वशंगत होकर आठ भेदरूप महाद्रव्यों से जिनेन्द्रदेवों की पूजा कर और पुनः नमस्कार कर अति भक्ति से उन की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ ॥85-87॥

श्रेणिक ने कहा-हे नाथ, आज हम धन्य हैं, आज हमारा यह जीवन और मनुष्य जन्म पाना सफल हो गया, क्योंकि हमें आप-जैसे जगद्-गुरु प्राप्त हुए हैं ॥88॥

आप के चरण-कमलों के देखने से आज हमारे ये दोनों नेत्र सफल हो गये हैं, आप के चरण-कमलों को प्रणाम करने से हे देव, हमारा यह सिर सार्थक हो गया है। हे स्वामिन, आज आप के चरणों की पूजा से मेरे दोनों हाथ धन्य हो गये हैं, आपको दर्शन-यात्रा से हमारे दोनों पैर कृतकृत्य हो गये हैं और आप के स्तवन से हमारी वाणी सार्थक हो गयी है ॥89-90॥

आज मेरा मन आप का ध्यान करने और गुणों के चिन्तन से पवित्र हो गया, आप की सेवाशुश्रूषा से सारा शरीर पवित्र हो गया और हमारे पापरूपी शत्रु का नाश हो गया है ॥9॥

हे नाथ, आप जैसे जहाज को पाकरके यह अपार संसार-सागर चल्ल-भर जल के समान प्रतिभासित हो रहा है। इसलिए अब हमें क्या भय है ॥12॥

इस प्रकार जगत् के नाथ वीर प्रभु की स्तुति कर, पुनः हर्ष से संयुक्त हो नमस्कार कर उत्तम धर्म को सुनने के लिए मनुष्यों के कोठे में जा बैठा ॥93॥

वहाँ पर बैठे हुए राजा ने भक्ति से जगद्-गुरु की दिव्यध्वनि के द्वारा मुनि और गृहस्थों का धर्म, सर्व तत्त्व, जिनेन्द्रों के पुराण, पुण्य-पाप के फल, सुधर्म के क्षमादिक लक्षण, और अहिंसादि व्रतों को सुना ॥94-95॥

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने श्रीगौतम प्रभु को नमस्कार कर पूछा-हे भगवन् , मेरे ऊपर दया करके मेरे पूर्वजन्मों को कहिए ॥16॥

श्रेणिक के प्रश्न को सुनकर परोपकारी श्री गौतमगणधर बोले-हे श्रीमन् , मैं तेरे तीन भव से सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्त को कहता हूँ सो तू सुन ॥97॥

इसी जम्बूद्वीप में विन्ध्याचल पर कुटव नामक वन में एक खदिरसार नाम का भला भील रहता था ॥98॥

उस बुद्धिमान् ने किसी समय पुण्योदय से सर्व प्राणियों के हित करने में उद्यत समाधिगुप्त योगी को देखकर प्रणाम किया ॥99॥

उन्हों ने 'हे भद्र, तुझे धर्मलाभ हो' यह आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उस भील ने मुनीश्वर से पूछा-हे नाथ, वह धर्म कैसा है, उस से प्राणियों का क्या कार्य सिद्ध होता है। उसका क्या कारण है और उस से इस लोक में क्या लाभ है, यह मुझे वतलाइए ॥100-101॥

उसके इन वचनों को सुनकर योगिराज ने कहाहे भव्य, मधु, मांस और मदिरा आदि के खान-पान का बुद्धिमानों के द्वारा त्याग किया जाना और जीव-हिंसा से दूर रहना धर्म है ॥102॥

उस धर्म के करने पर उत्तम पुण्य होता है, पुण्य से महान स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है। ऐसे धर्म का जो लाभ (प्राप्ति) यहाँ पर हो. वही धर्मलाभ कहा जाता है ॥103॥

यह सुनकर वह भील उन से इस प्रकार बोला-हे मुनिराज, मैं मांस-भक्षण और मदिरा-पान आदि का निश्चित रूप से त्याग करने के लिए समर्थ नहीं हूँ ॥104॥

तब उसका अभिप्राय जानकर मुनिराज ने उस भील से कहा-क्या तू ने पहले कभी काक का मांस खाया, अथवा नहीं, यह मुझे बता ॥ 105॥

यह सुनकर वह बोला-मैं ने कभी काक-मांस नहीं खाया है । तब योगी बोले-यदि ऐसी बात है तो हे भद्र, सुख प्राप्ति के लिए तू अब उसके

खा ने के त्याग का नियम ग्रहण कर। क्योंकि नियम के बिना बुद्धिमानों को कभी पुण्य प्राप्त नहीं होता है ॥106-107॥

वह भील भी मुनिराज के यह वचन सुनकर सन्तुष्ट होकर बोला-'तब मुझे व्रत दीजिए', ऐसा कहकर और उन से काक-मांस नहीं खाने का शीघ्र व्रत लेकर और मुनि को नमस्कार कर अपने घर चला गया ॥108॥

अथानन्तर किसी समय पाप के उदय से उसके असाध्य रोग के उत्पन्न होने पर वैद्य ने उस रोग की शान्ति के लिए 'काक-मांस औषध है', ऐसा कहा ॥109॥

तब काक-मांस के खा ने के लिए स्वजनों से प्रेरित हुआ वह चतुर भील इस प्रकार बोला-अहो, कोटि भवों में बड़ी कठिनता से प्राप्त व्रत को छोड़कर जो अज्ञानी अपने प्राणों की रक्षा करते हैं, उस से धर्मात्माओं का क्या प्रयोजन साध्य है ? क्योंकि प्राण तो भव-भव में सुलभ हैं, किन्तु शुभवत पाना सुलभ नहीं है ॥110-111॥

इसलिए प्राणों का परित्याग करना उत्तम है, किन्तु व्रत-भंग करके जीवित रहना अच्छा नहीं है। व्रत की रक्षा करते हुए प्राण-त्याग से स्वर्ग प्राप्त होगा और व्रत-भंग करने से नरक प्राप्त होगा ॥112॥

( इस प्रकार कहकर उस ने औषधरूप में भी काकमांस को खाना स्वीकार नहीं किया। रोग उत्तरोत्तर बढ़ ने लगा। यह समाचार उस की ससुराल पहुँचा।) तब उसके इस नियम को सुनकर सूरवीर नाम का उसका साला शोक से पीडित होकर अपने सारस पर से चला और मार्ग में आते हए उस ने महागहन वन के मध्य में स्थित वटवृक्ष के नीचे रोती हुई किसी देवी को देखकर पूछा-हे देवते, तू कौन है, और किस कारण से रो रही है ? यह सुनकर वह बोली-हे भद्र, तुम मेरे यह वचन सुनो॥११३-११५॥

मैं वनयक्षी हूँ और इस वन में रहती हूँ। पाप के उदय से तुम्हारा खदिरसार बहनोई व्याधि से पीड़ित है । वह मरकर काक-मांस की निवृत्ति से प्राप्त पुण्य के फल से मेरा पति होगा। किन्तु हे शठ, काक-मांस खिला ने के लिए जाते हुए तुम उसे नरक में भेजकर वृथा ही घोर दुःखों का भाजन बनाना चाहते हो। इस कारण शोक से आज मैं रोदन कर रही हूँ ॥116-118॥

उस की यह बात सुनकर वह बोला-हे देवि, तुम शोक को छोड़ो, मैं उसके नियम का कभी भी भंग नहीं करूंगा ॥119॥

इस प्रकार कहकर और उसे सन्तुष्ट कर वह शीघ्र उस बीमार खदिरसार के पास आया और उसके परिणामों की परीक्षा के लिए ये वचन बोला ॥120॥

हे मित्र, रोग के दूर करने के लिए तुम्हें यह काक-मांस उपयोग में लेना चाहिए। अरे, जीवन के रहने पर यह पुण्य तो फिर भी किया जा सकता है ॥121॥

अपने साले के यह वचन सुनकर वह बुद्धिमान खदिरसार बोला-हे मित्र, ये लोक-निन्द्य, नरक देनेवाले और. धर्म के नाशक वचन कहना उचित नहीं है ॥122॥

मेरी यह अन्तिम अवस्था आ गयी है, अतः इस समय तुम धर्म के कुछ अक्षर बोलो, जिस से कि परलोक में मेरी यह आत्मा सुखी होवे ॥123॥

उसका यह निश्चय जानकर तत्पश्चात् उस ने यक्षी का सर्व कथानक और उसके व्रत का फल अतिप्रीति से खदिरसार को बतलाया ॥124॥

उसके वचन सुनकर उस सुधी खदिरसार ने धर्म और धर्म के फल में संवेग को धारण कर और सर्व प्रकार के मांसादिक को छोड़कर अणुव्रतों को ग्रहण कर लिया ॥125॥

जीवन-काल के अन्त में प्राणों को समाधि से त्यागकर वह उसके फल से सौधर्म स्वर्ग में अनेक सुखों का भोक्ता महर्धिक देव हुआ ॥126॥

तत्पश्चात् अपने नगर को जाते हुए सूरवीर ने वन के उसी स्थान पर उस यक्षी को देखकर आश्चर्ययुक्त हृदय होकर उस से स्वयं ही पूछा-हे देवि, मेरा वह बहनोई क्या अब तेरा पति हुआ है, अथवा नहीं हुआ है ? वह बोली-वह मेरा पति नहीं हुआ, किन्तु सर्व व्रतों से उपार्जित पण्य से सौधर्म नाम के प्रथम स्वर्ग में हमारी व्यन्तरों की क्षुद्र जाति से पराङमुख, उत्कृष्ट जाति का महाऋद्धिधारी देव हुआ है ॥127-129॥

वहाँ पर वह स्वर्ग की लक्ष्मी को पाकर जिनेश्वर देव की पूजा को करता हुआ देवियों के समूह से उत्पन्न हुए परम सुख को भोग रहा है ॥130॥

यक्षी की यह बात सुनकर वह बुद्धिमान सूरवीर अपने हृदय में इस प्रकार विचारने लगा-अहो, व्रत को शीघ्र प्राप्त हुए उत्तम फल को देखो ॥131॥

जिस व्रत के द्वारा परलोक में ऐसी स्वर्ग-सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, उस व्रत के बिना मनुष्य को काल की एक कला भी कभी बिताना योग्य नहीं है ॥132॥

ऐसा विचार कर और शीघ्र ही समाधिगुप्त मुनिराज के पास जाकर, उन्हें नमस्कार कर उस भव्य ने गृहस्थों के व्रतों को हर्ष के साथ ग्रहण कर लिये ॥133॥

खदिरसार का जीव वह देव दो सागरोपम काल तक वहाँ के महासुखों को भोगकर और स्वर्ग से च्युत होकर पुण्य के विपाक से कुणिक राजा और श्रीमती रानी के श्रेणिक नाम से प्रसिद्ध नृपोत्तम और भव्य जीवों की पंक्ति में- से मोक्ष जाने में अग्रसर पुत्र हआ है ॥ 134135॥

अपने पूर्वजन्म की इस कथा को सुनने से तत्त्वों में जिनेन्द्रदेव, जिनधर्म और जिनगुरु आदि में परम श्रद्धा को प्राप्त होकर उन्हें नमस्कार कर पुनः पूछा ॥136॥

हे देव, धर्मकार्य में मेरी भारी श्रद्धा है, किन्तु किस कारण से अभी तक मेरे कोई जरा-सा भी व्रत या गुण धारण करने का भाव नहीं हो रहा है ॥137॥

यह सुनकर गौतम गणधर ने कहा-हे सुधी, तीन मिथ्यात्वभाव के द्वारा आज से पूर्व ही तू ने इसी जीवन में हिंसादि पाँचों पापों के आचरणसे, बहुत आरम्भ और परिग्रहसे, अत्यन्त विषयासक्ति से और सत्य धर्म के विना बौद्धों की भकि से नरकायु को बाँध लिया है, अतः उस दोष से तेरे रंचमात्र भी व्रत का परिग्रह नहीं है। क्योंकि देवायु को बाँधनेवाले जीव ही मुनि और श्रावक के दो भेदरूप धर्म को स्वीकार करते हैं . ॥138-140॥

(अपने नरकायु का बन्ध सुनकर राजा श्रेणिक मन ही मन विचारनेलगा-अहो भगवान् , तब इस से मेरा कै से छुटकारा होगा? उसके मन की यह बात जानकर गौतम ने कहा-) संसार से उद्धार करनेवाला सम्यक्त्व है । वह दश प्रकार का है-१ आज्ञासम्यक्त्व, 2 मार्ग सम्यक्त्व, 3 उपदेशसम्यक्त्व, 4 सूत्रसम्यक्त्व, 5 बीजसम्यक्त्व, 6 संक्षेपसम्यक्त्व, 7 विस्तारसम्यक्त्व, 8 **अर्थ**ोत्पन्नसम्यक्त्व, 9 अवगाढ़सम्यक्त्व और 10 परमावगाढ़सम्यक्त्व । यह दश प्रकार का सम्यक्त्व मोक्षरूप प्रासाद में जाने के लिए प्रथम सोपान है ॥141-142॥

सर्वज्ञदेव की आज्ञा के निमित्त से जीवादि छह द्रव्यों में दृढ़ रुचि या श्रद्धा होती है, वह उत्तम आज्ञासम्यक्त्व है ॥143॥

यहाँ पर परिग्रह-रहित निश्चेल (वस्त्र-रहित दिगम्बर ) और पाणिपात्रभोजी साधु आदि के लक्षणवाले निर्ग्रन्थ धर्म को मोक्षमार्ग की जो दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह मार्ग सम्यक्त्व है ॥144॥

तिरेसठ शला का पुरुष आदि महामानवों के पुराणों को सुनने से जो आत्म-निश्चय या धर्म-श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह लोक में उपदेशनामक सम्यक्त्व है ॥145॥

आचारादि अंगों में कही तपश्चरणक्रिया के सुनने से ज्ञानियों को जो उस में रुचि उत्पन्न होती है, वह सूत्रसम्यक्त्व है ॥146॥

बीजपदों को ग्रहण करने से और उनके सूक्ष्म **अर्थ** के सुनने से भव्यजीवों के जो तत्त्वार्थ में रुचि उत्पन्न होती है, वह बीज सम्यक्त्व है ॥ 147॥

जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर ही जो बुद्धिमानों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सुखकारण संक्षेपसम्यक्त्व कहा जाता है ॥148॥

जीवादि पदार्थों के विस्तार-युक्त कथन को सुनकर प्रमाण और नयों के विस्तारद्वारा जो धर्म में निश्चय उत्पन्न होता है, वह विस्तार सम्यक्त्व है ॥149॥

द्वादशांगश्रुतरूप समुद्र का अवगाहन कर वचन-विस्तार को छोड़कर और **अर्थ**मात्र को अवधारण कर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अर्थसम्यक्त्व है ॥150॥

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के रहस्य चिन्तन से क्षीणकषायी योगी के जो दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़सम्यक्त्व है ॥151॥

तथा केवलज्ञान के द्वारा अवलोकित समस्त पदार्थों पर जो चरम सीमा को प्राप्त अत्यन्त दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है वह परमावगाढ़ नाम का

सम्यक्त्व है ॥152॥

इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने तात्त्विक दृष्टि से सम्यक्त्व के दश भेद कहे हैं। हे राजन्, उन में से कितने भेद तेरे हैं ॥153॥

जगद्-वन्द्य दर्शनविशुद्धि आदि षोड़ा कारणोंमें से कुछ या सब कारणों से त्रिजगद्-गुरु श्री वर्धमानस्वामी के समीप जगत् में आश्चर्य का कारण तीर्थकर नामकर्म यहाँ पर निश्चय से बाँधकर जीवन के अन्त में पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से रत्नप्रभापृथिवीवाले नरक में जाओगे। वहाँ पर उपार्जित कर्मो का फल भोगकर आगामी चार काल-प्रमाण **अर्थ**ात् चौरासी हजार वर्षों के बाद वहाँ से निकलकर हे भव्य, तू महापद्मनाम का धर्मतीर्थ का प्रर्वतक, सज्जनों का क्षेम-कुशलकर्ता, आगामी उत्सर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर होगा, इस में कोई सन्देह नहीं है ॥154-157॥

हे राजन् , तुम निकटभव्य हो, अब इस अल्पकालिक संसार के परिभ्रमण से मत डरो। क्योंकि इस के भीतर परिभ्रमण करनेवाले प्राणी अनेक बार पहले नरक गये हैं ॥158॥

अपनी रत्नप्रभागत नरक की प्राप्ति की बात सुनकर विषाद को प्राप्त हुए श्रेणिक ने पुनः श्री गौतमगणधर को नमस्कार करके इस प्रकार पूछा ॥159॥

हे भगवन् , इस विशाल, पुण्यधामवाले मेरे नगर में मेरे विना क्या और कोई पुरुष अधोगति (नरक) को जायेगा, या नहीं ? श्रेणिक की बात सुनकर उसके अनुग्रह करने के लिए श्रीगौतम ने कहा-हे धीमन् , तेरे शोक को दूर करनेवाले मेरे यथार्थ वचन सुनो ॥160-161॥

इसी राजगृहनगर में भवस्थिति के वश से पूर्वभव में मनुष्यायु को बाँधकर नीचगोत्र के उदय से अत्यन्त नीच कुल में उत्पन्न हुआ कालशौकरिक नाम का कसाई रहता है । अब उसे सात भव-सम्बन्धी जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ है, अतः वह विचारनेलगा है कि यदि पुण्य-पाप के फर से जीवों का सम्बन्ध होता, तो मैं ने पुण्य के बिना यह मनुष्य जन्म कै से पा लिया? इसलिए न पुण्य है और न पाप है। किन्तु इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ वैषयिक सुख ही कल्याण-कारक है ॥162-164॥

ऐसा मानकर वह पापात्मा निःशंक होकर हिंसादि पाँचों पापों को और मांसादि के आहार को निश्चयतः करता है । इन पापों के फल से तथा बहुत आरम्भ और परिग्रह से उस ने नरकायु को बाँध लिया है । जीवन के अन्त में वह उक्त पापों के उदय से अन्तिम (सातवें ) नरक को जायेगा ॥165-166॥

तथा इसी नगर में शुभानामवाली एक ब्राह्मणपुत्री है, वह राग से अन्धी और मद से विह्वल है। तीव्र स्त्रीवेद के उदय से शील-रहित है, **अर्थ**ात् व्यभिचारिणी है, और विवेक-रहित है । वह गुणी, शीलवान् और सदाचारी पुरुषों को देखकर और सुनकर अत्यन्त कुपित होती है। उस ने भी इन्द्रिय विषय-सेवन की अतीव लम्पटता से नरकायु बाँध ली है। वह भी जीवन के अन्त में रौद्रध्यान से मरकर पाप के फल से निन्द्य और .सर्वदुःखों की खानिवाली तमःप्रभा नाम की छठी नरकभूमि जायेगी॥१६७-१६९॥

(यह सुनकर राजा श्रेणिक कुछ आश्वस्त हुए।) जब गौतमस्वामी नरक जानेवाले उक्त दोनों की बात कह चुके, तब अभयकुमार ने गणधरदेव को नमस्कार करके अपने पूर्वभवों को पूछा ॥170॥

उसके अनुग्रह की बुद्धि से गौतमस्वामी ने उस की भवावली को इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया-हे भद्र, इस भरत क्षेत्र में सुन्दरनाम का एक ब्राह्मणपुत्र था। वह तीन मूढ़ताओं से युक्त मिथ्यादृष्टि था। वह कुबुद्धि वेदों के अभ्यास के लिए एकबार जब अहंदास जैनी के साथ मार्ग में जा रहा था तब किसी स्थान पर पीपल के वृक्ष के नीचे रखी हुई पत्थरों की राशि को देखकर 'यह मेरा देव है' ऐसा कहकर और उस वृक्ष की तीन प्रदक्षिणा देकर उस ने उसे नमस्कार किया ॥171-173॥

उस की यह चेष्टा देखकर उसे समझा ने के लिए अर्हद्दास ने हँसकर और पैर से उसे मर्दन कर उसे तोड़ दिया ॥174। वहाँ से आगे जाने पर कपिरोमा ( करेंच ) नाम की वेलि के समूह को देखकर उस अहंदास श्रावक ने 'यह मेरा देव है ऐसा कहकर मायाचार से उसे नमस्कार किया ॥175। यह देखकर उस सुन्दर ब्राह्मण-पुत्र ने पहले की ईर्ष्या से उसे दोनों हाथों से उखाड़कर और उस की फलियों को मसलकर सारे शरीर में रगड़ डाला। उस की रगड़ से उसके सारे शरीर में असह्य वेदना हुई । उस से डरकर वह अर्हद्दास से बोला-अहो, तेरा देव सच्चा है । तब वह जैनी हँसकर उसके सम्बोधन के लिए बोला ॥176-177॥

अरे भद्र, ये वृक्ष पाप के उदय से यहाँ एकेन्द्रिय वनस्पति की पर्याय को प्राप्त हैं। ये किसी का निग्रह या अनुग्रह करने में असमर्थ हैं, ये कभी देव नहीं कहे जा सकते ॥178॥

किन्तु सच्चे देव तो तीर्थकर ही हैं, जो कि सांसारिक सुख और मुक्ति को देनेवाले हैं, तीन लोक के ज्ञान से युक्त हैं। वे ही पूजनीय देव हैं। उनके सिवा इस लोक में और कोई देव नहीं है ॥179॥

इत्यादि वचनों से अर्हदास ने उस ब्राह्मण-पुत्र की देव मूढ़ता को दूर किया। तत्पश्चात् क्रम से चलते हुए वे दोनों गंगा नदी के किनारे आ पहुँचे ॥180॥

तब उस मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणपुत्र ने 'यह तीर्थजल निश्चय से पवित्र है, शुद्धि का कारण है' यह कहकर उसके जल से स्नान कर उस की वन्दना की ॥181॥

वहाँ पर उस श्रावकोत्तम अर्हद्दास ने भोजन किया और खाने का इच्छुक देखकर उस ब्राह्मणपुत्र को अपने खा ने से बचे हुए जूठे अन्न को गंगा के जल से मिश्रित कर उसे खा ने के लिए दिया । यह देखकर वह बोला कि इन जूठे अन्न को मैं कै से खा सकता हूँ ? तब उस को सन्मार्ग प्राप्त करा ने के लिए वह जैनी बोला-हे मित्र, गंगाजल से मिश्रित भी यह जूठा अन्न यदि निन्दनीय है तो गधे आदि से जूठा किया गया जल कै से शुद्ध और शुद्धि को देनेवाला हो सकता है ॥182-184॥

अतः न जल पवित्र है, न जलस्थान तीर्थ है और न उस में किया गया स्नान मनुष्यों की शुद्धि कर सकता है। किन्तु जल में स्नान करने से अनेक प्राणियों का नाश होता है, अतः वह केवल पाप का कारण ही है ॥185॥

यह शरीर स्वभाव से अशुचि का भण्डार है, किन्तु इस के भीतर विराजमान आत्मा शुद्ध है, निर्मल है। स्नान से पवित्रता नहीं आती है, इस कारण स्नान करना व्यर्थ ही पापों का उपार्जन करनेवाला है ॥186॥

मिथ्यात्व आदि भावमल से मलिन जीव यदि स्नान करने से शुद्ध होते होवे, तब तो नित्य ही जल में स्नान करनेवाले मगर-मच्छादि वन्दन करने के योग्य हैं, दयायुक्त मनुष्य नहीं ॥187। इसलिए हे भद्र, यह गंगा तीर्थ नहीं है, किन्तु अर्हन्तदेव ही तीर्थ हैं और उनका वचनरूप अमृत जल ही जीवों की शुद्धि करनेवाला और अन्तरंग मल का विनाशक है ॥188॥

इस प्रकार तीर्थादि के सूचक सम्बोधनात्मक वचनों से अहंद्दास ने हठात् उस की तीर्थमूढ़ता दूर की ॥189॥

वहीं कुछ दूर पर गंगा के किनारे ही पंचाग्नि के मध्य में बैठे किसी तापस को देखकर वह विप्रपुत्र बोला-देखो, मेरे मत में ऐसे-ऐ से बहुत-से तपस्वी हैं॥१९०॥

तब उस अहंदास ने उसके गर्व को दूर करने के लिए कौलिकशास्त्र के तपसम्बन्धी अनेक वचनों के द्वारा उस तापस के साथ सम्भाषण किया और अपनी प्रबल युक्तियों से उसे मद-रहित करके उस जैनी ने उस ब्राह्मणपुत्र से स्पष्ट कहा-हे भद्र, ये कुतपस्वी क्या सच्चा तप करने के लिए समर्थ हैं ? **अर्थ**ात् नहीं हैं । किन्तु इस भूतल पर सर्वज्ञदेव ही सच्चे महान् देव हैं, परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चे साधु हैं और वे ही वन्दनीय हैं। मनुष्य को दयामयी धर्म ही सेवन करना चाहिए ॥191-193॥

जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही सत्य है और वही विश्व की सर्व वस्तुओं का दर्शक है, जिनशासन ही वन्दन करने के योग्य है और हिंसादि पापों से रहित निर्दोष तप ही प्राणियों को शरण देनेवाला है ॥194॥

इसलिए हे मित्र, कुमार्ग को शत्रु के समान छोड़कर इन सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु और दयामयी धर्म का निश्चय करके सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो। यह सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और सर्व सुखों की खानि है ॥195॥

इस प्रकार उस अहंहास के सम्बोधक वचनों को सुनकर उस सुन्दर विप्रपुत्र ने हर्ष के साथ मिथ्यादर्शन को छोड़कर काललब्धि के प्रभाव से सत्यधर्म को ग्रहण कर लिया ॥196॥

तत्पश्चात् मित्रता को प्राप्त वे दोनों द्विज गहन अटवी के मध्य में जाते हुए पापोदय से दिग्मूढ़ता को प्राप्त हो गन्तव्य दिशा भूल गये ॥ 197॥

जीवन के उपाय से रहित निर्जन वन में एकमात्र जिनेन्द्रदेव और जिनधर्म को ही शरण जानकर उन दोनों उत्तम ज्ञानियों ने आहार-शरीर आदि का त्याग कर और उत्साह को धारण कर मुक्ति की सिद्धि के लिए संन्यास को ग्रहण कर लिया ॥198-199॥

तदनन्तर अति धैर्य के साथ क्षुधा तृषादि परीषहों को सहनकर और शुभध्यान से समाधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर वे दोनों ब्राह्मण इस व्रताचरण से उपार्जित पुण्य के द्वारा सौधर्मस्वर्ग में भारी ऋद्धि के धारक अनेक सुरों से पूजित एवं दिव्य सुखों के भोक्ता देव हुए ॥ 200-201॥

वहाँ पर पुण्योदय से देव-सम्बन्धी सुख को चिरकाल तक भोगकर वह सुन्दर ब्राह्मण का जीववाला देव वहाँ से चय कर यहाँ पर श्रेणिक राजा के ऐसे चतुर महाप्राज्ञ अभयकुमार नाम के पुत्र हुए हो । और शीघ्र ही तप से कर्मो का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त होओगे ॥ 202-203॥

अभयकुमार की इस पूर्वभवसम्बन्धी उत्तम कथा को सुनकर वैराग्य से परिपूर्ण हुए कितने ही लोगों ने तो संयम को ग्रहण किया और कितने ही मनुष्यों ने अपने हृदय में श्रावक धर्म और सम्यग्दर्शन को धारण किया ॥204॥

इस प्रकार गौतमस्वामी से धर्म और श्रुतरूप अमृत को पीकर अभयकुमार पुत्र के साथ श्रेणिक राजा भक्तिपूर्वक श्रीवीरजिन को और गौतम गणधर को नमस्कार कर अपने राजगृह नगर को चला गया ॥205॥

__ अथानन्तर वीर जिनेन्द्र के ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे। दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे सुधर्मा, पाँचवे मौर्य, छठे मौंड्य, ( मण्डिक ) सातवें पुत्र (?), आठवें मैत्रेय, नवें अकम्पन, दशवें अन्धवेल, और ग्यारहवें प्रभास गणधर हुए। ये वीर भगवान के सभी ग्यारह गणधर देव-पूजित और चार ज्ञान के धारक थे ॥206-207॥

भगवान महावीर के समवशरण में चतुर्दश पूर्व के **अर्थ** को धारण करनेवाले तीन सौ थे। नौ हजार नौ सौ चारित्र आचरण करने में उद्यत शिक्षक मुनि थे, तेरह सौ मुनि अवधिज्ञान से भूषित थे। उनके ही समान ज्ञानवाले सात सौ केवलज्ञानी थे । नौ सौ मुनि विक्रिया ऋद्धि से युक्त थे। पाँच सौ पूज्य मनःपर्ययज्ञानी थे, चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार ये सब मिलकर चौदह हजार साधु श्रीवर्धमानस्वामी के शिष्य परिवार में थे और ये सब रत्नत्रय से विभूषित थे ॥208-212॥

चन्दन आदिक छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। वे सब उत्तम तप और मूलगुणों से युक्त थीं और भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करती थीं ॥213॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और गहस्थव्रतों से संयक्त एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। ये सभी जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों को पूजते थे ॥214॥

असंख्यात देव और देवियाँ भगवान् के पादारविन्दों की दिव्य स्तुति, नमस्कार, पूजा और करोड़ों प्रकार के उत्सवों से सेवा करते थे ॥ 215॥

सिंह-सर्पादि शान्तचित्त, व्रत-युक्त, भक्तिमान और भवभीरु संख्यात तिर्थंचों ने वीर भगवान् का आश्रय लिया था.॥२१६॥

भक्तिभार से व्याप्त इन बारह गणों से वेष्टित जगत् के नाथ श्रीवर्धमान तीर्थंकर देव तत्पश्चात् धीरे-धीरे विहार करते, नाना देश-पुर-ग्राम वासी जनों को सम्बोधते, धर्मोपदेश से मोक्षमार्ग में स्थिर करते हुए तथा अपनी वचन-किरणों से अज्ञानान्धकार का नाश कर और उत्तम मार्ग का प्रकाश कर छह दिन कम तीस वर्ष तक विहार करके क्रम से फल-पुष्पादि शोभित चम्पानगरी के उद्यान में आये ॥217-220॥

वहाँ पर दिव्यध्वनि को और योग को रोककर निष्क्रिय हो उन्हों ने मुक्ति-प्राप्ति के लिए अघाति कमौ का हनन करनेवाला प्रतिमायोग ग्रहण कर लिया ॥22॥। तत्पश्चात् उन्हों ने देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात नामकर्म, पाँच बन्धन, तीन अंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगति, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश-कीर्ति, असातावेदनीय, नीचगोत्र और निर्माण नामकर्म इन बहत्तर संख्यावाली मुक्ति की बाधक प्रकृतियों को जिनोत्तम वर्धमान स्वामी ने योगशक्ति से अयोगिगुणस्थान में चढ़कर चौथे महाशुक्लध्यानरूप खड्ग से अपने शत्रुओं को सुभट के समान उस गुणस्थान के द्विचरम समय में एक साथ क्षय कर दिया ॥222228॥

तत्पश्चात् आदेयनाम, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, पर्याप्तिनाम, त्रस, बादरनाम, सुभग, यशःकीर्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और तीर्थकरनामकमे इन तेरह प्रकृतियों को वर्धमानतीर्थश्वर ने उसी शुक्ल ध्यान के द्वारा अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय कर दिया ॥229-231॥

इस प्रकार शुभ कार्तिक मास की अमावस्या तिथि के दिन स्वाति नक्षत्र में श्रेष्ठ प्रभात समय समस्त कर्मशत्रुओं के तीनों शरीरों का विनाश कर उस निर्मल आत्मा ने ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से ऊपर जाकर निर्वाण ( मोक्ष ) को प्राप्त किया ॥232-233॥

वहाँ पर क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप सिद्धपना को प्राप्त कर वे अमूर्त वर्धमान सिद्धपरमेष्ठी उपमा-रहित, विषयातीत, परद्रव्यों के सम्बन्ध से रहित, दुःखों से रहित, बाधाओं से रहित, क्रम से रहित, नित्य, स्वात्मीय, परम शुभ अनन्त सुख को भोग रहे हैं ॥

234-235॥

संसार में नरपति, विद्याधरपति, देवपति, आर्य और म्लेच्छ मानव और अन्य भी तीन लोक के जीव जिस उत्तम सुख को वर्तमान में भोग रहे हैं, भूतकाल में उन्हों ने भोगा है और भविष्यकाल में वे भोगेंगे, वह सब यदि एकत्रित कर दिया जाये, तो उस से भी अनन्तगुणा वचन-अगोचर सुख मोक्ष में एक समय के भीतर भोगते हैं। ऐसा सर्वोत्कृष्ट सुख जगद्-वन्द्य वीर सिद्धप्रभु मोक्ष में निरन्तर अनन्त कालतक भोगते रहेंगे ॥236-238॥

अथानन्तर अपने-अपने पृथक् चिह्नों से भगवान् का निर्वाण जानकर समस्त चतुनिकाय के देवेन्द्रों ने अपने-अपने देव-परिवार के साथ परम विभूति से गीत-नृत्यमहोत्सव करते हुए आत्मसिद्धयर्थ अन्तिम निर्वाणकल्याणक की पूजा करने के लिए वहाँ पर आये ॥239-240॥

निर्वाण का साधक प्रभु का यह शरीर पवित्र है, ऐसा मानकर उन देवों ने चमकते हुए मणियोंवाली पालकी में बड़ी भारी विभूति के साथ उसे विराजमान किया ॥241॥

पुनः तीन जगत् में सारभूत सुगन्धी द्रव्य समूह से उस शरीर की पूजा कर भक्ति से रत्नमुकुटधारी मस्तक से उन्हों ने उसे नमस्कार किया ॥242॥

तत्पश्चात् अग्निकुमार देवेन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि से वह शरीर गगनाङ्गण को सुगन्धित करता हुआ पर्यायान्तर ( भस्मभाव ) को प्राप्त हुआ ॥243॥

___ तब इन्द्रादिक देवों ने 'यह हमारे भी शीघ्र निर्वाण का साधक हो इस प्रकार कहकर उस पवित्र भस्म को हाथ में ग्रहण करके पहले मस्तकपर, फिर नेत्रोंमें, फिर बाहुओंमें, फिर हृदय पर और फिर सर्वांगों में भक्तिपूर्वक मोक्षगति की प्रशंसा करते हुए लगाया ॥244-245॥

वहीं पर उस उत्तम पवित्र भमितल को उत्कृष्ट भक्ति से पजकर आगे धर्म की प्रवृत्ति के लिए उसे निर्वाणक्षेत्र संकल्पित किया ॥246॥

पुनः हर्ष से सन्तुष्ट हुए उन देवों ने एकत्रित होकर अपनी देवियों के साथ परम उत्सव पूर्वक आनन्द नाटक किया ॥247॥

तत्पश्चात् उत्तम शुक्लध्यान से घातिकर्मशत्रुओं के घात ने से उन श्री गौतम गणधर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥248॥

वहाँ पर जाकर उन उत्तम देवेन्द्रों ने सर्व गण के साथ उनके योग्य भारी विभूति से इन्द्रभूति केवली के केवलज्ञान की पूजा की ॥249॥

इस प्रकार उत्तम चारित्र के योग से जो देव और मनुष्यगति में सारभूत महासुख को भोगकर और तीर्थ के नाथ होकर, नरपति; खगपति और सुरपतियों से पूजित हो और तत्पश्चात् सर्व कर्मो का नाश कर शिव-सदन को प्राप्त हुए, उन वीरनाथ की मैं सकलकीर्ति स्तुति करता हूँ ॥250॥

वीरजिन वीरजनों से पूजित हैं, गुणनिधि हैं, वीरजिन को वीरजन ही आश्रित होते हैं, वीर के द्वारा ही इस लोक में शिवसुख प्राप्त किया जाता है, अतः वीर के लिए मेरा नित्य नमस्कार है। वीर से परे दूसरा कोई भी पापकर्मो को जीत ने में समर्थ नहीं है, वीर का वीर्य परम श्रेष्ठ है, मैं वीर जिन में अपना मन लगाता हूँ, हे वीर, शत्रु को जीत ने में मुझे वीर करो ॥251॥

अन्तिम मंगल-कामना मैं ने चरित्र की रचना के बहा ने जो वीरप्रभु को मस्तक से नमस्कार किया है, भक्तिपूर्वक अपनी वाणी के द्वारा शक्ति के अनुसार उनके गुणों का वर्णन कर उन की प्रशंसा और स्तुति की है एवं शुभ भावों से बार-बार उन की पूजा की है, ऐसे वे श्रीवीर जिनेन्द्र मुझ लोभी को मुक्ति को प्राप्त करानेवाली और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों से उत्पन्न होनेवाली सकल सामग्री को शीघ्र देवें ॥252॥

जिस वीरप्रभु ने बालकाल (कुमारावस्था) में भी मुक्ति को प्राप्ति के लिए रत्नत्रयजनित उत्तम संयम को ग्रहण किया, जिन्हों ने उत्तम शुक्लध्यानरूपी महान् खड्ग के द्वारा अति प्रचण्ड सर्व कर्मशत्रुओं को विनष्ट किया, वे वीर प्रभु मुझे इस लोक और परलोक में मुक्ति-दाता संयम और रत्नत्रय को देवें, तथा इन्द्रियरूपी चोरों के साथ मेरे सब कर्मशत्रुओं का मुक्ति पा ने के लिए शीघ्र विनाश करें ॥253॥

जिन्हों ने तीन लोक से स्तुति किये गये अनन्त निर्मल केवलज्ञानादि उत्तम गुण प्राप्त किये हैं, वे वीर प्रभु उन सब अपने गुणों को मुझे प्रदान करें। जिन वीर जिनेन्द्र ने मुक्तिरूपी कुमारी को विधिपूर्वक स्वीकार किया है, वे प्रभु वह अनन्त निर्मल मुक्तिलक्ष्मी सुख प्राप्ति के लिए मुझे देवें॥२५४॥

मुझ सकलकीर्ति ने यह ग्रन्थ कीति, पूजा के लाभ या किसी प्रकार के लोभ से नहीं रचा है और न कविप ने के अभिमान से ही रचा है,

किन्तु इस की रचना परमार्थ बुद्धि से अपने और अन्य के उपकार के लिए तथा अपने कर्मो के विनाश के लिए की है ॥255॥

वीर जिनेन्द्र के कोटि-कोटि गुणों से निबद्ध यह पावन श्रेष्ठ चरित्र, जि से सकलकीर्ति गणी ने रचा है, उसे दोषों से रहित सुज्ञानी जन शुद्ध करें ॥256॥

इस शुभ ग्रन्थ में मेरे द्वारा प्रमादसे, अथवा अज्ञान से यदि कहीं कुछ अक्षरादि से रहित, या सन्धि-मात्रा से रहित अशुद्ध या असम्बद्ध लिखा गया हो, तो श्रुतवेत्ता ज्ञानी जन इस उत्तम चरित्र के जिन वाणी से उद्धार करने में मुझ तुच्छ बुद्धि का भारी साहस देखकर आप लोग मुझे क्षमा करें ॥257॥

जो निपुण बुद्धिवाले लोग इस शास्त्र को पढ़ते हैं और गुणियों के गुणानुराग से दूसरों को पढ़ाते हैं वे अपने विषय-कषायादि में विरतिभाव को प्राप्त होकर केवलज्ञानरूपी ज्ञानतीर्थ को शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥258॥

जो भव्य श्रावकजन इस पवित्र ग्रन्थ को लिखते हैं और भूमण्डल पर प्रसार करने के लिए दूसरों से लिखाते हैं, वे अपने इस ज्ञानदान के द्वारा विश्व में उत्पन्न होनेवाले सुखों को प्राप्त कर निश्चय से केवलज्ञानी होते हैं ॥259॥

पर के उपकारक, सांसारिक लक्ष्मी, स्वर्गीय भोग और मुक्ति के प्रदाता, सभी तीर्थकर, अन्त-रहित उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त, उपमा से रहित और तीन लोक के चूड़ामणि, सभी सिद्ध भगवन्त, पंच आचारों में परायण, सभी आचार्य, उत्तम श्रुतवेत्ता, सभी उपाध्याय और आत्म-साधन के उद्योग से युक्त, सभी साधुजन आप लोगों का शुभ करनेवाला.मंगल करें ॥260॥

यह वीर जिनेन्द्रदेव का चरित गुणों का समुद्र है, धर्मरत्न आदि की खानि है, भव्यों को शरण देनेवाला है, इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य है, स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण है, एवं परम पवित्र है, वह काल के अन्त-पर्यन्त इस आर्यखण्ड में सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त हो ॥26॥

यह चरित्र सुन्दर **अर्थ** से संयुक्त है, धर्म का बीज है, इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति का उत्पादक है, सत्यार्थ गुणों से युक्त है, निर्मल है, राग के नाश का कारण है, कर्मों का विनाशक है, ज्ञान का मूल है, निर्मल मुनिजनों के गुणों से पवित्र है, और अतुल गुणों से गहन है ॥262॥

जिस वीर प्रभु ने स्वर्ग और शिवगति का देनेवाला, दोषों से रहित, गुणों का समुद्र, हिंसादि से दूरवर्ती परम अहिंसामयी धर्म के सारवाला यह धर्म गृहस्थ और मुनि के रूप से दो प्रकार का कहा है, जो आज भी गृहस्थ और मुनिजनों के द्वारा नित्य प्रवर्तमान है और आगे भी नियम से प्रवर्तमान रहेगा, वह परम सुख का करनेवाला जैनधर्म जब तक इस काल की अवधि हो, तब तक सदा प्रवर्तमान रहे । इस धर्म के उपदेष्टा, एवं मेरे द्वारा वन्दित और संस्तुत वे जिनेन्द्र देव मेरे संसार को हरें ॥263॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या, जिन वीरनाथ का मैं ने आश्रय लिया है, और इस ग्रन्थ में मैं ने जिन की स्तुति की है, वे कृपाकर शीघ्र ही अपने अद्भुत गुणों को मुक्ति और आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए मुझे देवें ॥264॥

श्री सन्मति के इस चरित्र के यत्न से गणना किये गये सर्वश्लोक तीन हजार पैंतीस हैं। **अर्थ**ात् मूल संस्कृतचरित्रं तीन हजार पैंतीस (3035) श्लोक प्रमाण है । इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीति-विरचित इस श्रीवीरवर्धमानचरित में श्रेणिक राजा, और अभयकुमार की भवावली तथा भगवान् के निर्वाण-गमन का वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥19॥